॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमद्देवसेनाचार्यविरचितः

आराधनासारः

संस्कृतटीकाकारः

पण्डिताचार्य श्रीरत्नकीर्तिदेवः

हिन्दीभाषानुवादिका

गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

प्रकाशक

श्री दि. जैन मध्यलोक शोध संस्थान, सम्मेदशिखर

शिखरजी ८२५३२९

गिरीडीह - झारखण्ड

○ ग्रन्थ	:	**आराधनासार:**
○ ग्रन्थकार	:	श्रीमद् देवसेनाचार्य
○ संस्कृत टीकाकार	:	पंडिताचार्य रत्नकीर्तिदेव
○ हिन्दी भाषानुवादिका	:	गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी
○ प्रबन्ध सम्पादक	:	ब्र.ब्र. (डॉ.) प्रमिला जैन, संघस्था
○ सम्पादक	:	डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
○ प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान	:	(१) श्री दि. जैन मध्यलोक शोध संस्थान, सम्मेदशिखर शिखरजी (गिरीडीह-झारखण्ड) (२) श्री १००८ शान्तिनाथ दिगम्बर जैन चैत्यालय द्वारा - हीरालाल भागचन्द, नजदीक पुराना पोस्ट ऑफिस हनुमानगढ़ टाउन, (राज.) पिन ३३५५१३
○ प्रकाशन-सहयोगी	:	श्री हीरालाल जिनेन्द्रकुमार भागचन्द बड़जात्या नागौर निवासी, प्रवासी-हनुमानगढ़ टाउन (राज.) फोन : ०१५५२-२२२४१७, २२२९२७
○ संस्करण	:	प्रथम, १००० प्रतियाँ
○ प्रकाशन तिथि	:	दिसम्बर, २००२
○ संकल्पना	:	निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर, फोन : २४४०५७८
○ मुद्रक	:	हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर, फोन : २४३३३४५

卐 सम्पादकीय 卐

आचार्य देवसेन द्वारा विरचित **आराधनासार** प्राकृत गाथाबद्ध एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें कुल ११५ गाथाएँ हैं जिनमें चतुर्विध आराधना – दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना का सार वर्णित है। यह आराधनासार व्यवहार और परमार्थ रूप से दो प्रकार का है -

आराहणाइसारो तव दंसणणाणचरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो ॥२॥

आचार्य देवसेन ने नयापेक्षा चतुर्विध आराधनाओं का वर्णन करने के बाद विस्तार से आराधक-समाधि (सल्लेखना) साधक का वर्णन किया है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशकार ने कोश के प्रथम भाग में 'आराधनासार' के परिचय में आचार्य देवसेन का समय ईस्वी सन् ८९३-९४३ दर्शाया है। (पृष्ठ २८५)

तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा – भाग द्वितीय में डॉ. **नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य** ने विस्तृत ऊहापोह के बाद आचार्य देवसेन की सरस्वती-आराधना का काल वि. सं. ९९०
(ई. सन् ९३३) से वि.सं. १०१२ (ई. सन् ९५५) स्थिर किया है। (पृष्ठ ३६९)

आचार्य देवसेन के कालनिर्णय हेतु अभी विशेष खोज अपेक्षित है।

आराधनासार पर पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेव द्वारा विरचित सरल संस्कृत टीका और पण्डित आशाधरजी विरचित संस्कृत टिप्पण उपलब्ध हैं। ये टिप्पण बहुत ही संक्षिप्त हैं और श्री विनयचन्द्र के लिए लिखे गये हैं। इसका अन्तिम पुष्पिका वाक्य है-

श्रीविनयचन्द्रार्थमित्याशाधर-विरचिताराधनासारविवृतिः समाप्ता।

टिप्पण के प्रारम्भ में पण्डितप्रवर का मंगलाचरण इस प्रकार है-

प्रणम्य परमात्मानं स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्।
आराधनासारगूढ - पदार्थान्कथयाम्यहम् ॥

प्रस्तुतग्रन्थ सर्वप्रथम पं. रत्नकीर्तिदेव की संस्कृत टीका सहित **माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई** से प्रकाशित हुआ था। उसके बाद **पं. गजाधरलालजी** के हिन्दी अनुवाद के साथ **जैन**

सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता और **श्रीमहावीरजी** से इसके संस्करण छपे थे। अनन्तर सन् १९७१ में आचार्य शिवसागरजी म. और आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज की प्रेरणा से **पं. पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य, सागर** ने पूर्व प्रकाशित प्रतियों व भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से प्राप्त प्रतियों के आधार पर इसे सम्पादित कर संस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद सहित व परिशिष्ट में पं. आशाधरजी कृत संस्कृत टिप्पण सहित **श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, श्री शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी** से प्रकाशित कराया था।

अब ये सभी प्रकाशित ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। ग्रन्थ नवीन प्रकाशित होकर उपलब्ध हो सके अत: पूज्य **गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी** ने इसकी नवीन हिन्दी टीका की है। प्रकृत संस्करण में प्रत्येक पृष्ठ के अर्ध भाग में मूल प्राकृत गाथा, उसकी संस्कृत छाया व संस्कृत टीका मुद्रित है फिर उसी पृष्ठ के शेष अर्धभाग में ऊर्ध्व प्रकाशित प्राकृत-संस्कृत अंश का हिन्दी अनुवाद है। संस्कृत टीका खण्डान्वय पद्धति से लिखी गई है। उसका शब्दश: अनुवाद हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं होता अत: उसके आश्रय से हिन्दी टीका लिखी गई है।

संस्कृत टीकाकार **पं. रत्नकीर्तिदेव** बहुज्ञ हैं, उन्होंने प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों के अनेक उद्धरण दिये हैं, उन सबका अर्थ हिन्दी टीका में दिया गया है। यथासम्भव उद्धरणों के स्रोतों का उल्लेख भी किया गया है। आचार्य पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ से टीकाकार ने कितना ही विषय लिया है। पूज्य माताजी ने आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण विषय को स्पष्ट किया है और कथाओं को भी विस्तृत रूप दिया है। प्रारम्भ में पूज्य माताजी ने चतुर्विध आराधना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना-समाधिमरण का विस्तृत वर्णन 'भगवती आराधना' के अधिकारों के अनुसार किया है। ब्र. डॉ. प्रमिला बहिन ने ग्रन्थकार देवसेन, संस्कृत टीकाकार पं. रत्नकीर्तिदेव और प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पूज्य माताजी का संक्षिप्त परिचय भी उन्हीं की कलम से है। ग्रन्थ के अन्त में मूल गाथा सूची व संस्कृत टीका में उद्धृत गाथा व श्लोक सूची दी गई है।

पूज्य माताजी के वैदुष्य एवं परिश्रम की जितनी सराहना की जाए वह कम है।आयु के ७० से भी अधिक वसन्त पार कर लेने पर भी आप में कार्यनिष्पादन की अद्भुत क्षमता है। आपकी लेखनी सतत गतिशील रहती है। अभी-अभी आपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर पूर्ण किया है, इससे पूर्व मुनीन्द्र रविचन्द्र विरचित संस्कृत ग्रन्थ 'आराधनासमुच्चय' की विस्तृत हिन्दी टीका लिखी है। दोनों कृतियाँ सम्पादन-प्रकाशन की प्रक्रिया में हैं। अब आप रत्नकरण्डक श्रावकाचार की हिन्दी व्याख्या लिखने में संलग्न हैं।

आराधनासार के प्रस्तुत संस्करण के संयोजन-सम्पादन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डालकर पूज्य आर्यिकाश्री ने मुझ पर जो अनुग्रह किया है एतदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मैं पूज्य माताजी के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

संघस्था **डॉ. प्रमिला बहिन** के प्रति भी उनके अनन्य सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सहयोग प्रदान करने वाले **श्री हीरालालजी, जिनेन्द्रकुमारजी, भागचन्दजी बड़जात्या नागौर निवासी, प्रवासी हनुमानगढ़ टाउन** (राज.) को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए निधि कम्प्यूटर्स के **श्री क्षेमंकर पाटनी** व उनके सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। त्वरित मुद्रण के लिए हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस, जोधपुर को साधुवाद देता हूँ।

मेरे प्रमाद व अज्ञान से भूलें रह जाना स्वाभाविक है। पाठकों से सविनय अनुरोध है कि वे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्दभाव से मुझे उन भूलों से अवगत कराने की अनुकम्पा करें।

विनीत
चेतनप्रकाश पाटनी

दीपमालिका
४ नवम्बर, २००२

卐 卐 卐

卐 चतुर्विध आराधना 卐

अनादि काल से यह संसारी प्राणी मिथ्यादर्शन और कषाय के वशीभूत हो विषय-वासनाओं में फँसकर शारीरिक, मानसिक आदि अनेक दुःख भोग रहा है। अनन्त काल तो इस जीव ने एकेन्द्रिय पर्याय धारण कर निगोद में व्यतीत किया, जहाँ पर एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण किया। ४८ मिनट में से कुछ कम काल में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्मा और इतनी ही बार मरण किया। यदि किसी कारणवश कर्मों का कुछ लघु विपाक हुआ तो निगोद से निकल कर दो, तीन, चार इन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय पद प्राप्त किया तो भी ज्ञान के बिना (मन के बिना) हित और अहित, हेय और उपादेय के विचार से शून्य होने से आत्महित के विचारविमर्श की संभावना से रहित रहा। किसी पुण्य के उदय से सैनी पंचेन्द्रिय भी हुआ तो भी मिथ्यादर्शन और विषय वासना के वश में होकर आत्मतत्त्व के जानने की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई।

सांसारिक भोगों की वाञ्छा से मुनिव्रत धारण कर, घोर उपसर्गों को सहन कर ग्रैवेयकों में गया। स्वर्गीय सुखों का अनुभव भी किया, परन्तु आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना, शुद्धात्मा का भान, ज्ञान नहीं हुआ अतः पुनः वहाँ से च्युत होकर अनेक मानव-तिर्यञ्च योनियों में भ्रमण कर त्रस पर्यायका काल पूर्ण हो जाने से पुनःनिगोद में चला गया। इस प्रकार इस जीव ने इस संसार में भ्रमण कर अनन्त दुःखों को सहन किया है।

इस संसार में परिभ्रमण करने वाले अनन्त जीव तो रत्नत्रय रूपी महा-औषधि सेवनकर अजर अमर रूप परम पद को प्राप्त कर सुखी हो गये। परन्तु द्रव्यार्थिक नय से ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा के अभाव में संसार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच अनादि काल से पिसते चले आ रहे हैं। शारीरिक, मानसिक दुःखों के पात्र बने हुए हैं। उन दुःखों के नाश करने का एक ही उपाय है कि जिन्होंने मोक्षमार्ग को स्वीकार कर स्वयं परम पद प्राप्त किया है और अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा हमें जो मोक्षमार्ग बताया है हम उस पर चलने का प्रयत्न करें। उस मार्ग को स्वीकार करें। अन्यथा हम स्वात्मोपलब्धि रूप स्वकीय शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। क्योंकि केवल शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से वा "मैं ज्ञायक स्वभावी सिद्ध समान त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ; मेरा स्वरूप सिद्ध के समान है; अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का धनी हूँ" इस प्रकार के उद्गारों से हम सिद्ध वा शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमें करना पड़ेगा- पुरुषार्थ, प्रयत्न। वह पुरुषार्थ है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना कर के संसारी भव्यात्मा कर्म-कालिमा

से रहित होकर शुद्ध बनता है। यद्यपि आराधना चार हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप, परन्तु तप आराधना सम्यक्चारित्र में गर्भित है। अथवा तप के द्वारा चारित्र में निर्मलता आती है, चारित्र वृद्धिंगत होता है अत: तप आराधना का पृथक् कथन किया है।

इन चार प्रकार की आराधना का साध्य है- शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति। उसको प्राप्त करने के उपाय रूप आराधनाओं का कथन **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** में किया है।

यह संसारी प्राणी तीव्र विषयवासना की तृष्णा से संतप्त होकर दु:खी हो रहा है। उन तृष्णाओं के संताप को दूर करने के लिए ये चार आराधना ही समर्थ हैं।

शुद्धात्मतत्त्व की रुचि के प्रतिबन्धक दर्शनमोहनीय कर्म का विनाश सम्यग्दर्शन की आराधना से होता है और शुद्धात्मानुभूति लक्षण वीतराग चारित्र के प्रतिबन्धक राग-द्वेष रूप चारित्रमोह की नाशक चारित्र आराधना है। ये दो [१]आराधनाएँ ही आत्मविशुद्धि की कारण हैं। परन्तु ज्ञान एवं तत्त्व, अतत्त्व की पहिचान के बिना भी सम्यग्दर्शन और चारित्र की आराधना नहीं हो सकती। अत: ज्ञान आराधना भी आवश्यक है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है, चारित्र में वृद्धि होती है इसलिए तप आराधना का कथन किया गया है।

व्यवहार और परमार्थ के भेद से आराधना दो प्रकार की है। अभेद रूप कथन निश्चय नय कहलाता है और भेदरूप कथन को व्यवहार कहते हैं।

व्यवहार नय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना कही है, परन्तु निश्चय नय से संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर शुद्धात्म स्वरूप में लीन होना ही आराधना है।

आराधना, आराध्य, आराधक और आराधना का फल इनको जानकर ही मानव आराधना के सारभूत निश्चय शुद्धात्मा को जान सकता है। अत: इनको जानना बहुत आवश्यक है। **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** नामक इस ग्रन्थ में इन चारों का विस्तारपूर्वक कथन किया है।

आराधना - मन वचन काय से साध्य की सिद्धि का प्रयत्न करना आराधना है। राध्, साध्, धातु सिद्धि अर्थ में है अत: जिसमें व जिसके द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है, आराधना की जाती है उसे आराधना कहते हैं और आत्मा की सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति सम्यग्दर्शनादि चार आराधना से होती है, अत: इनको आराधना कहते हैं।

आराध्य - निश्चय नय से इन आराधनाओं के द्वारा हमारी आत्मा ही आराध्य है, इसकी शुद्ध पर्याय साध्य है। निज आत्मा का अवलोकन (श्रद्धान), निज शुद्धात्मा का ज्ञान, स्वरूप में आचरण

---

१. दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥२॥ दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण। सम्मत्तम्मि य पढमा बिदिया य हवे चरित्तम्मि ॥३॥ भ.आ. मू.

(चारित्र), स्वमें तपन (तप) रूप निश्चय आराधना द्वारा स्व आत्मा आराध्य है। व्यवहार नय से व्यवहार आराधना के द्वारा परमात्मा पद आराध्य है, आराधना करने योग्य है।

आत्मा के उद्योतन वा उसे विशुद्ध करने का उपाय वा कारण होने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप निर्मल परिणाम ही आराध्य (आराधना करने योग्य) हैं। अथवा - **उद्योतन** -सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप का उद्योतन करना, निर्मल करना, उनमें अतिचार-अनाचार नहीं होने देना। **उद्वहन** - सम्यग्दर्शनादि चारों आराधना रूप परिणति करना, उनमें तन्मय होना, लीन होना। **निर्वहन** - इनको दृढ़तापूर्वक धारण करना। **साधन** - किसी कारणवश इन आराधनाओं के विचारों में मन्दता आ जाने पर वस्तु स्वभाव का विचार कर पुनः पुनः उनको जागृत करना, परिणामों की निर्मलता की वृद्धि करना। **निस्तरणं** - सम्यग्दर्शनादि को आमरण पालन करना, निर्दोष रूप व्रतों का पालन करते हुए प्राणों का विसर्जन करना ये सब व्यवहार नय से आराध्य हैं।

आराधना का फल - निज शुद्धात्मा की प्राप्ति वा व्यवहार नय से अरिहंत सिद्ध पद की प्राप्ति ही आराधना का वास्तविक फल है।

आराधक - आराधना करने वाला मानव आराधक कहलाता है। आराधना, आराध्य, आराधना का फल ये सब आराधक पर निर्भर हैं। आराधक ही सर्वोपरि है जैसा आराधक होता है, वैसे ही फल आदि प्राप्त होते हैं। यद्यपि निश्चय नय से आत्मा ही आराधक है, वही आराध्य है, वही आराधना है, वही शुद्धात्मापर्याय रूप परिणत होता है अतः वही आराधना का फल है। परन्तु फिर भी व्यवहार नय से ये चार भेद हैं।

आराधक पुरुष को क्षपक कहते हैं, जो कर्मों का क्षय करने का इच्छुक है, जिसे कर्मक्षय करके शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई है तथा जो कर्मों के क्षय की कारणभूत सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं की आराधना करने में तत्पर होता है, वह क्षपक आराधक कहलाता है।

❋ सल्लेखना ❋

कर्मों का क्षपण करने के इच्छुक प्राणी क्षपक चार प्रकार की आराधना की आराधना करने के लिए सल्लेखना (समाधि) स्वीकार करते हैं। वह क्षपक कैसा होना चाहिए वा उसके कौन से गुण वा कौन सी बाह्य सामग्री उपयुक्त है, उसे क्या करना चाहिए आदि, विस्तार से **भगवती आराधना** में कथन किया है। परन्तु इस छोटी सी '**आराधना सार**' नामक कृति में **आचार्य देवसेन** ने गागर में सागर भर दिया है।

प्रायोपगमन मरण, इंगिनीमरण और भक्त प्रत्याख्यान के भेद से सल्लेखना-मरण के तीन भेद किये हैं।

जिस सल्लेखना में स्व और पर के द्वारा वैयावृत्ति की अपेक्षा नहीं है, वह **प्रायोपगमन मरण**

है। यह इसकाल में नहीं है। इस मरण वाला जिस स्थान पर खड़ा होता है या बैठता है वहाँ से उठता नहीं है इसलिये अचल है। परन्तु उपसर्ग आने पर हिलडुल जाता है, अतः चल भी है।

जिसमें अपने शरीर की वैयावृत्ति स्वयं करता है, दूसरे से नहीं कराता है, उसे **इंगिनीमरण** कहते हैं, यह भी इस काल में नहीं है।

जिसमें अन्न-पानी का त्याग कर समतापूर्वक मरण किया जाता है उसे **भक्त प्रत्याख्यान मरण** कहते हैं। इसके दो भेद हैं सविचार और अविचार।

सहसा मृत्यु के कारण उपस्थित हो जाने पर अथवा जंघा बल क्षीण हो जाने पर अपने संघ में ही आहार-पानी का त्याग कर मरण किया जाता है, वह **अविचार भक्त प्रत्याख्यान** है। इसके भी दो भेद हैं, प्रकाश और अप्रकाश।

क्षपक का मनोबल एवं धैर्य देखकर अनुकूल कारण मिलने पर जो सर्व जनता के समक्ष प्रगट कर दिया जाता है वह **प्रकाश सल्लेखना** वा **समाधिमरण** है। क्षपक का मनोबल उत्कृष्ट नहीं है, बाह्य कारण अनुकूल नहीं है तब समाधि बाह्य में प्रकट नहीं की जाती है वा अकस्मात् मरण आ जाता है तब त्याग की विधि प्रकट नहीं की जाती है तब **अप्रकाश समाधि** होती है। अन्य जगह अविचार भक्त प्रत्याख्यान का विस्तार से कथन किया है।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान में ४० अधिकार लिखे हैं। ४० अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं-

(१) अर्ह - समाधिमरण वा सल्लेखना ग्रहण करने योग्य क्षपक कैसा होना चाहिए?

उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, निष्प्रतिकार रोग आदि के आने पर सल्लेखना ग्रहण की जाती है। अतः इस प्रकार का मानव सल्लेखना ग्रहण करने योग्य है। परन्तु इस मानव में धैर्य कैसा है, श्रद्धा कैसी है, आदि गुण भी 'अर्ह' में गर्भित होते हैं।

(२) लिंग - शिक्षा, विनय, आदि रूप साधन सामग्री के चिह्न। अर्थात् शिक्षा आदि ग्रहण करते समय किस प्रकार बाह्य में उत्साह प्रकट होता है।

(३) शिक्षा - ज्ञानोपार्जन (श्रुतज्ञान) करने की भावना निरन्तर रहे।

(४) विनय - गुरुजनों व ज्ञानादिक के प्रति आदर भाव, मानसिक प्रसन्नता।

(५) समाधि - मन की एकाग्रता ।

(६) अनियत विहार - मानसिक ममत्व हटाने के लिए अनियत स्थान में रहना।

(७) परिणाम - सल्लेखना धारण करके अपने कर्त्तव्य (करने योग्य कार्यों में) परायणता (तत्परता उत्साह) होना।

(८) उपधित्याग – बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

(९) श्रिति – शुभ परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि करना। कहीं पर श्रिति के स्थान पर 'धृति' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है- धैर्यशाली होना।

(१०) भावना – उत्तरोत्तर उत्तम भावनाओं का अभ्यास। अर्थात् निरन्तर यह भावना करना कि मैं अन्त में समाधिमरण करूँ वा मेरा समाधिमरण हो, णमोकार मंत्र का जप करते-करते मेरे प्राणों का विसर्जन हो। यह सल्लेखना ही धर्म को परभव में साथ ले जाने में समर्थ है। अन्त में समाधिमरण होना ही व्रतधारण का फल है। यदि अन्त में समाधि की विराधना होगी तो मुझे अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करना पड़ेगा। हे प्रभो ! अन्त में मेरा समाधिमरण हो, यही भावना करता हूँ। निरन्तर ऐसे विचार करना भावना है।

(११) संलेखना – तत्त्वों का चिन्तन करके कषायों को कृश करना, कषायों पर विजय प्राप्त करना और उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना सल्लेखना है।

बाह्य, अभ्यन्तर के भेद से सल्लेखना दो प्रकार की है। आत्मा की घातक कषायों को कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना है और बाह्य में उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है।

यद्यपि वास्तव में अभ्यन्तर सल्लेखना ही कार्यकारी है तथापि कषायों के कृश करने का सर्वप्रथम कारण है शरीर के ममत्व का त्याग और निर्ममत्व की पहिचान है, उपवास, नीरस आहार आदि के द्वारा शरीर का शोषण करना।

भाव और द्रव्य की अपेक्षा भी सल्लेखना दो प्रकार की है। आत्मीय गुणों का विकास करने के लिए अपने भावों की विशुद्धि करना, वीतराग चारित्र की अविनाभावी निर्विकल्प समाधि में लीन होकर स्वसंवेदनरूप सुखामृत का पान कर संतुष्ट होना **भाव सल्लेखना** है और बाह्य भोजन आदि पदार्थों का त्यागकर शरीर को कृश करना **द्रव्य सल्लेखना** है।

शंका – भोजन आदि का त्यागकर शरीर को कृश करना आत्मघात नहीं है क्या ?

उत्तर – प्रमाद वा कषाय के वशीभूत होकर अन्नपानादि का त्याग करना आत्मघात है, परन्तु आत्महित वा संयम की रक्षा के लिए अनशनादि कर शरीर को कृश करना आत्मघात नहीं है।

(१२) दिशा – यदि सल्लेखना का इच्छुक आचार्य है तो अपने संघ की रक्षार्थ वा धर्म की मर्यादा का पालन करने के लिए योग्य शिष्य को सर्वसंघ की अनुमति से शुभ नक्षत्र, तिथि, करण, लग्न में शास्त्रोक्त विधि से आचार्य की स्थापना करना दिशा है।

(१३) क्षमणा – नवीन स्थापित आचार्य को तथा सारे संघ को बुलाकर सल्लेखना-इच्छुक

आचार्य दोनों हाथों को सिर पर रखकर संघस्थ मुनिराजों को नमस्कार के विनम्र भावों से कहता है कि "हे साधो! मैंने आपपर अनुशासन करते समय राग, द्वेष, ममत्व और स्नेहके वशीभूत होकर आपको कटु वचन कहे हों, आपका निरादर किया हो तो मन-वचन-काय से आपसे क्षमायाचना करता हूँ। आप सब लोग मुझे क्षमा करें। इस प्रकार क्षमायाचना की विधि को क्षमणा कहते हैं।

(१४) अनुशिष्टि - जिन्होंने आचार्यपद का त्याग कर दिया है, सबसे क्षमायाचना करली है ऐसा समाधिमरण का इच्छुक साधु अपने शिष्यों को आगमानुसार उपदेश देता है, जिसको आचार्य पद दिया है उसे व्यवहार की विधि का ज्ञान कराना अनुशिष्टि है।

(१५) परगणचर्या - परिणामों की निर्मलता, कलह-विषाद-आज्ञाभंग से होने वाले संक्लेश परिणाम और संघ के शिष्यों के प्रति होने वाले ममत्व को दूर करने के लिए समाधि करने का इच्छुक साधु परगण में जाने की इच्छा करता है। यह पर-गणचर्या है।

(१६) मार्गणा - समाधिमरण कराने में समर्थ आचार्य की खोज करना मार्गणा है।

(१७) सुस्थिति - परोपकारी आचार्य वा समाधि की साधना कराने योग्य आचार्य का आश्रय लेना।

(१८) उपसंपदा - ऐसे योग्य आचार्य के चरणमूल में जाना।

(१९) परीक्षा - समाधि धारण करने का इच्छुक जिस गण में गया है वह उस आचार्य की क्रिया, व्यवहार, चारित्र आदि की परीक्षा करता है और परगणस्थ आचार्य आगन्तुक क्षपक के रत्नत्रय की क्रिया में उत्साह, आहार आदि की आसक्ति की परीक्षा करता है। अर्थात् क्षपक और निर्यापक एक दूसरे की परीक्षा करते हैं। अथवा क्षपक की समाधि निर्विघ्न होगी कि नहीं इसको निमित्त के द्वारा जानना भी परीक्षा है।

(२०) प्रतिलेखन या निरूपण - जिस स्थान पर समाधिमरण करना है उस क्षेत्र का, वहाँ के राजा का, तत्रस्थ श्रावकों का निरीक्षण करना अथवा निमित्त ज्ञान के द्वारा क्षेत्र, राज्य, देश आदि का शुभाशुभ जानना प्रतिलेखन है।

(२१) पृच्छा - समाधि के इच्छुक साधु को स्वीकार करते समय अपने संघ से पूछना, उनकी अनुमति लेना पृच्छा कहलाती है।

(२२) एकसंग्रह - निर्यापक आचार्य एक समय एक क्षपक को ही ग्रहण करते हैं, दो तीन क्षपक एक साथ ग्रहण नहीं करते क्योंकि अधिक क्षपकों को एक साथ समाधि देने से उनकी वैयावृत्ति आदि में व्यवधान होने से क्षपक के परिणामों में संक्लेश होकर समाधि बिगड़ सकती है।

(२३) आलोचना - रत्नत्रय की शुद्धि का इच्छुक क्षपक निशल्य होकर स्वकीय दोषों को गुरु

के समक्ष कहकर अपने चित्त को निर्मल करता है। तथा क्षपक के दोषों को सुनकर गुरुदेव उसको प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं। यह आलोचना है।

(२४) गुणदोष - दोषों की आलोचना करने में क्या गुण है और आलोचना नहीं करने से क्या दोष उत्पन्न होते हैं, आदि का कथन करना गुण-दोष है।

(२५) शय्या - समाधिस्थ क्षपक के रहने का स्थान, वसतिका, क्षेत्र आदि कैसे हों इनका कथन करना शय्या है।

(२६) संस्तर - शय्या से वसति का कथन है और संस्तर से चटाई आदि का कथन है।

(२७) निर्यापक - समाधि में सहायक जो आचार्य होते हैं उन निर्यापक आचार्य के सहायक आचार्यों का कथन करना।

(२८) प्रकाशन - क्षपक को यह जानने के लिए अन्तिम आहार दिखाना कि इसकी आहार में आसक्ति है या नहीं ?

(२९-३०) हानि और प्रत्याख्यान - क्रम-क्रम से आहार घटाना, उसकी विधि का कथन करना। जैसे यदि १२ वर्ष की समाधि ग्रहण की है तो प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकार के कायक्लेशों के द्वारा व्यतीत करना, तदनन्तर दूध, दही, घी, गुड़ नमक आदि रसों का त्याग कर शरीर को कृश करना। दो वर्ष तक निर्विकृति आचाम्ल भोजन करके आहार की आसक्ति को घटाना। तदनन्तर आचाम्ल भोजन वा उपवास करके एक वर्ष व्यतीत करना। छह महीने तक मध्य तप-एक उपवास, दो उपवास आदि करके आहार ग्रहण करना तथा अन्त में चार प्रकार के आहार में से तीन आहार का त्याग करना, अन्त में सब प्रकार के आहार का त्याग करना हानि और प्रत्याख्यान नामक अधिकार है।

(३१) क्षमण - आहारत्याग के बाद सर्व संघ से क्षमा याचना करना तथा परिपूर्ण रत्नत्रय की आराधना के साथ सर्व जीवों के साथ मैत्री भाव, समता और ध्यान में मग्न होना।

(३२) क्षपणा - प्रतिक्रमण आदि के द्वारा कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करना।

(३३) अनुशिष्टि - निर्यापकाचार्य क्षपक को सम्बोधन करते हैं, उपदेश देते हैं।

(३४) सारणा - निर्यापकाचार्य परीषह आदि दुःखों से पीड़ित, मोहग्रस्त क्षपक को बार-बार सम्बोधित करके सचेत करते हैं।

(३५) कवच - जिस प्रकार योद्धा लोगों की रक्षा के लिए कवच होता है वैसे क्षपक की रक्षा का कवच है निर्यापकाचार्य का उपदेश। अतः निर्यापकाचार्य वैराग्योत्पादक शब्दों के द्वारा क्षपक को सम्बोधित करते हैं।

(३६) समता - जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख में सम भाव रखना।

(३७) ध्यान - समाधि में मुख्य है मन की एकाग्रता, आत्मा का चिन्तन करना।

(३८) लेश्या - कषायों से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति लेश्या है। समाधिस्थ क्षपक को शुभ लेश्या वाला होना आवश्यक है।

(३९) फल - चार आराधना का फल स्वर्ग और मोक्ष है। समाधिमरण करने वाला सात, आठ भव से अधिक संसार में भ्रमण नहीं कर सकता।

(४०) शरीरत्याग - समाधिमरण करने वाले के शरीर का विसर्जन कैसे करना चाहिए, उसके दाह संस्कार की विधि का कथन शरीर-त्याग है। इस प्रकार समाधि के अधिकार में ४० स्थान कहे हैं परन्तु इन ४० अधिकारों में देवसेन आचार्य द्वारा कथित अर्ह, संगत्याग, कषाय-सल्लेखना (कषायों की कृशता) परीषहविजयी, उपसर्ग सहन करने वाला, इन्द्रिय भटों को जीतने वाला, मनोविजयी ये सात हेतु सल्लेखना विधि में मुख्य हैं। इनके बिना समाधिमरण करना कठिन है।

बाल बाल मरण, बाल मरण, बाल पंडित मरण, पंडित मरण, पंडित पंडित मरण के भेद से पाँच प्रकार के मरण हैं। इसमें बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है और बाल मरण अव्रती सम्यग्दृष्टि का है, उसका सल्लेखनामरण में अधिकार नहीं है। मिथ्यादृष्टि और अव्रती सम्यग्दृष्टि समाधिमरण नहीं कर सकते। क्योंकि इनके बाह्य परिग्रहों के ममत्व के त्याग का अभाव है। यदि सम्यग्दृष्टि बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उसके पाँचवाँ गुणस्थान हो जाता है।

देशसंयमी आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक ब्रह्मचारी, व्रती पुरुष का मरण बालपंडितमरण है, उनके एकदेश असंयम का अभाव है। इनका भक्तप्रत्याख्यान मरण हो सकता है। पंडितपंडित मरण १४वें गुण-स्थान में है। उनका यहाँ कथन नहीं है।

पंडितमरण के तीन भेद हैं: प्रायोपगमन मरण, इंगिनी मरण और भक्तप्रत्याख्यान मरण। इन तीनों प्रकार के मरण में **देवसेन आचार्यदेव** द्वारा कथित सात अधिकार परम आवश्यक हैं तथा वही सल्लेखना की साधना के द्वारा स्वसंवेदनजनित सुखामृत का रसास्वादन कर सकता है तथा निर्विकल्प समाधि में लीन होकर घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और अन्त में पंडितपंडितमरण कर मुक्ति रमा का पति बन सकता है। अतः 'अर्ह' आदि सात अधिकारों को जानकर इनकी आराधना कर स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करनी चाहिए।

देवसेन आचार्य ने कहा है-

संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो।
विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो॥१८॥

संसारसुख से विरक्त, वैराग्य भाव को प्राप्त, परम उपशम भाव युक्त और अनेक प्रकार के तप से जिसने शरीर को संतप्त किया है वही वास्तव में आराधना (समाधिमरण) का आराधक होता है।

जिनके हृदय में संसार-सुखों से वास्तविक विरक्ति है वे ही वास्तव में 'अर्ह' आराधना के योग्य हैं, क्योंकि संसार-सुखों से विरक्ति है तो युवा अवस्था में भी संन्यास के योग्य है। यदि विरक्ति नहीं है तो आराधक की सारी योग्यताएँ निष्फल हैं।

जिनका हृदय संसार-सुखों से विरक्त होकर वैराग्य को प्राप्त हुआ है तथा उपशम भाव से युक्त है उसके ही लिंग चिह्न, क्षमायाचना, समाधि, अनियत विहार, निर्दोष आलोचना आदि सारे गुण प्रकट होते हैं। यदि संसार-सुख-विरक्ति, वैराग्य और उपशम भाव नहीं हैं तो ४० अधिकारों में से एक भी अधिकार का पालन नहीं होता। इसलिए सर्वप्रथम संसार-सुख-विरक्ति, वैराग्य और उपशम भाव (कषायों की मन्दता) होना आवश्यक है।

जो मानव इन गुणों से युक्त है, अनेक प्रकार के तपश्चरण के द्वारा अपने शरीर को तपाता है, वही इन्द्रियविजयी, उपसर्ग-विजयी, परीषहजयी और मनोविजयी बन सकता है।

जो संसार-सुखों का इच्छुक है, जिसके अंतरंग को वैराग्य भाव ने स्पर्श नहीं किया है; वह इन्द्रिय विजयी, कषायविजयी, उपसर्ग-परीषहजयी नहीं हो सकता, बाह्य में पंचेन्द्रिय-विषयों का त्याग करके भी अन्तरंग में विषयवासनाओं की अग्नि से उसका हृदय सन्तप्त रहता है। भूख-प्यास को सहन करके भी वह अन्तरंग में स्वसंवेदन रूप सुखामृत का पान कर सुख का अनुभव नहीं कर सकता। बाह्य में विविध तपश्चरण के द्वारा शरीर को तपाकर के, खपाकर के अन्तरंग में आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए सर्वप्रथम संसार-सुखों का विरेचन कर वैराग्य और उपशम भाव को प्राप्त होना जरूरी है।

यद्यपि निश्चय नय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है तथापि व्यवहार नय से निर्यापक की आवश्यकता होती है भक्तप्रत्याख्यान मरण में। इसलिए ४० अधिकारों में निर्यापकाचार्य का कथन है और उसकी अन्वेषणा करने के लिए कितने योजनों तक जाने का विधान है।

शास्त्रोक्त गुणों के धारी निर्यापकाचार्य का सान्निध्य पाकर परिणामों की विशुद्धि, स्थिरता आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं।

❋ निर्यापकाचार्य के गुण ❋

आचारवान - पंचाचार का पालन करने वाला हो।

आधारवान - बहुश्रुत का पाठी हो।

व्यवहारवान - गुरुपरम्परा से आगत प्रायश्चित्त शास्त्रों का ज्ञाता हो।

प्रकर्त्ता - सर्व संघ की वैयावृत्ति करने वाला हो।

आयापायविदर्शी - रत्नत्रय के धारण करने में लाभ और मायाचार के दोषों का कथन करके रत्नत्रय में स्थिर कर शिष्य के मायाचार को दूर करने वाला हो।

अवपीड़क - स्वकीय मधुर ओजस्वी वचनों के द्वारा क्षपक के दोषों को बाहर निकालकर निशल्य बनाने वाला हो।

अपरिस्रावी - क्षपक के द्वारा कथित दोषों को अन्य जनों में प्रकट नहीं करने वाला।

निर्वापक - शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि से पीड़ित होकर क्षुब्ध हुए क्षपक को स्थिर करने के लिए अनेक उपायों का ज्ञाता तथा उस क्षपक को संक्लेशरहित अनेक कथाओं का कथन करके उसके परिणामों को स्थिर करने वाला हो।

प्रसिद्ध - जो साधु और श्रावक गण में प्रसिद्ध हो।

कीर्त्तिमान - जिसके धवल यश से सारा जगत् धवलित हो।

इत्यादि गुणों से युक्त ही निर्यापकाचार्य होता है। इस प्रकार के आचार्य को प्राप्त कर क्षपक मन, वचन, काय से उनके चरणों में समर्पित हो जाता है।

❋ समाधिसाधक - सामग्री का निरीक्षण या परीक्षण ❋

समाधि के इच्छुक क्षपक को मधुर वाणी से सान्त्वना देकर उसकी समाधि निर्विघ्नतया होने के लिए शुभाशुभ निमित्तों के द्वारा जानना और तत्रस्थ राजा-प्रजा कैसी है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक है तथा सहायक वर्ग उत्साही है कि उदासीन है, उसका ज्ञान करना और क्षपक के परिणामों की परीक्षा करना भी निर्यापक का उत्तरदायित्व है।

दुर्लंघ्य संसार समुद्र से पार होने के लिए क्षमा के समान कोई दूसरी निश्छिद्र नौका नहीं है अतः क्षपक को सबसे क्षमा कराते हैं और स्वयं सबको क्षमा करते हैं।

सर्व संघ की अनुमति से क्षपक को ग्रहण कर आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं कि हे क्षपक ! आप धैर्य के अवलम्बन पूर्वक सारी सुख-सुविधा का त्याग कर परीषह सेना को अंगीकार करते हुए समाधि धारण करो। पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त कर क्रोधादि चारों कषायों का उत्तम क्षमादि भावों के द्वारा निग्रह करो तथा तीन गारव को छोड़कर निशल्य होकर दोषों की आलोचना करके पाँच महाव्रत और मुनिचर्या को निर्दोष करो।

व्रतों की शुद्धि पर-साक्षी से ही होती है। जब तक गुरु की साक्षीपूर्वक आलोचना नहीं होती है तब तक व्रतों की शुद्धि नहीं होती। इसलिए आलोचना के दस दोष रहित गुरु की साक्षी पूर्वक अपने दोषों का कथन करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

इन सब बाह्य क्रियाओं का कथन **आराधनासार** में मुख्य रूप से नहीं किया गया है परन्तु जहाँ पर कषायविजयी का कथन है उसमें ये सब गर्भित हो जाते हैं। क्योंकि जब यह क्षपक कषायों को विभाव भाव समझकर छोड़ना चाहता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की आराधना करना चाहता है, आराधना के फल का इच्छुक है, उसके लिए ये सारी क्रियाएँ तो स्वयमेव होती हैं क्योंकि वह आराधक जानता है कि इन क्रियाओं के बिना पूर्ण रूप से आराधना का आराधक नहीं बन सकता।

देवसेन आचार्य ने इस **आराधनासार** में आराधक कैसा हो, आराध्य कौन है, आराधना क्या है, और आराधन का फल क्या है, इनका ही कथन किया है।

❋ शरीर-परित्याग की विधि ❋

आराधनासार में शरीरपरित्याग के क्रम की विधि और समाधिमरण के अन्त में शव के संस्कार की विधि का कथन नहीं किया है क्योंकि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसलिए **भगवती आराधना** आदि ग्रन्थों के अनुसार संक्षेप से उनका कथन करती हूँ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां निष्प्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या॥ रत्न. श्रा. ॥२२॥

अर्थ - निष्प्रतिकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होनेपर, बुढ़ापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर धर्मार्थ शरीर को छोड़ना सल्लेखना है। अर्थात् जरा, रोग, इन्द्रिय वा शरीर-बल की हानि तथा आवश्यक क्रियाओं के करने में असमर्थता होने पर कषायों को कृश करते हुए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है।

सल्लेखना में मुख्य कारण है कषायों को कृश करना। कषायों को कृश करने के लिए शरीर के ममत्व का त्याग है तथा शरीर के ममत्व के त्याग के लिए बाह्य पदार्थों के त्याग का क्रमिक विधान है। यद्यपि बाह्य पदार्थों के त्याग का विधान **भगवती आराधना** में विस्तारपूर्वक लिखा है जिसका उल्लेख 'पुरोवाक्' में संक्षेप से किया है परन्तु **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में मन्द बुद्धि वालों के लिए **संक्षेप से कथन किया है**- वह इस प्रकार है। सल्लेखना धारण करने का इच्छुक स्नेह, वैर, संग और परिग्रह का त्याग कर स्वजन परिजन से क्षमायाचना करता है और सबको क्षमा करता है तथा कृत, कारित और अनुमोदित पापों की निश्छल भावों से आलोचना करता है। यदि श्रावक है तो महाव्रतों को धारण करता है, मुनिराज है तो केवल आलोचना करता है।

शोक, भय, अवसाद, क्लेद, कालुष्य और अरति को छोड़कर अपने उत्साह को प्रकट कर श्रुत रूपी अमृतपान के द्वारा अपने मन को प्रसन्न करना चाहिए।

इष्ट के वियोग में मानसिक आकुलता **शोक** है। भूख, प्यास आदि पीड़ा से चित्त में उद्वेग रहता है वह भय है। विषाद वा खेद को **अवसाद** कहते हैं। स्नेह को क्लेद कहते हैं। किसी विषय में जो राग-

द्वेषमय परिणति होती है उसको **कालुष्य** कहते हैं। मन की अप्रसन्नता **अरति** है और कायरता के अभाव को सत्त्वोत्साह कहते हैं। श्रुतरूपी अमृत का पान कर अपने मन को प्रसन्न रखता है।

यह अभ्यन्तर कषाय सल्लेखना विधि है। इस विधि का पालन करने के लिए, शरीर को कृश करने के लिए क्रमशः सर्वप्रथम अन्न का त्याग कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थों को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् स्निग्ध पदार्थों को त्यागकर खर पान छाछ-पानी आदि देते हैं। तत्पश्चात् छाछ, गर्म पानी का भी त्याग कर उपवास करता है और नमस्कार मंत्र का जप करते हुए अपने प्राणों का विसर्जन करता है।

सल्लेखना स्थित पुरुष जीविताशंसा, मरणाशंसा भय, मित्रानुराग और निदान नामक सल्लेखना-अतिचारों से स्वकीय मन को दूर रखता है। वह सल्लेखना के फल से स्वर्ग और क्रम से मोक्षपद प्राप्त करता है। इसका विस्तार **भगवती आराधना** से जानना चाहिए।

जो मुनि या श्रावक समाधिमरण की साधना में मन, वचन, काय से सहयोग देते हैं, समाधि के समय उपस्थित होकर आचार्य का उपदेश सुनाते हैं, आराधना के समय क्षपक की सेवा करते हैं, उसकी भक्ति वा वन्दना करते हैं, वे सभी जीव नियम से चार आराधनाओं को प्राप्त कर अपना जन्म सफल करते हैं।

क्षपक की आराधना का स्थान (वसतिका) और दाह-संस्कार का स्थान (निषिधिका) तीर्थ बन जाते हैं, वन्दनीय हो जाते हैं। बेला में क्षपक का प्राणान्त हो जाने पर वैयावृत्ति करने वाले मुनिजन स्वयं उसकी मृत देह उठाकर उसी समय किसी प्रासुक स्थान में क्षेपण कर देते हैं। यदि रात्रि के समय अबेला में मरण हुआ है तो शव के अंगूठे को छेद देना चाहिए जिससे उस शव में भूत-प्रेतादि प्रवेश न करें।

यदि किसी मुनिराज, आर्यिका, क्षुल्लक आदि का मरण गृहस्थों के बीच हो और उसकी समाधि सर्वविदित हो तो गृहस्थ उसको पालकी वा विमान में बिठाकर पूर्व में निश्चित किये हुए स्थान पर निश्चित मार्ग से शीघ्रता पूर्वक ले जावें, न मार्ग में खड़े रहें और न मुड़कर देखें। शव के आगे एक गृहस्थ मुट्ठी में कुश दर्भ लेकर चले और एक गृहस्थ कमण्डलु को जल से पूर्ण भरकर कमण्डलु की नाली से पतली-पतली जल की धारा छोड़ता हुआ आगे-आगे चले।

पूर्व में देखी हुई निषिधिका के पास जाकर डाभ की मुट्ठी खोलकर मुनि के देह को स्थापित करने की भूमि को विच्छेद रहित सम करे। यदि डाभ या तृण न मिले तो ईंटों के चूर्ण अथवा वृक्षों की शुष्क केशर (पत्तों आदि) से संस्तर को सर्वत्र सम करे क्योंकि **भगवती आराधना गाथा ८२** में लिखा है कि ऊपर की ओर संस्तर के ऊँचा-नीचा होने से आचार्य का मरण, मध्य में विषम होने से संघ के प्रधान मुनि का मरण या रोग सम्बन्धी पीड़ा और नीचे की ओर विषम होने से संघ के किसी एक मुनि का मरण होता है। अतः दाह संस्कार का स्थान (भूमि) प्रासुक, निश्छिद्र और सम होना चाहिए।

संस्तर को सम बनाकर उस पर प्रासुक तन्दुल के चूर्ण वा मसूर की दाल आदि के चूर्ण व कमल केशर से समान सीधी रेखा खींचे क्योंकि टेढ़ी रेखाएँ विषम होने से संघ में उपद्रव, आचार्य का मरण आदि की सूचक होती हैं।

जिस दिशा में ग्राम हो उस दिशा में क्षपक का मस्तक कर संस्तर पर स्थापन करना चाहिए और उसके समीप मयूरपिच्छिका आदि उपकरण रखने चाहिए। संभव है, संक्लेश परिणामों से संन्यास की विराधना करके प्राण छोड़े हों और व्यन्तर आदि देवों में उत्पन्न हुआ हो। पिच्छिका आदि सहित स्वकीय शरीर को देखकर "मैं मुनि था, मैंने व्रतों की विराधना की" ऐसा जानकर पुनः सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

सोमसेन भट्टारक के मतानुसार - संस्तर (दाह संस्कार की भूमि) को सम बनाकर चारों ओर चार खूंटी गाड़े और उनके आधार से संस्तर को मौली या लच्छा से तीन बार वेष्टित करे। पद्मासन से शव को सिर से पैर तक सुतली द्वारा माप कर उसी माप के प्रमाण संस्तर पर तीन रेखाओं द्वारा एक त्रिकोण बनावे। सर्वप्रथम भूमि पर चन्दन का चूरा डाले। फिर रोली से त्रिकोण रूप तीनों रेखाएँ डालें (टूटी एवं विषम न हो), उसके बाद उस त्रिकोण के ऊपर सर्वत्र मसूर का आटा डाले।

त्रिकोण के तीनों कोनों पर तीन उल्टे स्वस्तिक बनावे और तीनों रेखाओं के ऊपर तीनों ओर सब मिला कर नौ, सात या पाँच आर रैं लिखें, त्रिकोण के मध्य में 'ॐ ह्रीं अर्हं' लिखे। फिर 'ॐ ह्रीं हः काष्ठसञ्चयं करोमि स्वाहा' इस मन्त्र को पढ़कर त्रिकोणाकार ही लकड़ी जमावे, पश्चात् 'ॐ ह्रीं ह्रौं झौं अ सि आ उ सा काष्ठे शवं स्थापयामि स्वाहा।' इति मन्त्रेण पंचामृतमभिषिञ्च्य त्रिःप्रदक्षिणां कृत्वा काष्ठे शवं स्थापयेयुः, मन्त्र का उच्चारण करते हुए पश्चातानुपूर्वी से शव का पञ्चामृत अभिषेक करके एवं तीन प्रदक्षिणा देकर शव को काष्ठ पर स्थापित करे और 'ॐ ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं अग्निसंधुक्षणं करोमि स्वाहा', यह मन्त्र बोलकर अग्नि लगावे।

आराधनायुक्त क्षपक के मरण से संघ पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह जानने के लिए, किस नक्षत्र में मरण हुआ है, यह जानना आवश्यक है। जो नक्षत्र पन्द्रह मुहूर्त्त के होते हैं उन्हें जघन्य नक्षत्र कहते हैं। ये छह होते हैं शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा। इनमें से किसी एक नक्षत्र में या उसके अंश पर मरण होने से संघ में क्षेमकुशल होता है।

तीस मुहूर्त्त के नक्षत्र को मध्यम नक्षत्र कहते हैं। ये पन्द्रह होते हैं- अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, तीनों पूर्वा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, श्रवण, धनिष्ठा और रेवती। इन नक्षत्रों में या इनके अंशों पर यदि क्षपक का मरण होगा तो एक मुनि का मरण और होगा।

पैंतालीस मुहूर्त्त के नक्षत्रों को उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं। ये छह होते हैं तीनों उत्तरा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा। इन नक्षत्रों में या इनके अंशों पर मरण होने से निकट भविष्य में दो मुनियों का मरण होता है।

गणरक्षा के हेतु मध्यम नक्षत्र में क्षपक का मरण होने पर तृण का एक प्रतिबिम्ब और उत्तम नक्षत्र में मरण होने पर तृण के दो प्रतिबिम्बों को मृतक के निकट 'द्वितीयोऽर्पितः' कह कर स्थापित कर देना चाहिए। प्रतिबिम्ब बनाने के लिये यदि वहाँ तृण न मिले तो तन्दुलों का चूर्ण, पुष्प की केशर, भस्म अथवा ईंटों के चूर्ण में से जो कुछ प्राप्त हो सके उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार अर्थात् 'काय' शब्द लिख देना चाहिए।

शंका - क्या उपर्युक्त क्रिया करने से संकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता ?

समाधान - तृणमय पिण्ड में मृतक मुनि की स्थापना की जाती है, अतः संकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता। अभिप्राय यह है कि एक साथ दो शवों का या तीन शवों का दाह संस्कार किया जा रहा है।

क्षपक के शव का अन्तिम संस्कार हो चुकने के बाद संघ का कर्त्तव्य है कि चार कायोत्सर्ग करे। सामान्य मुनि का दाह-संस्कार प्रारम्भ हो जाने पर निषद्या की क्रिया में सिद्ध, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करे। आचार्य की समाधि होने पर उनके शरीर और निषद्या की क्रिया में सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करे।

अपने संघ के मुनि का मरण होने पर उस दिन सर्व संघ उपवास करे और उस दिन स्वाध्याय न करे तथा दूसरे संघ के मुनि का मरण होने पर स्वाध्याय न करे और उपवास कर भी सकते हैं।

क्षपक के शव का दाह-संस्कार करने पर गृहस्थों को तीसरे दिन वहाँ जाकर उनकी अस्थियों आदि की यथायोग्य क्रिया करनी चाहिए।

इस प्रकार संक्षेप से सल्लेखना की क्रिया का कथन किया है, विशेष रूप से **भगवती आराधना** से जानना चाहिए।

- आर्यिका सुपार्श्वमती

卐 卐 卐

卐 ग्रन्थकार आचार्य देवसेन 卐

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थ कर्त्ता का नाम, मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण और ग्रन्थनाम इन छह अधिकारों का कथन करके शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए, यह आचार्यों का आदेश है। इन अधिकारों में ग्रन्थकर्त्ता का नाम और उसका परिचय अत्यावश्यक है क्योंकि कर्त्ता की प्रमाणता से ही ग्रन्थ में प्रमाणता आती है।

इस **आराधनासार** ग्रन्थ के रचयिता **आचार्य देवसेन** हैं क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में आचार्यदेव ने अपनी लघुता प्रगट करते हुए स्वयं अपना नामोल्लेख किया है-

अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम् ॥११५॥

देवसेन नाम के दो आचार्य हुए हैं, उनमें से ये कौनसे देवेसन हैं, यह निश्चय रूप से नहीं जाना जा सकता तथापि देवसेन आचार्यरचित 'भावसंग्रहादि' ग्रन्थों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि इस **आराधनासार** ग्रन्थ के रचयिता 'भावसंग्रह' के रचयिता देवसेन हैं।

आचार्य देवसेन संस्कृत और प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् थे। जिनागम में प्रचलित नयपरम्परा के जानकार तथा उसका सामञ्जस्य बैठाने वाले थे अतः उन्होंने निश्चय और व्यवहार नय से वस्तु का स्वरूप क्या है यह बताने के लिए ही मानों **नयचक्र** और **आलापपद्धति** की रचना की है।

दर्शनसार की निम्न गाथा -

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

से सिद्ध होता है कि वे कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के थे। इस गाथा में उन्होंने उल्लेख किया है कि यदि पद्मनंदी (कुन्दकुन्दाचार्य) सीमन्धर स्वामी की दिव्य वाणी के तत्त्वों को जानकर संयमी जनों को बोध नहीं देते तो मुनिजन सुमार्ग को कैसे जान सकते ? इससे सिद्ध होता है कि वे कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के साधु थे तथा **दर्शनसार** की इस गाथा में उन्होंने कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा करते हुए उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था प्रगट की है।

इनके द्वारा रचित भावसंग्रह, दर्शनसार, तत्त्वसार, नय-चक्र, आलापपद्धति आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

१. भावसंग्रह - इस ग्रन्थ में ९५० गाथाएँ हैं। औपशमिक आदि भावों का विस्तार पूर्वक कथन करके मिथ्यादर्शन और मिथ्यादृष्टियों का खण्डन किया है।

भावसंग्रह में लिखा है -

सिरि विमलसेण गणहर सिस्सो नामेण देवसेणुत्ति।
अबुहजण बोहत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं॥

श्री विमलसेन गणी के शिष्य देवसेन ने अज्ञानी जनों को ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र (शास्त्र) की रचना की है। इसमें कितने ही स्थलों पर **दर्शनसार** की अनेक गाथायें उद्धृत हैं।

इनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय इनके द्वारा रचित **दर्शनसार** में मिलता है। इन्होंने अपने परिचय स्वरूप अन्तिम दो गाथाएँ लिखी हैं-

पुव्वायरिय कयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥

× × × ×

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माह सुद्ध दसमीए॥५०॥

पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित गाथाओं का संचय करके श्री देवसेन गणी ने धारानगरी में निवास करते हुए श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर में माघ सुदी दशमी विक्रम संवत् ९९० को इस **दर्शनसार** की रचना की। यद्यपि इन्होंने अपने अन्य किसी ग्रन्थ में ग्रन्थ-रचना का काल, ग्राम आदि का कथन नहीं किया है तथापि इनका समय वि. सं. ९९० में होने से इनके सारे ग्रन्थों की रचना इस काल के आस-पास में ही हुई है क्योंकि पंचम काल में मनुष्यों की आयु १२० वर्ष से अधिक तो होती नहीं है।

इन्होंने उपर्युक्त गाथा में अपने आपको 'गणी' शब्द से सुशोभित किया है, जिससे सिद्ध होता है कि वे आचार्य पद के धारी साधुओं के अधिपति थे। किसी भी ग्रन्थ में इन्होंने अपने संघ आदि का उल्लेख नहीं किया है परन्तु **दर्शनसार** में कथित काष्ठा संघ, द्रविड़ संघ, माथुर संघ, यापनीय संघ आदि की उत्पत्ति तथा उनको जैनाभास मानने से सिद्ध होता है कि वे इनमें से किसी संघ के नहीं थे।

२. दर्शनसार

यह ५१ गाथाओं का अल्पकाय ग्रन्थ है। इसमें विविध दर्शनों की उत्पत्ति तथा जैन समाज के प्रचलित द्रविड़, काष्ठा, माथुर और यापनीय आदि संघों की उत्पत्ति कब किस प्रकार हुई, इसका उल्लेख किया गया है।

दर्शनसार के अन्त में ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि पूर्वाचार्यों के द्वारा कृत गाथाओं को एक जगह संचित कर धारा नगरी में रहने वाले देवसेन गणी ने इस **दर्शनसार** की रचना वि.सं. ५५ में की है। इससे संभव है कि इसमें कुछ पूर्वाचार्यों की भी गाथाएँ संगृहीत हैं और अब वे इसी ग्रंथ का अंग बन गई हैं।

३. तत्त्वसार

यह ७४ गाथाओं का ग्रन्थ है। इसमें आत्मतत्त्व का सुन्दर निरूपण है।

४. नयचक्र

यह ८७ गाथाओं का ग्रन्थ है। इसमें जैन सिद्धान्त में प्रचलित नय-उपनयों का उदाहरणों के साथ विवेचन किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई की ओर से 'नयचक्र संग्रह' में किया गया था। इसी संग्रह में 'वृहत् नयचक्र' नाम से एक दूसरा नयचक्र भी छपा है। इसमें ४२३ गाथाएँ हैं। इसका असली नाम 'दव्वसहाव पयास' (द्रव्यस्वभाव प्रकाश) है। इसके रचयिता माइल्ल कवि हैं। इन्होंने दोहाबद्ध नयचक्र को गाथाओं में परिवर्तित किया है। इसमें देवसेन के नयचक्र का समस्त विषय अन्तर्निहित किया गया है तथा ग्रन्थकर्ता ने नयचक्र के कर्त्ता देवेसन के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट किया है।

५. आलापपद्धति

यह जैन समाज का बहुप्रचलित ग्रन्थ है इसमें नयों के स्वरूप तथा भेद और उपभेद सरलता पूर्वक समझाये गये हैं। सरल संस्कृत में इसकी रचना है। रचना पद्यरूप न होकर गद्य रूप है। जान पड़ता है आचार्य देवसेन ने अपने **नयचक्र** का सरलता से ज्ञान कराने के लिए इस आलापपद्धति की रचना की है। इसका पुष्पिका वाक्य भी है :-

'इति सुखबोधार्थमालापपद्धति विरचिता'

इसके कई जगह से हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। **आलापपद्धति** की कितनी ही प्रतियों में इसका नाम **नयचक्र** भी लिखा मिलता है।

६. आराधनासार

देवसेन मुनिराज के द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ के टीकाकर्त्ता रत्नकीर्त्ति हैं जिन्होंने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार लिखा है-

अश्वसेनमुनिशोऽभूत् पारदृश्वा श्रुतांबुधेः।
पूर्णचंद्रायितं येन स्याद्वादविपुलांबरे ॥१॥

अश्वसेनेति - शास्त्र रूपी समुद्र के पारदर्शी अश्वसेन नामके एक मुनि थे जो कि स्याद्वाद रूपी आकाश में पूर्ण चन्द्रमा के समान आचरण करते थे॥१॥

श्रीमाथुरान्वयमहोदधिपूर्णचंद्रो निर्धूतमोहतिमिरप्रसरो मुनींद्रः।
तत्पट्टमंडनमभूत् सदनंतकीर्ति-र्ध्यानाग्निदग्धकुसुमेषुरनंतकीर्तिः ॥२॥

श्रीमाथुरान्वयेति – जो श्री माथुरान्वयरूपी महासागर को समुल्लसित करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा थे, मोह रूपी अन्धकार के प्रसार को जिन्होंने नष्ट कर दिया था, जो प्रशस्त अनन्त कीर्ति से युक्त थे तथा ध्यान रूपी अग्नि से जिन्होंने काम को भस्म कर दिया था, ऐसे अनन्तकीर्ति मुनि उन अश्वसेन मुनि के पट्टाभरण थे॥२॥

काष्ठासंघे भुवनविदिते क्षेमकीर्तिस्तपस्वी
लीलाध्यानप्रसृमरमहामोहदावानलांभः।
आसीद्दासीकृतरतिपतिर्भूपतिश्रेणिवेणी-
प्रत्यग्रस्रवत्सहचरपदद्वंद्वपद्मस्ततोपि॥३॥

काष्ठेति – उन अनन्तकीर्ति के बाद संसारप्रसिद्ध काष्ठासंघ में क्षेमकीर्ति नाम के तपस्वी मुनि हुए जो विषय सम्बन्धी ध्यान से फैलने वाले, महामोह रूपी दावानल को शान्त करने के लिये जल थे, जिन्होंने काम को दास बना लिया था, और जिनके चरण कमलों के युगल राजसमूह की चोटी में लगी हुई नवीनमालाओं से सहित थे॥३॥

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदये दुर्जयं
रागद्वेषमहांधकारपटलं संवित्करैर्दारयन्।
श्रीमान् राजति हेमकीर्तितरणिः स्फीतां विकासश्रियं
भव्यांभोजचये दिगंबरपथालंकारभूतो दधत्॥४॥

तत्पट्टोदयेति – उन क्षेमकीर्ति के पट्ट रूपी विशाल उदयाचल पर उदय को प्राप्त करने वाले हेमकीर्ति नामके मुनि हुए जो कि सूर्य के समान थे तथा कठिनाई से जीतने योग्य राग द्वेष रूपी महान् अन्धकार के समूह को सम्यग्ज्ञान रूपी किरणों से विदीर्ण करते थे, श्रीमान् थे, भव्य जीव रूपी कमलों के समूह में अत्यधिक विकास की शोभा को धारण करते थे और दिगम्बर पथ के अलंकार स्वरूप सुशोभित हो रहे थे॥४॥

विदितसमयसारज्योतिषः क्षेमकीर्ति-
र्हिमकरसमकीर्तिः पुण्यमूर्तिर्विनेयः।
जिनपतिशुचिवाणीस्फारपीयूषवापी-
स्नपनशमिततापो रत्नकीर्तिश्चकास्ति॥५॥

विदितेति – उन हेमकीर्ति के क्षेमकीर्ति नामक शिष्य थे जो समयसार रूप ज्योतिष के ज्ञाता थे, चन्द्रमा के समान कीर्ति से सहित थे तथा पुण्यमूर्ति थे। उनके शिष्य रत्नकीर्ति थे जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की पवित्र वाणी रूपी अमृत की वापिका में स्नान कर संताप को शान्त किया था॥५॥

आदेशमासाद्य गुरोः परात्मप्रबोधनाय श्रुतपाठचंचुः।
आराधनाया मुनिरत्नकीर्तिष्टीकामिमां स्पष्टतमां व्यधत्त॥६॥

इति प्रशस्तिः।

इति पंडिताचार्यश्रीरत्नकीर्तिदेवविरचिताराधनासारटीका समाप्ता।

आदेशमिति - गुरु की आज्ञा पाकर आगम के स्वाध्याय में निपुण रत्नकीर्ति मुनि ने परात्मा का प्रबोध कराने के लिये आराधनासार की यह अत्यन्त स्पष्ट टीका रची है॥६॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्री रत्नकीर्तिदेवद्वारा विरचित आराधनासार की टीका समाप्त हुई।

टीकाकार ने स्वयं यह श्लोक लिखा है।

ये रत्नकीर्तिदेव काष्ठासंघ के हैं परन्तु 'आराधनासार' देवसेनाचार्य की कृति है जो मूलसंघ की परम्परा में थे।

❋ आराधनासार का प्रतिपाद्य ❋

एक सौ पन्द्रह गाथाओं में रचित इस ग्रन्थ में देवसेनाचार्य ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप चार आराधनाओं का कथन करके अन्त में आराधनाओं के फलस्वरूप सल्लेखना का उल्लेख किया है। क्योंकि आराधना एवं व्रतों का फल अन्त में समाधिमरण करना है। स्वामी **समन्तभद्राचार्य** ने **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** में लिखा है-

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।

केवली भगवान ने तपश्चरण का फल अन्त में समाधिमरण कहा है इसलिए समाधिमरण का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

पंडित आशाधर जी ने भी **सागार धर्मामृत** में लिखा है-

सहगामिकृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितं॥

जिसने संसारनाशक समाधिमरण प्राप्त कर लिया उसने अपने धर्मरूप वृक्ष के फल को सहगामी कर लिया। समाधिमरण का महत्त्व वचनातीत है।

समन्तभद्राचार्य, उमास्वामी आचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, सोमदेवाचार्य आदि महापुरुषों ने श्रावक के १२ व्रतों का कथन करके उन व्रतों का फल अन्त में सल्लेखना (समाधिमरण) कहा है। परन्तु कुन्द-

कुन्दकुन्दाचार्य ने सल्लेखना को श्रावक के चार शिक्षाव्रतों में सम्मिलित किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि श्रावकों को सदा ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मेरा समाधिमरण हो। उमास्वामी, समन्तभद्राचार्य ने शिक्षाव्रत से पृथक् समाधिमरण को व्रतों का फल कहा है अतः अन्त में समाधिमरण को 'मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता' कहकर व्रती मनुष्यों को आज्ञा दी है कि मरणान्त काल में होने वाली सल्लेखना अवश्य ही प्रीतिपूर्वक धारण करनी चाहिए।

समाधिमरण की प्राप्ति व्रती सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है? समाधिमरण से ही कर्मों का क्षय हो सकता है और कर्मों का क्षय होने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

भगवती आराधना में लिखा है कि जो जीव एक भव में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर लेता है वह सात आठ भवों से अधिक संसार में नहीं भटकता। **आराधनासार** में उत्तम, मध्यम और जघन्य आराधना का फल बताते हुए कहा है कि आराधना का उत्तम फल काललब्धि को प्राप्त कर मुक्तिपद को प्राप्त करना है। मध्यफल सर्वार्थसिद्धि अहमिन्द्रपद, स्वर्ग-सम्पदा की प्राप्ति और दूसरे भव में मुक्ति प्राप्त होना है। आराधना का जघन्य फल है सात-आठ भव में निर्वाणपद प्राप्त होना। इस प्रकार समाधिमरण की उपादेयता बतलाने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। **भगवती आराधना भूलाराधना** तो इसका मुख्य ग्रन्थ है। प्रसंगवश अन्य ग्रन्थों में भी सल्लेखना की चर्चा की गई है।

इन्हीं आराधनाओं का सरस और सरल कथन **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** में किया है।

सर्वप्रथम ग्रन्थ के प्रारंभ में आचार्यदेव ने मंगलाचरण करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों आराधनाओं का स्वरूप व्यवहार और निश्चय से बतलाकर व्यवहार आराधनाओं को कारण और निश्चय आराधनाओं को उनका कार्य कहा है। तथा यह भी लिखा है कि क्षपक इन आराधनाओं के कारण कार्यविभाग को जानकर तथा काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर इस प्रकार आराधना करे जिससे वह संसार से मुक्त हो जावे। व्यवहाराराधना बाह्य कारण है और निश्चयाराधना अंतरंग कारण है। इन दोनों कारणों के मिलने पर ही कार्य सिद्ध होते हैं। पृथक्-पृथक् एक कारण से कार्यसिद्धि संभव नहीं है। इसके लिए संस्कृत टीकाकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है-

कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥

दो कारणों से सिद्ध होने वाला कार्य क्या एक कारण से सिद्ध होता है? जैसे कि स्त्री-पुरुष दोनों से उत्पन्न होने वाली संतान क्या कहीं एक से उत्पन्न हो सकती है?

इस प्रकार प्रारंभ की १६ गाथाओं में चार आराधनाओं की संक्षिप्त चर्चा कर मरण के समय आराधना करने वाला कौन हो सकता है, इसकी विशद चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि जिसने कषायों

को नष्ट कर दिया है, जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानसम्पन्न है तथा द्विविध परिग्रह का त्यागी है, संसार सुखों से विरक्त है, वैराग्य को प्राप्त है, परम उपशम भाव को प्राप्त है, विविध प्रकार के तपों से जिसका शरीर तप्त है, आत्मस्वभाव में लीन है, पर द्रव्य की आसक्ति से रहित है तथा जिसके रागद्वेष मंद हो चुके हैं वही महापुरुष मरण समय आराधना का आराधक हो सकता है।

जो मानव रत्नत्रयात्मक विशुद्ध आत्मा की भावना को छोड़कर पर-द्रव्य का चिंतन करता है वह अपनी आराधना का विराधक कहा गया है। उन्होंने यह भी कहा है कि जो निश्चय नय का आश्रय लेकर स्व-पर का भेद नहीं जानता है उसको न तो रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और न उसकी समाधि होती है।

आराधक के लक्षणों को बताते हुए आचार्यदेव ने सात विशेषण दिये हैं- अर्ह, संगत्याग, कषाय-सल्लेखना, परीषह रूपी सेना को जीतना, उपसर्ग को सहन करना, इन्द्रिय रूपी मल्लों को जीतना और मनरूपी हाथी के प्रसार को रोकना।

(१) अर्ह का अर्थ योग्य होता है यानी संन्यास धारण करने योग्य पुरुष।

संन्यास धारण करने योग्य पुरुष वही होता है जो गृहव्यापार से विमुक्त है, पुत्र-पौत्रादिक के ममत्व से रहित है, धन एवं जीवन की आशा से विमुक्त है।

संन्यास का शब्दार्थ है सम्-सम्यक्प्रकारेण, नि-नितरां, असनं परित्यजनं इति संन्यासः' व्युत्पत्ति के अनुसार अच्छी तरह से रागादि विभाव भावों का छोड़ना संन्यास है।

जो अनादिकालीन मोह के कारण शरीर, धन, पुत्र-पौत्रादिक, पद-पदार्थों के संरक्षण एवं संवृद्धि के लिए रात-दिन संलग्न है; ये पर-पदार्थ मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ; इस विपरीत बुद्धि को नहीं छोड़ता है वह संन्यास धारण करने योग्य नहीं है।

जब तक वृद्धावस्था रूपी व्याघ्री आक्रमण नहीं करती है, जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हैं, जब तक बुद्धि हिताहित का विचार करने में समर्थ है, आयु रूपी जल अवशेष है, जो आहार, आसन और निद्रा को जीतने में समर्थ है, अंगोपांग और शरीर के बन्धन शिथिल नहीं हुए हैं, मृत्यु के भय से शरीर कम्पित नहीं हो रहा है, तप-स्वाध्याय और ध्यान में उत्साह है और स्वयं निर्यापक होकर अपनी क्रिया वा संस्तरण करने में समर्थ है वही पुरुष संन्यास धारण करने के योग्य है।

इस प्रकार व्यवहार संन्यास का कथन करके आचार्यदेव ने निश्चय संन्यास की चर्चा करते हुए कहा है कि वास्तव में जो साधु निर्विकल्प समाधि में लीन है, स्वकीय स्वभाव में संलग्न है वही संन्यास धारण करने योग्य है।

(२) संगत्याग - संग शब्द का अर्थ परिग्रह है। वह परिग्रह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो

प्रकार का है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड के भेद से बाह्य परिग्रह १० प्रकार का है। मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, क्रोध, मान, माया और लोभ ये १४ प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

अथवा-शरीर बाह्य परिग्रह है और विषयों की अभिलाषा अन्तरंग परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना संगत्याग कहलाता है।

परिग्रहत्याग से ही मानव परम उपशम भावों को प्राप्त होता है तथा उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव ही आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है। क्योंकि परिग्रह छोड़े बिना मानसिक मलिनता दूर नहीं हो सकती अतः द्विविध परिग्रह का त्याग करने वाला मानव ही संन्यास के योग्य होता है। आचार्यदेव ने 'संगत्याग' को संन्यास में कारण कहा है।

(३) कषाय-सल्लेखना - कषाय-सल्लेखना का अर्थ है कषायों को कृश करना। कषायों की मन्दता के बिना मानव स्वकीय विषयों में दौड़ने वाली इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और न शरीर के प्रति निर्मोह हो सकता है। जो इन्द्रियों एवं मन के आधीन है, शरीर पर ममत्व रखता है वह संन्यास धारण नहीं कर सकता है।

वास्तव में, इन्द्रियविषयों की पूर्ति के लिए ही इस जीव की कषायें जागृत होती हैं अतः इन्द्रियों को जीतना आवश्यक है। यह मानव यद्यपि उपवास, आतापनादि बाह्य योगों के द्वारा शरीर सल्लेखना - शरीर को अत्यन्त कृश कर लेता है परन्तु जब तक कषायों को कृश नहीं करता तब तक वह संन्यास के योग्य नहीं होता।

ये कषायें अत्यन्त बलिष्ठ तथा दुर्जय हैं। इनके द्वारा ही यह ज्ञानमय आत्मा स्वरूप को भूलकर दुःखमय संसार-समुद्र में गोते खा रहा है।

कषायें संयम की घातक हैं और संयम के अभाव में समाधिमरण नहीं होता। अतः संन्यास के लिए कषाय-सल्लेखना आवश्यक है।

(४) परीषहजय - शीतादि परीषह सुभटों के समान अत्यन्त बलवान हैं। ये परीषह महातपस्वी, ज्ञानी, संयमियों को भी एक झटके में संयम के मार्ग से च्युत कर देते हैं। परीषह रूपी योद्धाओं से पराजित हुए मानव संन्यास रूपी युद्धस्थल से विमुख होकर सांसारिक सुखों की शरण में आ जाते हैं। परीषह रूपी दावानल के ताप को बुझाने के लिए ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करना चाहिए। क्योंकि स्वस्वभाव रूपी जल का पान कर मन को शांत करने वाला ही आत्मीय सुख को प्राप्त कर सकता है। अतः परीषहों पर जय प्राप्त करना भी समाधिमरण का कारण है, ऐसा आचार्य ने निर्देश किया है।

(५) उपसर्गसहन - तिर्यंचकृत, देवकृत, मनुष्यकृत और अचेतनकृत के भेद से उपसर्ग चार प्रकार के हैं। सल्लेखना में स्थित मानव को कदाचित् दु:खद उपरिकथित चार प्रकार का उपसर्ग आ जाये तो समता भाव से उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए। आत्मस्वरूप में स्थिर होकर उपसर्गों को सहन करने वाले पुरुषों के चरित्र का चिंतन करके अपने मनको स्थिर करना चाहिए। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकर्त्ता ने शिव भूति, गजकुमार, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र, सुकुमाल आदि मुनियों के दृष्टान्त देकर क्षपक को उपसर्ग सहन करने का मार्मिक उपदेश दिया है। संस्कृत टीकाकार ने इन सबकी कथाएँ देकर इस प्रकरण को अत्यन्त रोचक बना दिया है। उपसर्गसहन भी संन्यास में कारण है।

(६) इन्द्रिय विजयी बनना - आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ में पाँच गाथाओं के द्वारा रूपक अलंकार में इन्द्रियों को शिकारी, काम को बाण, विषयों को वन और मनुष्यों को हरिण की उपमा दी है। उन्होंने लिखा है कि - इन्द्रिय रूपी शिकारियों से पीड़ित मनमथजन्य पीड़ा रूपी बाण से घायल चंचल चित्त वाले मानव रूपी मृग स्वतत्त्व, परतत्त्व, हेयोपादेय कथन करने वाले जिनवचनश्रवण, देवपूजा आदि शुभ कार्यों में प्रीति नहीं करते क्योंकि अनादिकालीन कर्मबंध के कारण आत्मसुख के रस का आस्वादन करके विषय-सुख की अभिलाषा से विषयाटवी में भ्रमण करते हैं, वे मानव संन्यास को धारण नहीं कर सकते अत: इन्द्रिय-विजयी होने का उपदेश दिया है।

(७) मनोविजयी होना - जिन पुरुषों ने विषयों में दौड़ते हुए हाथी को सुदृढ़ ज्ञानरूपी रस्सी से नहीं बाँधा वे पुरुष शारीरिक मानसिक दु:खों से पीड़ित होकर संसाराटवी में भटकते रहते हैं। आचार्यदेव ने क्षपक को सम्बोधित करते हुए कहा है- हे क्षपकराज ! देखो तन्दुलमत्स्य मन के द्वारा किये गए पापों के कारण नरक को प्राप्त होता है, मन से प्रेरित होकर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती है जिससे राग-द्वेष की शृंखला मजबूत होती है अत: तू मन को रोक।

मन के स्थिर हो जाने पर मन की दास इन्द्रियाँ, वचन, काय, राग-द्वेषादि सारे विभाव भाव नष्ट हो जाते हैं। नूतन कर्मों का आस्रव रुक जाता है अर्थात् संवर तत्त्व की उत्पत्ति होती है और असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है। अत: हे क्षपक ! तू अपने मन को स्थिर करने का प्रयत्न कर।

इसके आगे आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ में मन को खाली निर्विकल्प बनाने का उपदेश दिया है। क्योंकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर शुद्धात्मा का अनुभव या दर्शन होता है।

निर्विकल्प मन में ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्पों से शून्य ध्यान की उत्पत्ति होती है, वहीं रत्नत्रय है वहीं आत्मस्थिरता है, वहीं साक्षात् मोक्षमार्ग है।

जिस प्रकार जल के संयोग से नमक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार शून्य ध्यान के माहात्म्य से आत्मा आत्मा में लीन हो जाती है।

जिस प्रकार पत्थर में पत्थर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है और सबको भस्म कर देती है वैसे ही आत्मा में आत्मा की स्थिरता से निर्विकल्प ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है और अनादिकालीन कर्मों को भस्मकर आत्मा को शुद्ध एवं निर्मल बना देती है।

आचार्यदेव ने कहा है कि इस निर्विकल्प ध्यान के द्वारा यह आत्मा शरीर एवं कर्मबन्धन से मुक्त होकर अतीन्द्रिय सुख का भोक्ता बनता है।

अन्त में, ग्रन्थ कर्त्ता ने क्षपक को सावधान करते हुए मार्मिक देशना दी है। उन्होंने कहा है-

हे क्षपक ! तू धन्य है, तेरा यश चिर काल तक विस्तरित रहेगा क्योंकि तूने मनुष्यभव पाकर संयम धारण किया है और उत्तम संन्यासमरण का संकल्प किया है। यदि संन्यासमरण की साधना में तुझे भूख, प्यास आदि से कष्ट होता है तो उसको समभाव से सहन कर। क्योंकि पराधीनता से तूने अनन्त दुःखों को सहन किया है। अब तू स्वाधीन होकर सहन करेगा तो कर्मों की निर्जरा करेगा।

हे क्षपक ! जब तक यह जीव रूपी सुवर्ण शरीर रूपी मूषा के अन्दर ज्ञान रूपी पवन से प्रज्वलित होता हुआ तप रूपी अग्नि से संतप्त नहीं होता तब तक निष्कलंक नहीं बन सकता।

हे क्षपक ! तू निरन्तर शरीर से भिन्न आत्मा का ध्यान कर। जिस प्रकार म्यान से तलवार भिन्न है उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है, ऐसा ध्यान कर। आत्मस्वरूप का दृढ़ निश्चय करने वाला कभी आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता।

अन्त में, आचार्यदेव ने उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार से आराधना का कथन करके तथा उनके फल का वर्णन कर ग्रन्थ को समाप्त किया है।

गणिनी आर्यिका १०५ सुपार्श्वमती माताजी की संघस्था
बालब्रह्मचारिणी डॉ. प्रमिला जैन

卐 卐 卐

卐 विषय - सूची 卐

विषय	पृष्ठ संख्या
✤ संस्कृत टीकाकार का मङ्गलाचरण और पौरिक वाक्य	१
✤ ग्रन्थकर्ता श्री देवसेनाचार्य द्वारा मङ्गलाचरण और टीकाकार के द्वारा उसके बारह अर्थों का वर्णन	७
✤ आराधना का लक्षण और उसके भेद	२३
✤ व्यवहाराराधना के लक्षण और भेद	२४
✤ व्यवहार - सम्यग्दर्शन आराधना का लक्षण तथा निर्देश आदि अनुयोगों के द्वारा उसका विस्तृत वर्णन	२६
✤ व्यवहारसम्यग्ज्ञान-आराधना का लक्षण	३८
✤ व्यवहार चारित्राराधना का लक्षण और संस्कृत टीकाकार के द्वारा चारित्र के भेदों का विस्तार से निरूपण	४०
✤ व्यवहार तप आराधना का लक्षण, संस्कृत टीकाकार के द्वारा तपों का निरूपण और निश्चयनय के जिज्ञासु क्षपक को पहले व्यवहाराराधना की अच्छी तरह उपासना करना चाहिए, उसका वर्णन	४४
✤ शुद्धनय की अपेक्षा वर्णन	४७
✤ निश्चयाराधना का विशेष वर्णन	४८
✤ आराधना; आराध्य; आराधक और आराधना के फल का निश्चय नय से वर्णन	५०
✤ निश्चयाराधना के रहते हुए व्यवहाराराधना से क्या साध्य है? इसका समाधान; व्यवहाराराधना, निश्चयाराधना का कारण है	५२
✤ क्षपक संसार से कैसे मुक्त होता है? इसका समाधान; कारण और कार्य के विभाग को जानकर ही यह जीव संसार से मुक्त होता है	५३
✤ आत्मा की आराधना से रहित जीव चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता है	५४
✤ संसार के कारणभूत अनेक अवलम्बनों को छोड़कर शुद्ध आत्मा की आराधना करनी चाहिए	५६
✤ व्यवहाराराधना भी परम्परा से मोक्ष का कारण है	५७

- किन लक्षणों से युक्त पुरुष आराधक होता है? इसका समाधान ५८
- परद्रव्य का चिन्तक विराधक होता है ६१
- निश्चय नय से आत्मा को न जानने वाले पुरुष को बोधि; ६३
- समाधि और आराधना का अभाव होता है ऐसा वर्णन; अर्ह, संगत्याग तथा कषाय सल्लेखना आदि अधिकारों की नामावली ६४
- **'अर्ह' नामक अधिकार** के अन्तर्गत संगत्याग तथा कषाय सल्लेखनाधारण करने के अर्ह-योग्य कौन होता है? इसका वर्णन ६६
- निश्चय अर्ह का लक्षण ७३
- **संगत्याग अधिकार** के अन्तर्गत बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग करने वाला पुरुष सल्लेखना का धारक होता है, ऐसा वर्णन ७४
- **कषाय-सल्लेखना नामक अधिकार** के अन्तर्गत मन्द कषायी कौन होता है इसका वर्णन ७८
- कषाय-सल्लेखना के बिना शरीर की सल्लेखना व्यर्थ है ७९
- कषायों की बलवत्ता का वर्णन ८०
- कषायवान् जीव संयमी नहीं होता है ८२
- कषायों के कृश होने पर ही क्षपक ध्यान में स्थिर होता है ८२
- कषाय-सल्लेखना का फल ८३
- **परिषहचमू विजय नामक अधिकार** के अन्तर्गत परिषहों का स्वरूप और उनके जीतने का वर्णन ८४
- परिषहरूपी सुभटों से पराजित हुए पुरुष शरीरसुख की शरण में जाते हैं ९०
- परिषहरूपी सुभटों से पराभूत हुआ मुनि कैसी भावना से उन्हें जीत सकता है इसका वर्णन ९१
- तीव्रवेदना से आक्रान्त क्षपक को उपशम भावना करना चाहिये ९३
- परिषहरूपी सुभटों से भयभीत हुए क्षपक उपहास को प्राप्त होते हैं ९४
- परिषह से भयभीत क्षपक को गुप्तिरूप दुर्ग का आलम्बन लेना चाहिये ९५
- परिषहरूपी दावानल से संतप्त पुरुष को ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करना चाहिये ९७

- **उपसर्गसहन अधिकार** के अन्तर्गत उपसर्गों के आने पर मुनि को क्या करना चाहिये इसका वर्णन ९८
- ज्ञानमय भावना में चित्त लगाने वाले पुरुष ही अचेतनादि चार प्रकार के महान् उपसर्गों को सह सकते हैं ९९
- शिवभूति मुनि ने अचेतनकृत और सुकुमाल तथा सुकौशल मुनि ने तिर्यंचकृत उपसर्ग सहन किया इस कथन के अन्तर्गत संस्कृतटीका के द्वारा शिवभूति मुनि की कथा का वर्णन १००
- सुकुमाल मुनि की कथा १०३
- सुकौशल मुनि की कथा ११३
- गुरुदत्त, पाण्डव तथा गजकुमार के द्वारा मनुष्यकृत उपसर्गों के सहन करने का वर्णन ११७
- गुरुदत्त की कथा ११८
- पाण्डवों की कथा १२०
- गजकुमार की कथा १२१
- चाणक्य मुनि की कथा/अभिनन्दन आदि ५०० मुनियों की कथा १२३
- अकम्पन मुनिराज की कथा १२४
- श्रीदत्त तथा सुवर्णभद्र आदि मुनियों ने देवकृत उपसर्ग सहन किये १३०
- श्रीदत्त की कथा १३०
- जिस प्रकार इन मुनियों ने उपसर्ग सहन किये हैं उसी प्रकार हे क्षपक! तू सहन कर १३२
- संजयन्त मुनि का चरित्र १३२
- **इन्द्रियमल्लजय नामक अधिकार** के अन्तर्गत इन्द्रियरूपी शिकारियों से पीड़ित हुए मनुष्य रूपी हरिण विषयरूपी वन में प्रवेश करते हैं, इसका वर्णन १३४
- विषयाभिलाषा से दर्शन ज्ञान चारित्र और तप सभी निष्फल हैं १३५
- इन्द्रियविषयों के विकार रहते हुए समस्त दोषों का परिहार नहीं हो सकता १३७
- इन्द्रियरूपी मल्लों से पराजित हुए पुरुष विषयों की शरण में जाकर उनमें सुख मानते हैं १३८
- इन्द्रियजन्य सुख परद्रव्य के समागम से होने के कारण सुख नहीं है १४०

- **मनोगजप्रसारनिरोध नामक अधिकार** के अन्तर्गत इन्द्रिय रूपी सेना मनरूपी राजा से प्रेरित होकर ही प्रसार को प्राप्त होती है, इसका वर्णन १४१
- मनरूपी राजा एक पलभर में समस्त जगत् का उपभोग करता है अतः उसके तुल्य कोई नहीं है ऐसा निरूपण १४२
- मनरूपी राजा के मरने पर इन्द्रियों की सेना मरती है और उसके मरने पर समस्त कर्म मरते हैं-नष्ट होते हैं, कर्मों के मरने पर मोक्ष और मोक्ष के होने पर सुख होता है, इसलिये मन को मारो १४३
- मनरूपी ऊँट को ज्ञानरूपी मजबूत रस्सी से न बाँधने वाले संसार-भ्रमण करते हैं १४५
- मन के दोष से ही शालिसिक्थ मच्छ नरक को प्राप्त होता है १४७
- मन को वश में करने का उपदेश १४८
- विषयों की रति शान्त होने पर मन का प्रसार रुकता है १४९
- विषयों का आलम्बन छोड़ कर ज्ञान स्वभाव का आलम्बन लेने से जीव मोक्षसुख को प्राप्त होता है १५०
- मन रूपी वृक्ष को खण्डित करने का उपदेश १५०
- मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों में नहीं जाती हैं, ऐसा वर्णन १५१
- मन का व्यापार नष्ट होने पर आस्रव का निरोध और मन का व्यापार उत्पन्न होने पर कर्मों का बंध होता है १५२
- जब तक रागद्वेष को छोड़कर यह जीव अपने मन को शून्य नहीं करता है तब तक कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता १५३
- मन के निःस्पन्द हुए बिना सिर्फ शरीर और वचन के निरोध से कर्मों के आस्रव नहीं रुकते १५४
- मन का संचार रुक जाने पर ही केवलज्ञान प्रकाशित होता है १५५
- कर्मक्षय की इच्छा रखने वाले पुरुष को अपना मन शून्य बनाना चाहिये १५६
- विषयों से चित्त के हटाने पर निजस्वभाव की प्राप्ति होती है १५७
- आत्मस्वभाव में शून्य नहीं होना चाहिये, इसका वर्णन १५९
- शून्य ध्यान के समय क्षपक की कैसी अवस्था होती है १६१
- शून्य ध्यान का लक्षण १६२

- शुद्ध भाव ही चेतना, ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र है १६४
- निश्चय नय से दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा में भिन्न नहीं हैं १६५
- रागादि विकारी भावों से रहित होने के कारण आत्मा शून्य कहलाता है अपने गुणों से नहीं १६६
- चित्स्वभाव आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा कथन १६८
- विकल्पों के रहते हुए शून्य ध्यान नहीं होता है १६९
- पानी में नमक की तरह जिसका चित्त ध्यान में विलीन हो जाता है उसी के आत्मा रूपी अग्नि प्रकट होती है १७०
- मन रूप गृह के ऊजड़ होने तथा समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट होने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाती है १७२
- शून्य ध्यान में लीन रहने वाले क्षपक के समस्त कर्मों का क्षय होता है १७३
- समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय प्रकट होते हैं १७४
- कर्म रूपी कलंक से मुक्त आत्मा समस्त लोकालोक को जानती है १७६
- सिद्धात्मा अनन्त काल तक अनन्तसुख का उपभोग करते हैं १७८
- संसार से मोक्ष-छुटकारा पाने के लिए क्षपक चार आराधनाओं का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करे १७९
- सर्व परिग्रह का त्याग कर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है ऐसे ज्ञानी जीव ही धन्य भाग हैं। इसी के अन्तर्गत संस्कृत टीकाकार के द्वारा सल्लेखना की विधि का वर्णन १८०
- तीव्र वेदना से दुखी क्षपक को किस तरह सम्बोधित किया जाता है, इसका वर्णन १८४
- सल्लेखना के समय क्षपक को शरीर और मन सम्बन्धी दुःख होता है, इसका वर्णन १८५
- कठोर संस्तर आदि से होने वाले दुःखों के सहन करने का उपदेश १८६
- अग्नि के संसर्ग से जल के समान चतुर्गति के दुःख से यह जीव संतप्त होता है १९०
- पूर्वोक्त भावना से भावित क्षपक दुःख रूपी शून्य को कुछ भी नहीं गिनता है १९१
- रागद्वेष और विषय सुख को छोड़ कर निजात्मा के ध्यान का उपदेश १९३
- तप रूपी अग्नि से ही जीव रूपी सुवर्ण निष्कलंक होता है १९४
- दुःख शरीर को होता है और शरीर मेरा नहीं है इस भावना से दुःखों को सहन करने का उपदेश १९५

- अनन्तसुख स्वभाव से युक्त मुझको कोई भी व्याधि आदि नहीं है, ये सब शरीर के होते हैं, ऐसा उपदेश — १९७
- आत्मा के शुद्ध स्वभाव का चिन्तन — १९८
- म्यान से तलवार के समान शरीर से आत्मा के भिन्न करने का उपदेश — २००
- आर्त्त-रौद्रध्यान को छोड़कर आत्मा को आत्मस्वभाव में स्थिर करने का उपदेश — २०१
- आराधना का फल — २०२
- आत्मध्यान के बिना मोक्ष नहीं होता — २०६
- सर्व परिग्रह के त्यागी आत्मा का ध्यान कर नियम से सिद्ध होते हैं — २०७
- **आराधनासार** का उपदेश देने वाले आचार्यों को ग्रन्थकार का वन्दन — २०९
- ग्रन्थकार का लघुताप्रदर्शन और क्षमायाचना करते हुए समारोप — २१०
- संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति — २१२

॥ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतिजिनेन्द्रेभ्यो नमः॥

॥ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने नमः॥

॥ॐ ह्रीं श्रीशांतिवीरचन्द्रशिवधर्माजितसूरिभ्यो नमोनमः॥

श्रीमद् देवसेनाचार्यविरचितः

आराधनासारः

(श्री रत्नकीर्तिदेव विरचित संस्कृतटीका सहित)

❊ मंगलाचरण ❊

सिद्धानाराधनासार-फलेन फलितात्मनः।
ध्यात्वा व्याख्यानतीर्थेन स्वस्यात्मानं पुनाम्यहम् ॥१॥

अन्वयार्थ - आराधनासारफलेन फलितात्मनः=आराधना के सार से फलित है आत्मा जिसका ऐसे। सिद्धान्-सिद्धों को। ध्यात्वा=ध्यान करके। व्याख्यानतीर्थेन=व्याख्यानरूपी तीर्थ से। स्वस्य=अपनी। आत्मानं=आत्मा को । अहं=मैं। पुनामि=पवित्र करता हूँ।

भावार्थ - 'राध् संसिद्धौ' राध् धातु सिद्धि अर्थ में होती है। अथवा-"आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च।" आराधन शब्द साधन, प्राप्ति और तोषण अर्थ में आता है। अतः जिससे साध्य की सिद्धि होती है उसे आराधना कहते हैं।

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इनमें परिणति करना, इनको दृढ़ता पूर्वक धारण करना, इनके मन्द पड़ जाने पर पुनः जागृत करना और इनका आमरण पालन करना आराधना है।"[१]

२५ दोष रहित और आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन का पालन करना **सम्यग्दर्शन** का उद्योत है।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान का पालन करना वा यथावद् वस्तु का निर्णय करना **सम्यग्ज्ञान** का उद्योत है।

निर्दोष **सम्यक्चारित्र** का पालन करना चारित्र का उद्योत है। भूख-प्यास से आकुलित होकर असंयम रूप परिणामों का नहीं होना **तप** का उद्योत है।

उद्यवन का अर्थ मिश्रण है। अतः आत्मा का **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप** में परिणत होना, लीन होना सम्यग्दर्शनादि का **उद्यवन** है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपको दृढ़तर धारण करना **निर्वहण** है।

किसी कारण से सम्यग्दर्शन आदि के शिथिल होने पर उनको पुनः जागृत करना, उनको शिथिल नहीं होने देना **साधन** है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का जीवन पर्यन्त निर्दोष रूपसे पालन करना **निस्तरण** है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण को **आराधना** कहते हैं।

समता, माध्यस्थ, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और आत्मस्वभावरूप धर्म की साधना वा सिद्धि जिन कारणों से की जाती है, उसे **आराधना** कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि पुरुषों का, सम्यग्दर्शनादिक से होने वाले अतिशयों में वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपश्चरण के प्रति मानसिक अनुराग, प्रीति वा भक्ति है उसे **आराधना** कहते हैं।

---

१. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया॥२॥
- भगवती आराधना (मू.)

संक्षेप से, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के भेद से आराधना के दो भेद हैं और विस्तार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के भेद से चार भेद हैं।

"सरति, सर्वोत्कृष्टं प्राप्नोति इति सारं"। जो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है वह सार कहलाता है। जो सम्यग्दर्शनादि सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हुए हैं वह **आराधनासार** कहलाता है।

आराधना के सार का फल है-स्वात्मोपलब्धि, शिवसौख्यसिद्धि। आराधना के सार के फल से फलित है आत्मा जिसकी उसे कहते हैं आराधनासार के फल से फलितात्मा।

यद्यपि आराधना के सार के फलसे फलित आत्मा वाले पाँच परमेष्ठी होते हैं, परन्तु वास्तव में तो सिद्ध भगवान हैं। इसलिए आराधनासार के फल से फलित आत्मा यह सिद्ध भगवान का विशेषण है।

सिद्ध शब्द 'षिधुञ्'धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है सि-सितं बद्धं अष्टप्रकारं कर्मेन्धनं= सि शब्द का अर्थ है अनादि कालसे बँधे हुए आठ प्रकार के कर्म रूप ईंधन को, 'द्ध'-ध्यातं दग्धं जाज्वल्यमान शुक्लध्यानानलेन येन=जलादिया है, भस्म कर दिया है जाज्वल्यमान शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिन्होंने। अर्थात् जिन्होंने शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अनादिकालीन आठ कर्म रूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर दिया है, उनको सिद्ध कहते हैं।

अथवा-'षिधु गतौ' सिद्ध धातु गमन अर्थ में है- जिससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जो शिव-लोक में पहुँचकर स्थित हो गये हैं, वहाँ से लौटकर पुनः संसार में नहीं आयेंगे, उनको सिद्ध कहते हैं।

"जिन्होंने अनादि काल से आत्मा से बँधे हुए पुरातन कर्मों को शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा भस्म कर दिया है। जो परम निवृत्तिधाम को (मोक्ष महल को) प्राप्त हो गये हैं। वहाँ से पुनः लौटकर नहीं आयेंगे। भव्यों के द्वारा उपलब्ध गुणसंदोह से वे विख्यात हैं, जगत्प्रसिद्ध हैं, अनुशास्ता हैं, कृतकृत्य हैं, परिनिष्ठितार्थ हैं; ऐसे सिद्ध मेरे लिए मंगलकारी होवें।[१]

शास्त्रारम्भ की आदि में 'स' वर्ण का प्रयोग करना सुखद होता है-इसलिए आचार्यदेव ने सर्व प्रथम स (सिद्ध) वर्ण का प्रयोग किया है।

इस प्रकार के सिद्धों का ध्यान करके मैं आराधनासार की व्याख्या रूपी (टीकारूपी) तीर्थ के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करता हूँ।

---

१. ध्यातं सितं येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमंगलो मे॥ भगवती सू. १, १, १

इस मंगलाचरण में टीकाकार आचार्यदेव ने सिद्ध शब्द से अरिहंत, सिद्ध रूप परम पद को प्राप्त परमात्मा को नमस्कार करके आराधनासार की टीका करने की प्रतिज्ञा की है।

जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रपद्महृदविनिर्गता।
सप्तभंगमयी गंगा मां पुनातु सरस्वती ॥२॥

अन्वयार्थ - जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रपद्महृदविनिर्गता=जिनेन्द्र भगवान रूपी हिमवान पर्वत के मुखरूपी पद्मसरोवर से निकली हुई। सप्तभंगमयी=अस्ति नास्ति आदि सप्त भंगों से व्याप्त। सरस्वती=सरस्वती रूपी। गंगा=गंगा। मां=मुझको। पुनातु=पवित्र करे।

भावार्थ - इस श्लोक में आचार्यदेव ने रूपक अलंकार में सरस्वती को गंगा की उपमा दी है। जैसे हिमवान् पर्वत के पद्म नामक तालाब से निकली हुई गंगा सबको पवित्र करती है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान रूपी हिमवान् पर्वत और उनके मुखरूपी पद्म सरोवर से निकली हुई तथा सप्त भंग रूपी कल्लोलों से व्याप्त सरस्वती रूपी गंगा हम सबको पवित्र करे॥२॥

गुरूणां चरणद्वन्द्वं महामंत्रोपमं वसत्।
सदा मद्हृदयांभोजे हियाद्विघ्नपरंपराम् ॥३॥

अन्वयार्थ - महामंत्रोपमं=महामंत्र के समान। सदा=निरंतर। **मद्हृदयांभोजे**=मेरे हृदय रूपी कमल में। वसत्=स्थित वा रहने वाले। गुरूणां=गुरुओं के चरण द्वन्द्वं= दोनों चरण कमल। विघ्नपरंपरां=विघ्नों की परंपराको। हियात्=नष्ट करें।

भावार्थ - जिस प्रकार हृदय स्थित महामंत्र (णमोकार मंत्र) जप करने वाले के सारे विघ्नों को दूर करता है, उसी प्रकार हृदय में स्थित गुरुराजों के चरण कमल शिष्य के सारे विघ्नों को नष्ट करते हैं। जिसके हृदय में गुरुभक्ति है, गुरु के चरण हृदय में स्थित हैं, उसके किसी भी कार्य में विघ्न नहीं आता है। सर्व कार्य अनायास सफल होते हैं।

''गुरु की भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है तो अन्य कार्यों की सिद्धि में आश्चर्य ही क्या है! जिस रत्न से तीन लोक की सम्पदा प्राप्त होती है क्या उस रत्न से तुषों का समूह प्राप्त होना दुर्लभ है? अर्थात् दुर्लभ नहीं है।

गुरुभक्ति की शक्ति अचिंत्य है- 'गुरुस्नेहः कामसूः'

गुरु का स्नेह सर्व इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है।

अथ संसार-महापारावारपारासन्नप्रदेशस्थेन निरुपाधिनिरुपद्रवाविनश्वरसनातनानंत-सौख्यसमुदायोपायचिंतनं निर्गमितनिरंतरकालेन सिद्धालयवेलापत्तनं जिगमिषुणा जिनोदितभेदाभेदरत्नत्रय-पोतसमारूढेन स्वभावोत्थितपरमकरुणारसपूरप्रभावेण भवदुःखाग्निदंदह्यमानानन्यानपि भव्यजीवांस्तद्योग्योपदेशव-चनैस्तत्रारोप्य पारं कर्तुकामेन स्वयं कर्णधारायमानेन स्वयमेव सार्थवाहाधिपायमानेन तन्मार्गलग्नशीघ्रतरप्रधावमानमहामोहाभिधानचौरनरेन्द्रकिंकरीभूतविषय-कषायलुंटाकभीतिनिराकरणाय समाश्रितसकलसिद्धांतरहस्यभूतनिश्चयव्यवहारभेदभिन्नचतुर्विधाराधनाग्रंथ-संग्रथितपरमशब्दब्रह्मप्रयत्नेन अनेकांतमरुन्मार्गस्तर्यायमानेन श्रेयोमार्गसंसिद्धिशिष्टाचारप्रपालननास्तिक्य-परिहारार्थनिर्विघ्नपरिसमाप्तिफलचतुष्टयाभिलाषुकेण परमसम्यक्त्वाद्यष्टप्रसिद्धविमलतरगुणसमृद्धानां सिद्धानां

शब्दार्थः- अथ=अब। संसारमहापारावारपारासन्नप्रदेशस्थेन=संसार रूपी समुद्र के निकट स्थित। निरुपाधिनिरुपद्रवाविनश्वरसनातनानंत सौख्य समुदायोपायचिंतनं=उपाधिरहित, उपद्रवरहित, अविनश्वर, सनातन अनन्त सुख के समुदाय के उपाय के चिन्तन में। निर्गमित निरंतरकालेन=निकल रहा है निरन्तर काल जिनका। सिद्धालयवेलापत्तनं=सिद्धालय रूपी नगर को। जिगमिषुणा=प्राप्त करने की इच्छा करने वाले। जिनोदित भेदाभेदरत्नत्रय पोत समारूढेन= जिनेन्द्र भगवान कथित भेद और अभेद रूप दो प्रकार के रत्नत्रय के जहाज पर आरूढ़। स्वभावोत्थित परम करुणा रस पूर प्रभावेण= स्वभाव से उत्पन्न परम करुणारस के पूर से प्रभावित। भवदुःखाग्निदंदह्यमानान्=संसार दुःख रूपी अग्निके द्वारा जलते हुए। अन्यान्=अन्य। भव्यजीवान्= भव्यजीवों को। अपि= भी। तद्योग्योपदेशवचनैः= उनके योग्य उपदेश वचन के द्वारा। तत्र= उस रत्नत्रयरूपी नौका पर। आरोप्य=आरूढ़ कराकर। पारं=संसार समुद्र को पार। कर्तुं=कराने की। कामेन= इच्छा वाले। स्वयं= आप। कर्णधारायमानेन- कर्णधार के समान आचरण कर रहे हैं और। स्वयं एव= स्वयं ही। सार्थवाहाधिपायमानेन= सार्थवाह अधिप है। तन्मार्गलग्न शीघ्रतर प्रधावमान महामोहाभिधान चौरनरेन्द्र किंकरी भूत विषय कषायलुंटाक भीति निराकरणाय= मोक्षमार्गगामी के पीछे शीघ्रतर दौड़ते हुए महा मोहनामक चौर नरेश के किंकरभूत विषयकषाय रूपी लुटेरों की भीति को दूर करने के लिए। समाश्रित सकल सिद्धान्त रहस्यभूत निश्चयव्यवहार भेद भिन्न चतुर्विधाराधना ग्रंथ संग्रथित परम शब्द ब्रह्म-प्रयत्नेन=आश्रय लिया है सकल सिद्धान्त के रहस्यभूत निश्चय व्यवहार भेद से भिन्न चार प्रकार के आराधना ग्रन्थ से संग्रथित परम शब्द ब्रह्म के प्रयत्न का जिन्होंने। अनेकान्तमरुन्मार्गस्तर्यायमानेन= अनेकान्तरूपी आकाशमार्ग में सूर्य के समान आचरण करने वाले। श्रेयोमार्ग-संसिद्धि शिष्टाचार-परिपालन नास्तिक्य-परिहारार्थं निर्विघ्न-परिसमाप्तिफल चतुष्टयाभिलाषुकेण=श्रेयोमार्गकी सिद्धि, शिष्टाचार का पालन, नास्तिकता का परिहार और शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति रूप चार फलों के अभिलाषी। महावीर विशेषण संयुक्त=महावीर विशेषण से युक्त। परम सम्यक्त्वाद्यष्ट प्रसिद्ध विमलतर गुण समृद्धानां=परम सम्यग्दर्शनादि

महावीरविशेषणयुक्तानां द्रव्यभावभेदभिन्नं द्विविधं नमस्कारं कुर्वाणेन आराधनासारं वक्ष्येहमिति प्रतिज्ञां विरचयता च श्रीमत्परमभट्टारकश्रीदेवसेनाचार्येण स्तोत्रमिदं विधीयते।

अष्ट निर्मलतर गुणों से समृद्ध। सिद्धानां=सिद्धोंको। द्रव्यभाव भेद भिन्नं=द्रव्य और भाव के भेद से। द्विविधं-दो प्रकार के। नमस्कारं=नमस्कार को। कुर्वाणेन= करते हुए। आराधनासारं=**आराधनासार** को। अहं=मैं। प्रवक्ष्ये=कहूंगा। इति=इस प्रकार की। प्रतिज्ञां= प्रतिज्ञा को। विरचयता= करने वाले। श्रीमत्परम-भट्टारक-श्रीदेवसेनाचार्येण= श्रीमत्परमभट्टारक श्री देवसेन आचार्य के द्वारा। इदं=यह। स्तोत्रं=मंगलाचरणरूपस्तोत्र। विधीयते-किया जा रहा है।

भावार्थ=आराधनासार ग्रन्थ की टीका करने वाले **श्री रत्नकीर्ति देव** ने इस ग्रन्थ की टीका के प्रारंभ में ग्रंथ **रचयिता देवसेन आचार्य** की उपर्युक्त विशेषणों से विशेषता प्रगट की है वह इस प्रकार है-

संसार एक महासमुद्र है जिसका पार पाना बहुत कठिन है, परन्तु देवसेन आचार्य इस संसार-समुद्र के तीर पर स्थित हैं अर्थात् आसन्नभव्य हैं। निरुपाधि-जिसकी तुलना किसी दूसरे सुख के साथ नहीं की जा सकती। निरुपद्रव-जिसमें किसी भी कारणों से उपद्रव नहीं आ सकता। अविनाशी, सनातन, अनन्त सुख की प्राप्ति के कारणों के चिंतन में ही जिनका समय व्यतीत हो रहा है अर्थात् जो निरंतर अनन्त अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का ही चिन्तन करते हैं। जो सिद्धालय रूपी नगर में प्रवेश करने के इच्छुक हैं। भेद-अभेद रूप रत्नत्रय की नौका पर आरूढ़ हैं अर्थात् जो निश्चय और व्यवहारमय रत्नत्रय के धारक दिगम्बर मुनि हैं।

स्वभाव से ही जिनका हृदय करुणा रस से परिपूर्ण है, इसलिए वे अन्य भव्य जीवों को उनके योग्य उपदेशों के द्वारा सम्बोधित करके रत्नत्रय रूपी नौका पर चढ़ाकर संसार-समुद्र से पार करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् शिष्यों, भव्य जीवों को शिक्षा-दीक्षा देते हैं। अतः वे स्वयं नौका के खेने के लिए (चलाने के लिए) कर्णधार हैं तथा स्वयं उस नौका पर बैठने वाले सार्थवाहाधिप भी हैं अर्थात् स्वयं संसार-समुद्र से पार होते हैं और दूसरों को पार करते भी हैं।

जिन्होंने मोक्षमार्गगामी भव्य जीवों के पीछे शीघ्रता से दौड़ने वाले महामोहनामक चोर राजा के किंकरभूत विषय कषाय रूपी लुटेरों से होने वाले भय को दूर करने के लिए (विषय-कषाय रूपी चोरों का नाश करने के लिए) निरंतर सकल सिद्धान्त का रहस्यभूत निश्चय एवं व्यवहार के भेद से विभाजित चार प्रकार के आराधना ग्रन्थ से ग्रथित शब्द ब्रह्मा का आश्रय लिया है। अर्थात् विषय-कषायों से बचने के लिए चार प्रकार के आराधना ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन और अध्यापन करते हैं। जो अनेकान्त रूपी आकाश मार्ग में सूर्य के समान आचरण कर रहे हैं, ऐसे श्री देवसेन आचार्य-

श्रेयोमार्ग की सिद्धि, शिष्टाचार का परिपालन, नास्तिकता का परिहार और शास्त्र की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए, महावीर विशेषण से संयुक्त, परम सम्यक्त्वादि (सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व) अष्ट प्रसिद्ध निर्मलतर गुणों से युक्त सिद्धों को **भाव**[१] और **द्रव्य**[२] दोनों प्रकार का नमस्कार करके "मैं आराधनासार ग्रन्थ कहूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर मंगलाचरण करने के लिए स्तोत्र कहते हैं-

---

१. स्तुत्य के गुणों का मनमें चिन्तन करना, उनके प्रति अनुराग होना **भाव नमस्कार** है।

२. वचनों से स्तुति करना, हाथ जोड़कर सिर झुकाना **द्रव्य नमस्कार** है।

विमलयरगुणसमिद्धं, सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा।
णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं ॥१॥

विमलतरगुणसमृद्धं सिद्धं सुरसेनवंदितं शिरसा।
नत्वा महावीरं वक्ष्ये आराधनासारम् ॥१॥

वोच्छं वक्ष्ये। कोसौ। अहं देवसेनाचार्यः। कं। **आराहणासारं** आराधनासारं मुमुक्षुभिराराध्यते या सा आराधना, आराधनायाः सारः आराधनासारः तं आराधनासारं सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयरूपेण सारीभूतं। किं कृत्वा। **णमिऊण** नत्वा नमस्कृत्य। कं। **सिद्धं** सिद्धं केवलज्ञानाद्यनंतगुणप्रादुर्भावलक्षणं परमात्मानं। किंविशिष्टं। **विमलयरगुणसमिद्धं** निर्मलतर-शुद्धचैतन्यगुणसंपूर्णं। पुनः किं विशिष्टं। **सुरसेणवंदियं** सुरसेनवंदितं सौधर्मेन्द्रप्रमुखचतुर्णिकायामरवीतनमस्कृतं। पुनरपि किंविशिष्टं? महावीरं अन्येषामप्याराधकपुरुषाणां ध्यानरणरंगभूमावनादिलग्नकर्माष्टकविपक्षचक्रविनाशनैकसुभटं? केन। **सिरसा**

निर्मलतर गुणों से परिपूर्ण, सुरसेन के द्वारा वंदनीय महान् वीर सिद्धों को सिर से नमस्कार करके मैं देवसेनाचार्य आराधनासार ग्रन्थ कहूँगा ॥१॥

श्री रत्नकीर्त्ति आचार्य इन शब्दों का विशेष अर्थ करते हैं।

कर्मों से छूटने की इच्छा करने वाले मुमुक्षुओं के द्वारा जो क्रिया करने योग्य है, उसे **आराधना** कहते हैं। सम्पूर्ण आराधनाओं में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये सार (श्रेष्ठ) हैं। अतः ये आराधना सार कहलाते हैं। विमलयरगुणसमिद्धं= अत्यन्त निर्मल गुणों से युक्त हैं अर्थात् निर्मलतर शुद्ध चैतन्य गुण से परिपूर्ण हैं। चारों निकाय के देवों के समूहों द्वारा वंदनीय हैं, पूजनीय हैं। अतः सुरसेन-वंदनीय हैं। महावीर=अन्य आराधक पुरुषों के ध्यान रूपी रणांगण में अनादिकाल से लगे हुए आठ कर्म रूपी शत्रुओं के चक्र को विनाश करने में सुभट हैं। जो इन सिद्धों का ध्यान करते हैं उनके कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। इसलिए महावीर सिद्धों का विशेषण है। ऐसे **सिद्ध**=केवलज्ञानादि अनन्तगुण जिनके प्रगट हो गये हैं ऐसे विकल परमात्मारूप सिद्ध भगवान को सिर झुकाकर, नमस्कार करके मैं **देवसेनाचार्य आराधनासार** कहूँगा।

अथवा, महावीर आदि शब्दों की दूसरे रूप से व्याख्या करते हैं। विमलयरगुणसमिद्धं=प्रसिद्ध चार घातिया कर्म रूप अन्धकार के नाश होने से एक साथ उत्पन्न हुए प्रताप और प्रकाश की अभिव्यक्ति रूप सूर्य के दृष्टान्त के स्थानीय भूत, भविष्यत् वर्तमान रूप त्रिकालगोचर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप तीन लक्षणों से लक्षित, तीन लोक के भीतर रहने वाले शुद्ध चैतन्य गुण से विलसित (शोभित) परमात्मा जीवनामा पदार्थ को आदि लेकर सारे (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) पदार्थों को एक समय में सामान्य विशेष रूप से ग्रहण करने में समर्थ ऐसे निर्मलतर केवलदर्शन और केवलज्ञान से परिपूर्ण, प्रसिद्ध **'सुरसेनवंदित'** गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक महोत्सव में माता-पिता के साथ सम्पूर्ण चार निकाय के देवों के द्वारा वन्दनीय, **महावीरं** 'ई' चतुर्थ स्वरूप, एकाक्षर नाम प्रसिद्ध कोश में लिखित लक्ष्मी

मस्तकेन। यदि च महावीरमिति विशेष्यपदपक्षं कक्षीकृत्य व्याख्यायते तदा। नत्वा। कं। महावीरं, ई इति चतुर्थस्वररूपमेकाक्षराभिधानं प्रसिद्धं लक्ष्मीनामा 'रा ला इति धातुद्वयं, आदाने ग्रहणे इत्यस्मिन्नर्थे वर्तते। विशिष्टां बाह्यचतुस्त्रिंशदतिशयप्रादुर्भूति-विराजमानसमवशरणपरमविभूत्यभ्यंतरसहजवस्तुस्वभावी भूतानंतचतुष्टयव्यक्तिलक्षणामीं लक्ष्मीं रात्यादत्ते गृह्णातीति वीरः, महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तं महावीरं चरमतीर्थंकरपरमदेवं अर्हद्भट्टारकं श्रीवर्धमानस्वामिनामानं। किंविशिष्टं। विमलतरगुणसमृद्धं प्रसिद्धघातिकचतुष्टयरूपसंतमसविनाशप्रादुर्भूत युगपत्प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिसूर्योदयदृष्टांतास्पदीभूतातीतानागत वर्तमानत्रिकालगोचरोत्पादव्ययध्रौव्यलक्ष्मत्रितयालिंगितत्रिभुवनोदरविवरवर्तिशुद्धचैतन्यविलास-प्रवर्तमानपरमात्मपदार्थादिसमस्तवस्तुस्वभावबोभूयमानकालकलानिदर्शनाश्लिष्टैक समयग्रहणसमर्थसामान्य-विशेषरूपवर्तमाननिर्मलतरज्ञानदर्शनाभिधानसर्वज्ञगुणसंपूर्णं। पुनः किंविशिष्टं? सिद्धं प्रसिद्धं।

पुनरपि किं विशिष्टं? सुरसेनवंदितं गर्भादिमहाकल्याणमहोत्सवेषु पितृभ्यां सह सकलगीर्वाणचक्रनमस्कृतं। केन। शिरसा मस्तकेनेति योजनिकाद्वारः। विमलतरगुणसमृद्धं सुरसेन-वंदितं महावीरं सिद्धं, पक्षे विमलतर-गुणसमृद्धं सिद्धं सुरसेनवंदितं महावीरं शिरसा नत्वा आराधनासारनामानं वक्ष्य इति संक्षेपान्वयद्वारः। सुरसेनवंदितमित्यत्र सिद्धविशेषणपदे अभिधानसामर्थ्यात् केचन छायार्था अपि निष्पाद्यंते। कथं? सुराणां देवानां ग्रहणेन यद्यप्यूर्ध्वलोकस्वामित्वमालिनः पंचविधाः ज्योतिष्काः, सौधर्मेन्द्रप्रमुखाः कल्पवासिनो भावनां कुर्वाणाः कल्पातीता अपि, अधोलोकस्वामित्वमालिनो भवनवासिदेवनिकायत्वाद्धरणेंद्रप्रमुखाश्च केचन व्यंतराधिपतयोऽपि, तथा व्यंतरास्तिर्यग्लोकनिवासिनोपि सर्वे त्रिभुवनोदरविवरवर्तिनो देवा गृह्यंते मध्यलोकस्वामित्वमालिनः चक्रवर्तिप्रमुखा नराः, तिरश्चां स्वामित्वमाली सिंहः तन्मुखा अन्येपि पशवो गृहीताः।

का वाचक है। 'रा' 'ला' ये दो धातु आदान (ग्रहण) अर्थ में आते हैं। 'वि' विशिष्ट बाह्य चौबीस अतिशयों की प्रादुर्भूति से विराजमान समवसरण की परम विभूति से युक्त और अभ्यन्तर सहज स्वभावभूत अनन्त चतुष्टय की व्यक्ति रूप लक्ष्मी को धारण कर रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं उसे वीर कहते हैं। महान् वीर को महावीर कहते हैं। ऐसे विशेषणों से युक्त अन्तिम तीर्थंकर परम देव अर्हन्त भट्टारक श्री वर्द्धमान भगवान को नमस्कार करके **आराधनासार** कहने की प्रतिज्ञा की है।

अथवा, सुरदेव शब्द के ग्रहण से ऊर्ध्व लोक के स्वामी पाँच प्रकार के (सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा) ज्योतिषीदेव; सौधर्म इन्द्र प्रमुख (इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, आभियोग्य, प्रकीर्णक, किल्विष) तथा इन्द्रादि कल्पना से अतीत कल्पातीत हैं। अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र प्रमुख दस प्रकार के (असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार) भवनवासी देव, तथा किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, व्यंतर हैं। तिर्यग्लोक में रहने वाले व्यंतरदेव मध्य लोक के स्वामी हैं; इस प्रकार तीन लोक के स्वामी देवों के द्वारा वंदनीय सुरसेन-वंदनीय कहलाते हैं। अथवा- मध्यलोक का स्वामी चक्रवर्ती प्रमुख मानव और तिर्यंचोंका स्वामी सिंह प्रमुख पशु भी सुरसेन शब्द से ग्रहण किये जाते हैं।

भवणालय चालीसा विंतरदेवाण हुंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥

इति गाथाकथितशतेन्द्रवंदितत्वं। कथं भविष्यति। अयमप्यर्थोऽत्रैवांतर्भवतीति। कथं। रसा पृथ्वी पूर्वोपार्जितविशिष्टपततमागण्य पुण्यकर्मोदयाश्लिष्टनायक प्रतापा जनधनधान्यकनकसमृद्धत्वाच्छोभन-विशेषणयुक्ता शोभनरसा सुरसा तस्या इनः स्वामी सुरसेनः, अथवा सर्वराजाधिराजमहाराजमंडलेश्वरमुकुटबद्धमूर्द्धभूतत्वात् शोभनो। रसेनः सुरसेनः सुरसेनेन चक्रवर्तिना वंदितं। सिंहापेक्ष्यस्तेनार्थः। कथं। शोभना पुष्पितफलितशाड्वलितवनराजिमंडिता वनभूमिरिति सुरसा तस्या इनः सकलवनेचरमृगवृंदनायकत्वात्स्वामी सुरसेनः सिंहस्तेन वंदितं सुरसेनवंदितमिति समर्थनतया मानवेंद्रतिर्यगिंद्रग्रहणसमर्थ इत्येकश्छायार्थः॥ अनेन कायवाग्भ्यां द्रव्यनमस्कारः सूचितो, भावनमस्कारः कथं घटिष्यते। वाचा अर्हत्सिद्धप्रमुखपरमेष्ठिस्वरूपशुद्धपरमात्मद्रव्यवस्तुस्तव-गुणस्तवनगंभीरोदारार्थविराजमानसकलेशब्रह्मबीज-भूतनानास्तोत्ररूपः। कायेन। पंचांगनत्या प्रणमनरूपो

भवनवासियों के चालीस, व्यंतर देवों के बत्तीस, कल्पवासियों के चौबीस, ज्योतिषियों के सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्यों में चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों में सिंह ये सौ इन्द्र होते हैं। सुरसेन शब्द से इन सौ इन्द्रों के द्वारा वंदित कहा गया है।

शंका-'सुरसेनवंदित' शब्द का सौ इन्द्रों के द्वारा वंदित यह अर्थ कैसे हो सकता है?

उत्तर-रसा नाम पृथ्वी का है। पूर्वोपार्जित विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से विशिष्ट प्रतापी, जन, धन, धान्य, सुवर्ण से परिपूर्ण शोभन रसा (पृथ्वी) सुरसा कहलाती है और उस शोभन पृथ्वी का 'इन' स्वामी सुरसेन (चक्रवर्ती) कहलाता है।

अथवा, सर्व राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमंडलीक, मंडलेश्वर और मुकुटबद्ध राजाओं का शिरोमणि होने से, शोभन रस का स्वामी सुरसेन (चक्रवर्ती) कहलाता है। अतः सुरसेनवंदित का अर्थ चक्रवर्ती के द्वारा वन्दनीय है।

सिंह की अपेक्षा यह अर्थ है= पुष्पित, फलित, शाड्वलित वन से युक्त पृथ्वी सुरसा कहलाती है अर्थात् जो फल-फूल, घास आदि से शोभनीय पृथ्वी है, उसे सुरसा कहते हैं। उस सुरसा (शोभनीय पृथ्वी) का स्वामी सम्पूर्णवनचर मृगों के समूह में नायक होने से सिंह सुरसेन कहलाता है।

अतः सुरसेनवंदित इस पद से मानवेन्द्र और तिर्यगेन्द्र का भी ग्रहण होता है।

प्रश्न-इस शब्द से काय और वचन के द्वारा द्रव्य नमस्कार सूचित किया गया है। अतः भाव नमस्कार कैसे घटित हो सकता है?

उत्तर-वचन के द्वारा अर्हन्त-सिद्ध प्रमुख परमेष्ठी स्वरूप शुद्ध परमात्म द्रव्य वस्तु का स्तवन, तथा उनके गुणों का स्तवन (उनके शरीर का स्तवन द्रव्य स्तवन है और गुणों का स्तवन गुण स्तवन है) तथा गंभीर उदार अर्थ से युक्त सकल परमेश्वर के ब्रह्मबीजभूत नाना स्तोत्र करना **वाचनिक द्रव्य नमस्कार** है।

कायके द्वारा पंचांग की नति से प्रणमन करना **कायिक द्रव्य नमस्कार** है। यह द्रव्य नमस्कार का लक्षण है।

द्रव्यनमस्कारः। इति द्रव्यनमस्कारलक्षणं। त्रिगुप्तिगुप्तमुनिनायकेनारभ्यमाणो दुःकर्मोदयसंपादितनानासंकल्प-विकल्पजालेप्याधिविरहितस्य शुद्धपरमात्मनः सकलचराचरमिदं जगत्सुप्तं लोष्टनिष्पन्नं वेति प्रतिभासकारणेन निर्विकल्पसमाधिनानुभवनं **भावनमस्कार** इति भावनमस्कारलक्षणं।

द्रव्यनमस्कारसूचितो भावनमस्कारः कथं घटिष्यते इत्याशंका भवतां चेतसि वर्तते तदुत्तरं शृण्वंतु भवंतः। रसा शृंगारादयो लोके प्रसिद्धास्तेषां मध्ये चरमः शांतरसः अनादिकालप्रज्वलितभवचक्रकृतसंसारदुःखमहादावानलविध्यापन-समर्थत्वात् परमानंदोत्पादकत्वाच्च शोभनविशेषणविशिष्टो भवति। ततः संसारशरीरभोगेषु परमनिर्वेदमापन्नैः परमयोगीश्वरैः सुरसेन सकलाध्यात्मकलाविलासास्पदीभूतेन शांतरसेन निर्विकल्पसमाधिना वंदितमनुभूतं सुरसेनवंदितं। वंदितमनुभूतमित्येतस्मिन्नर्थे कथमिति चेत्। सत्यं। वदि अभिवादनस्तुत्योः, वदि इत्ययं धातुरभिवादने नमस्कारे स्तुतौ स्तवने चेत्यर्थद्वये वर्तते। स्तुतिस्तु वचसा मनसा च कृत्वा द्विविधा। यत्र केवलेन वस्तुतत्त्वैकनिष्ठेन मनसा योगेन स्तुतिर्विधीयते तत्र तस्या अनुभूतिपर्यायः केन निषिध्यते ततो वंदितमनुभूतमित्यर्थः कथं न घटते। समाध्यवस्थास्वीकृतशांतरसेन मनसानुभूतमिति ताडितार्थः।

त्रिगुप्ति से गुप्त (युक्त) मुनिनायक के द्वारा आरभ्यमाण, दुष्कर्मों के उदयसे सम्पादित नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प जाल होने पर भी मानसिक चिंता (विकल्पजालों) से रहित, शुद्ध परमात्मा के यह सकल चर अचर जगत् सुप्त वा प्रस्तरनिष्पन्न की भाँति प्रतिभासित होता है; ऐसी निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का अनुभव करना **भाव नमस्कार** है।

द्रव्य नमस्कार से सूचित सूत्र से भाव नमस्कार कैसे घटित होगा? ऐसी **शंका** आपके मनमें है, **उसका उत्तर** सुनो। रस्यते आस्वाद्यते असौ रसः, जिसका स्वाद लिया जाता है, अनुभव किया जाता है, उसे रस कहते हैं। जिस प्रकार लवण, मधुर आदि रसों का जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्वाद लिया जाता है, आनन्द का अनुभव किया जाता है, दुःख का अनुभव किया जाता है उसी प्रकार शृंगार आदि रसों के द्वारा आनन्द का अनुभव किया जाता है।

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से बंध चार प्रकार का है। उनमें रस वा सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला अनुभाग बंध है। उस अनुभाग बन्ध के बिना प्रकृति, स्थिति और प्रदेश बंध कुछ भी नहीं कर सकते। उसी प्रकार काव्य की रचना में शृंगार आदि रस के बिना उनके पठन, पाठन, वाचन, श्रवण आदि में आनन्द का अनुभव नहीं होता इसीलिए मनीषियों ने, कवियों ने-

शृंगार-वीर-करुणा-हास्याद्भुत-भयानका :।
रौद्र-बीभत्स-शान्ताश्च नवैते निश्चिताः बुधैः ॥

शृंगार रस, वीर रस, करुण रस, हास्य रस, अद्भुत रस, भयानक रस, रौद्र रस, बीभत्स रस और शान्त रस के भेद से नौ प्रकार के रसों का कथन किया। रतिहासश्च शोकश्च क्रोधोत्साह भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयशमा: स्थायिभावा: प्रकीर्तिता:। इन स्थायी भावों को ही क्रम से नव रस कहते हैं।

शृंगार रस स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुष के संयोग से जो रति है उसे शृंगार रस कहते हैं। वह दो प्रकार का है संयोग और विप्रयोग। स्त्री पुरुष का मिलन, सान्निध्य संयोग शृंगार कहलाता है और उन दोनों के वियोग से होने वाला शृंगार विप्रयोग शृंगार कहलाता है। संयोग के प्रच्छन्न, प्रकाश आदि अनेक भेद हैं। इसके पात्र स्त्री-पुरुष हैं। पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक के भेद से विप्रयोग शृंगार चार प्रकार का है।

उत्साहात्मक वीर रस होता है। वह तीन प्रकार का है- धर्मोत्साह, दानोत्साह और संग्राम उत्साह अर्थात् धर्मवीर, दानवीर और संग्रामवीर। इसका नायक श्लाघनीय गुण वाला होता है।

शोक से उत्पन्न वा शोकात्मक करुण रस होता है जिसे देखकर हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो जाता है। भूमि पर गिर कर रोना, विवर्णभाव (भूमि पर लोट-पलोट होकर रुदन करना, शरीर को विवर्णता प्राप्त होना) मूढ़ता, निर्वेद (विषाद), प्रलाप (यद्वा तद्वा बोलते हुए रुदन करना), अश्रुधारा का बहना आदि क्रियाओं से करुण रस जाना जाता है अर्थात् करुण रस में ये भाव होते हैं।

हँसी का मूल कारण हास्य रस कहलाता है अर्थात् हँसी के द्वारा आंतरिक आनंद प्रगट किया जाता है वह हास्य रस है। हास्य रस की उत्पत्ति इष्ट अंग के वेष की विकृति से होती है जैसे बहुरूपिया आदि को देखने से हँसी की उत्पत्ति होती है। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से हास्य रस तीन प्रकार का है। कपोल, आँख आदि कृत उल्लास होठ के भीतर-भीतर रहता है अर्थात् मुस्कान होती है वह उत्तम हास्य रस है। जिस हँसी में थोड़ा मुख खुलता है वह मध्यम हास्य रस है तथा जो हास्य शब्द सहित होता है, जिसमें मुख पूरा खुलता है वह जघन्य हास्य रस कहलाता है।

असंभाव्य वस्तु के देखने से वा सुनने से जो आश्चर्य होता है वह अद्भुत रस कहलाता है। यह चार विभाव भावों से प्रगट होता है। जैसे असंभाव्य वस्तु को देखकर वा सुनकर नेत्रकमल विकसित हो जाते हैं, शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है, पसीना आ जाता है, नेत्र टिमकार रहित निश्चल हो जाते हैं, साधु-साधु वचन निकलते हैं और वाणी में गद्गदपना आ जाता है। ये अद्भुत रस के चिह्न हैं। इनसे अद्भुत रस का आना जाना जाता है।

जो भय प्रकृति वाला है, भयानक वस्तु के देखने से जो भयभीत होता है डरता है, वह भयानक रस है। भयभीत हुआ प्राणी दशों दिशाओं का अवलोकन करता है, उसका मुखशोष होता है, शरीर काँपने लग जाता है, वाणी में गद्गदपना आ जाता है, संभ्रम होता है, त्रास होता है, भय से शरीर विवर्ण हो जाता है, मोहित होता है, मूढ़ होता है- सर्वत्र भय से मूर्च्छित होता है- ये भयानक रस के चिह्न हैं। इस भयानक रस के पात्र प्राय: स्त्री, बालक और नीच लोग होते हैं। अर्थात् भयानक रस का वर्णन करते हुए ये ही शोभित होते हैं।

रौद्र रस क्रोधात्मक होता है, शत्रुओं के द्वारा पराजित होने पर क्रोध आता है। अर्थात् अपनी पराजय होने पर जो क्रोध उत्पन्न होता है, भीषण प्रवृत्ति होती है, उग्र क्रोध होता है, वह रौद्र रस कहलाता है। इसका पात्र क्रोधी होता है। जब क्रोध में आकर मानव शस्त्र फेंकता है, शत्रु को मारने के लिए दौड़ता है, परस्पर घात करने में तत्पर होता है, हिंसा में आनंद मानता है वह रौद्र रस कहलाता है। इसका पात्र रौद्र ध्यानी होता है।

मल, मूत्र, कफ, पीप आदि बीभत्स-ग्लानिमय पदार्थों का नाम सुनने से, उन पदार्थों के अवलोकन से या उनके स्पर्श से जो ग्लानियुक्त भाव होते हैं, चित्त में ग्लानि होती है, उसको बीभत्स रस कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न शांत रस होता है। इस शांत रस का नायक (पात्र) निस्पृही साधु होता है। यह शांत रस राग-द्वेष के परित्यागी सम्यग्ज्ञानी के उत्पन्न होता है।

इन नौ रसों में सर्वोत्कृष्ट रस आत्मकल्याणकारी, आत्मोत्थ सुखकारी, लोकोत्तर शांत रस है। उस शांत रस का कारण है वीर रस। शेष सात रस संसार के कारण हैं, दुर्गति में ले जाने वाले हैं।

यद्यपि शांत रस सिवाय, आठों ही रस लौकिक रस हैं फिर भी धर्म के उत्साह के बिना शांत रस की प्राप्ति नहीं होती है अत: तीन वीर-रसों में धर्मवीर रस शांत रस का कारण है।

शृंगार रस आदि का स्थायी भाव, सात्विक भाव, अनुभाव, विभाव भाव, व्यभिचारी भाव और इनकी दृष्टि आदि का कथन रसग्रन्थों में किया है।

सामान्य से रस का वास्तविक स्वरूप है- ज्ञान और ज्ञेय में भेद न रहे, तदाकार हो जाए, आत्मा अपनी आत्मा में लीन हो जाए, उसे अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहे, वह शांत रस है।

शांत रस का रसिक सम्यग्दृष्टि होता है- सारे रसों से भिन्न वह अपने आत्मानुभव (रस) में लीन होने की इच्छा रखता है।

सब रसों का रस चखें, अनुभव रस के माँहि।
तातैं अनुभव सारखो और पदारथ नाहिं॥

सब रसों के रस का आस्वादन एक अनुभव रस में होता है। इसलिए अनुभव रस के समान कोई दूसरा रस नहीं है।

बनारसीदास जी ने कहा है-

नृत्य कुतूहल तत्त्व का मरिपचि देखो धाय।
निजानन्द रस को चखो आन सबे छिटकाय॥

जब यह आत्मा ज्ञेय-ज्ञायक एवं भाव्य-भावक भाव के स्वरूप को जानकर तथा विभाव भावों को त्यागकर निज (शांत) रस में लीन होता है, उस समय उसे जो आनन्द होता है, उसका कथन करना शक्य नहीं है, वह वचन के अगोचर है।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में लिखा है-

सर्वत: स्वरसनिर्भरभावं, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह:, शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि॥३०॥

मैं निरन्तर सर्वत: स्वरस से पूरित स्वकीय ज्ञानमय अपनी आत्मा का ही अनुभव करूँ- अपने स्वरूप में लीन रहूँ, किसी के साथ मेरा ममत्व नहीं है, मैं एक चिदानन्द शुद्ध चैतन्यमय ज्ञानघन निधि हूँ। निज शांत रस के स्वाद के सिवाय मेरा कुछ भी स्वभाव नहीं है। मेरे असंख्येय प्रदेशों में भरा हुआ ज्ञान रस है, शांत रस है, उसी का मैं रसिक बनूँ।

अमृतचन्द्राचार्य ने शांत रस का अनुभव करने के लिए प्रेरणा दी है-

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं,
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेक:,
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं॥

यद्यपि आत्मा अनादिकाल से पुद्गल (शरीर) के साथ रह रहा है परन्तु किसी भी काल में वा किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार से यह आत्मा अनात्मा (शरीर) के साथ तादात्म्य वृत्ति (एकपने) को प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए हे संसारी प्राणियो ! अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए इस मोह भाव को छोड़ो, मोह का परित्याग करो। शृंगार आदि रसों में लीन इस मोह का विनाश करो और शांत रस के रसिक जनों को रुचिकर उदित हुए इस ज्ञान रस (शांत रस) का आस्वादन करो। इस श्लोक में शांत रस

के आस्वादन की प्रेरणा की है क्योंकि अनादिकाल से यह प्राणी मोह से कलुषित ज्ञान के द्वारा शृंगारादि विभाव भावरूप रसों का आस्वादन कर रहा है, उनमें लीन होकर निजस्वरूप को भूला हुआ है। इसे स्वकीय परिणति का भान-ज्ञान नहीं हो रहा है। निज परिणति का भान शान्त रस में ही होता है। अतः शांत रस के अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए।

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोकाः,
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥

अनादिकाल से जीव और पुद्गल का संयोग होने से यह आत्मा संसार में नृत्य कर रहा है, आठों रसों में लीन है, उनको उनसे हटाने के लिए आचार्यदेव कहते हैं-

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रम रूप चादर को निज शक्ति से दूरकर आप सर्वांग प्रकट हुआ है- जिसका शांतरस अलोकाकाश तक उछल रहा है। हे संसारी प्राणियो ! इस शांतरस में लीन हो जाओ। अपने आप में रमण करो।

ये नौ रस लोक में प्रसिद्ध हैं। इनमें अंतिम जो शांतरस है, वह शांत रस ही अनादि काल से प्रज्वलित पंच प्रकार के संसार दुःख रूप महादावानल के विध्यापन (बुझाने) में समर्थ होने से अथवा परमानन्द का उत्पादक होने से सु-शोभन विशेषण से विशिष्ट है (सुरस है)। इसलिये संसार, शरीर और भोगों से परम वैराग्य को प्राप्त योगीश्वर **'सुरसेन'** कहलाते हैं क्योंकि वे ही शांत रस में मग्न हैं।

उस सकल अध्यात्म कला के विलास के स्थानभूत शांत रस में मग्न योगी गणों से निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूत को सुरसेनवंदित कहते हैं।

शंका - वंदित का अर्थ अनुभूत कैसे हो सकता है?

उत्तर - "वदि अभिवादन-स्तुत्योः" इस सूत्र से वदि धातु अभिवादन में, नमस्कार में, स्तुति में, स्तवन में इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्तुति, वचन और मन से होती है।

जहाँ पर केवल वस्तुतत्त्व-एकनिष्ठ मन योग के द्वारा स्तुति की जाती है, वह स्तुति नामक अनुभूति पर्याय किसके द्वारा निषिद्ध की जाती है। अतः वंदित का अर्थ अनुभूति कैसे घटित नहीं होता? अवश्य ही होता है।

समाधि अवस्था में स्वीकृत शांत रस वाले मन के द्वारा अनुभूत है। (यह सुरसेनवंदित शब्द का अर्थ है।)

तथा च **द्वितीयपक्षे** रसशब्दः स्वादेपि वर्तते। ये किल पंचेंद्रियविषयामिषस्वादास्ते जीवस्य जलौकाजंतुविशेषस्य दुष्टरुधिरपानवदतृप्तिजनकत्वाच्च न शोभनाः। अयं तु वीतरागनिर्विकल्पसमाधिनानुभृत्यमानः स्वस्वभावोत्थः परमातींद्रियसुखरसास्वादः संसारतृष्णास्फेटकत्वाद्वैरस्याभावात् प्रतिसमयं साररसस्य संपादकत्वाच्च विशेषतः शोभनविशेषणेन विशेष्यते। ततः सुरसेन निर्विकल्पसमाधिजन्यमानपरमानंदातींद्रियसुखस्वादेन वंदितमनुभूतमित्यर्थद्वयाश्लिष्टभाव-नमस्कारप्रतिपादको **द्वितीयश्छायार्थः**॥

तृतीयपक्षे सुरसेण वंदियमित्येकविभक्त्यंतस्य खंडनत्रयं विभज्य व्याख्या विधीयते कथं। सुरसेणवंदियं सुरसे णवं दियं सुरसे नवं द्विजमिति। कथंभूतं सिद्धं। द्विजं द्विजमिव द्विजं ब्राह्मणं। क्व। सुरसे स्वस्वभावामृतजले। रसशब्दो जलेप्यस्ति जलं तु स्नानपानशौचकारणं स्यात्। ततः सिद्धात्मनां स्नानपानशौचकारणगुणोपचारात् स्वस्वभावोत्थममृतजलं शोभनविशेषणविशिष्टमभिधीयते तस्मिन्,

---

दूसरे पक्ष में रस शब्द स्वाद में भी आता है। जो पंचेन्द्रिय विषयरूपी आमिष का स्वाद लेते हैं वे जोंक (जन्तु विशेष) के दुष्ट खून पीने के समान अतृप्तिजनक होने से श्रेष्ठ नहीं हैं अर्थात् पंचेन्द्रिय विषयसुख भी अतृप्ति का कारण हैं इसलिए शोभनीय नहीं हैं। परन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूयमान स्व-स्वभाव से उत्पन्न परम अतीन्द्रिय सुख रस का स्वाद ही संसार की तृष्णा का उच्छेदक है (नाशक है)। परस्पर वैर-विरोध का घातक है और प्रतिक्षण सार (आत्मानुभव) रस का सम्पादक है इसलिए आत्मानुभव रस ही शोभनीय विशेषण से विशिष्ट होने से सुरस है और इन्द्रियजन्य रस कुरस है। अतः 'सुरसेनवंदित' इस शब्द से निर्विकल्प समाधि जन्य परमानन्द अतीन्द्रिय सुख स्वाद से वंदित अनुभूत इन दोनों अर्थों से आश्लिष्ट भाव नमस्कार का प्रतिपादक है **अर्थात् वास्तव में निर्विकल्पसमाधि के द्वारा आत्मा का अनुभव करना ही भाव नमस्कार है।**

तीसरे पक्ष में 'सुरसेणवंदियं' इस पद को तीन प्रकार से विभाजित करके व्याख्या की जा रही है।

'सुरसे णवं दियं' सुरस में नवीन द्विज (ब्राह्मण)। **प्रश्न** - यह सिद्ध कैसे होता है?

उत्तर - द्विज के समान द्विज होता है अर्थात् जिसका जन्म दो बार होता है उसको द्विज कहते हैं एक बार माता-पिता से जन्म होता है, दूसरा गुरु-संस्कार से जन्म होता है। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज (ब्राह्मण) कहते हैं।

अथवा, रस का अर्थ जल है और जल स्नान, पान और शुचि का कारण है। उस जल में स्नान करके अपने को शुचि मानते हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं।

'सुरस' शोभनीय रस (आत्मानुभव रूप) सुरस (शोभनीय सर्वोत्कृष्ट जल) उसमें अवगाहन करके अपने आप को पवित्र करते हैं, उसका पान कर संसार सम्बन्धी विषयाभिलाषारूप तृष्णा का उच्छेद करते हैं वे 'सुरसे णवं दियं' वे ब्रह्म (निर्विकल्प समाधि) में लीन योगीश्वर रूप ब्राह्मण के द्वारा वंदित अर्हत्प्रभु

मान्यस्मिन्, लौकिकक्षीरसागरगंगादितीर्थसमुद्भूते। ब्राह्मणा हि स्नानाचमनशौचपरायणा गंगादिमहातीर्थजलेषु निलीना भवंति। ततः सिद्धात्मनां सर्वकालस्वस्वभावामृतजलनिलीनानां ब्राह्मणोपचाररूपकालंकारविशेषणमस्मिन् व्याख्याने न दोषाय। पुनः किंविशिष्टं। नवं प्रतिसमयस्वभावोत्थानंतगुणानुभवनमुख्यतया नवमिति यावत्। अथवा अनवं न नवः अनवस्तं अनवं द्रव्यस्वभावापेक्षया पुरातनमनादिकालीनमित्यर्थः। तथा चास्मिन्नेव पदखंडनत्रये अन्यापि व्याख्या भवति, शोभनो रसो जलं पानीयं विद्यते यस्मिन्निति सुरसो मानससरोवरः यतो लोके किलैषा सिद्धिः।

अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमंडितं।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना।।

इति सुभाषितत्वात्। ततः सर्वेषु जलाशयेषु मानससरोवर एव सुरस इत्याख्यायते। अत्र तु स्वस्वभावोत्थपरमामृतरसपूरपरिपूर्णत्वात् सुरसो मोक्षाभिधानमानससरोवरो गृह्यते। किंविशिष्टं सिद्धं। द्विजं पक्षित्वात् द्विजग्रहणेन सामान्यत्वात्सर्वे पक्षिणो गृह्यंते। कुतः। हंसविशेषग्रहणविशेषणसामर्थ्येन। किंविशिष्टं द्विजं। अनवं पुरातनं पुरातनशब्दस्तु ज्येष्ठगरिष्ठोत्तमप्रधानार्थेषु प्रवर्तते। ततोऽनवामिति विशेषणेन सकलपक्षिज्येष्ठत्वाद्गरिष्ठत्वादुत्तमत्वात्प्रधानत्वाच्च द्विजो हंस एव लभ्यते।

हैं। वा ब्राह्मण लोग गंगादि महातीर्थजल में स्नान आचमन करके अपने को पवित्र मानते हैं अतः ब्राह्मण यह रूपक अलंकार विशेषण इस व्याख्यान में दोषदायक नहीं है। क्योंकि इस दृष्टान्त से यह सिद्ध किया है कि स्व-स्वभावोत्थ जल में जो निरंतर लीन रहते हैं अतः शोभनीय रस स्वस्वभावोत्थ आत्मानुभव ही है। सर्वकाल उस जल में लीन रहने से निर्विकल्प समाधि वाले योगी ब्राह्मण कहलाते हैं अतः यह **भाव नमस्कार** है।

अथवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा 'सुरसे नवं दियं' नवं-प्रतिसमय स्वभावोत्थ अनन्तगुणों का अनुभव होने से वह स्वभावोत्थानन्द का अनुभव नवीन कहलाता है। अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मानुभव नवीन नहीं है, 'अनव' है पुरातन है, अनादिकालीन है। उस आत्मानुभव में निरंतर लीन रहते हैं तथा इस तीन प्रकार पद-खण्डना से अन्य रूप से भी व्याख्या होती है।

शोभन रस (जल) जिसमें होता है वह सुरस (मानसरोवर) कहलाता है। क्योंकि लोक में भी यह सिद्धि है-यद्यपि सर्वत्र कमलों से मण्डित सरोवर हैं परन्तु हंसों का मन मानसरोवर को छोड़कर अन्यत्र रमण नहीं करता है। यह सुभाषित है। इसलिए सर्व जलाशयों में मानस सरोवर ही 'सुरस' कहलाता है।

अथवा यहाँ पर 'सुरसेनवंदितं' यह सिद्धों का विशेषण है अतः सिद्ध भगवान निरंतर अपने स्वभाव से उत्पन्न परमामृत रस के पूर से परिपूर्ण होने से सुरस मोक्ष नाम का मानस सरोवर ग्रहण किया जाता है अतः जो उस मोक्ष नामक सरोवर में लीन है वह सुरसेनवंदिया कहलाते हैं। ''सिद्ध कैसे कहलाते हैं?। सिद्ध द्विज कहलाते हैं, द्विज ग्रहण से सामान्यतः सर्व पक्षियों का ग्रहण होता है। कैसे? हंस विशेष ग्रहण विशेषण के सामर्थ्य से।

क्व। सुरसे। मोक्षमानससरोवरे। यथा मानससरोवरे हंसास्तिष्ठंति तथा मोक्ष-मानससरोवरे सिद्धहंसास्तिष्ठंति इत्यभिप्रायः। इति पदखंडनत्रयसमुद्भूतार्थ-द्वयगर्भस्तृतीयश्छायार्थः॥ तथा च चतुर्थपक्षे रसशब्देन वीर्यं ततः सुष्ठु अतिशयवान् कर्मारिचक्रशातनत्वात् रसो वीर्यं बलं यस्य स सुरसः अर्थ-सामर्थ्यान्मुनिसमुदयः तस्यैव तत्र प्रधानत्वात् नान्ये रणशूरा सुभटाः रौद्रध्यानाधीनतया नारकगतिसाधकत्वात्, सुरसेन मुनिसमुदायेन वंदितं निर्विकल्पसमाधिनानुभूतं सुरसेन वंदितमिति चतुर्थश्छायार्थः।

पंचमं पक्षे रसशब्दो रागेपि वर्तते। शोभनः संवेगास्तिक्यानुकंपादिगुणविशिष्टलक्षणो रसो रागो यस्य स सुरसः अर्थाच्चितुर्थगुणस्थानादिवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिजीववृंदं तस्यैव तत्र प्रवर्तनत्वात्। न तु

द्विज किस विशेषण से विशिष्ट है? अनव= अनव है- पुरातन है। पुरातन शब्द ज्येष्ठ, गरिष्ठ, उत्तम और प्रधान अर्थ में आता है। इसलिए अनव यह विशेषण सकल पक्षियों में ज्येष्ठ, गरिष्ठ, उत्तम और प्रधान होने से (द्विज शब्द से) हंस पक्षी का ग्रहण होता है। जिस प्रकार मानसरोवर में हंस लीन होता है,रमण करता है; उसी प्रकार 'सुरस' मोक्षरूपी मानसरोवर में लीन रहने से सिद्ध भगवान हंस कहलाते हैं। इस प्रकार पदखण्डन तीन से उत्पन्न दो अर्थ होते हैं।

अब चतुर्थ प्रकार से इस गाथा का अर्थ कहते हैं। रस शब्द का अर्थ वीर्य भी होता है इसलिए 'सुष्ठु' अतिशयवान कर्म रूपी शत्रु के चक्र का नाशक होने से रस वीर्य कहलाता है। सुष्ठु वीर्य बल जिसके होता है, वह सुरस कहलाता है। अतः सुरसशब्द से मुनिगण का ग्रहण होता है। अर्थात् सुरस का अर्थ मुनिराज है। क्योंकि यहाँ पर मुनिराज की मुख्यता है, वे ही शूरवीर भट हैं।

मुनिराज को छोड़कर जो अन्य रण (युद्ध) में शूर हैं वे शूरवीर नहीं हैं। क्योंकि रण में शूर, भट नरक गति के कारणभूत रौद्र ध्यान के आधीन है। अतः 'सुरसेन' मुनि समुदाय से वंदित वा निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूत सुरसेनवंदित कहलाते हैं।

अथवा-रस शब्द का प्रयोग राग में भी होता है। अतः शोभनीय संवेग (संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति), आस्तिक्य (जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर दृढ़ विश्वास), अनुकम्पा आदि गुणविशिष्ट राग जिसके होता है वह 'सुरस' कहलाता है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि सराग सम्यग्दृष्टि सुरस कहलाते हैं। क्योंकि सराग सम्यग्दृष्टियों के वीतरागता के प्रति जो राग होता है वह शुभ राग है अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि की ही प्रशम, संवेग, जिनेन्द्रभक्ति आदि शुभ राग में प्रवृत्ति होती है। परन्तु संसार-समुद्र में गिरने का कारण होने से माला, चन्दन, वनिता, आदि पंचेन्द्रिय विषयसुख के रागरस के लम्पट महामिथ्यादृष्टि का राग सुरस (शोभनराग) नहीं है, शुभ राग नहीं है, अपितु कुरस (कुराग) ही है। क्योंकि पंचेन्द्रिय विषयों का राग अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है। इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि के द्वारा वंदित, नमस्कृत, स्तुत,

संसारसमुद्रसंपातकारणस्रक्-चंदनवनितादिविषयसुखरागरसलंपटो महामिथ्यात्वाविष्टो जंतूत्करः किंतु स कुरस एव अनंतभवभ्रांतिसाधकत्वात्, तेन सुरसेण वंदितं नमस्कृतं स्तुतमनुभूतं सुरसेन वंदितं यतः सरागसम्यग्दृष्टयो जीवा संवेगास्तिक्यपरमानुकंपादान पूजाषडावश्यक क्रियामूलोत्तर गुणपरायणाः शास्त्रे व्यावर्णिताः। वीतरागसम्यग्दृष्टयस्तु प्रतिगुणस्थानमनंतगुणविशुद्धितोयप्रक्षालितपरिणामत्वात् केवलेन सकलक्रियाकांडगर्भेण निर्विकल्पसमाधिना परमात्मानमनुभवंति। एवं सरागवीतरागयोः सम्यग्दृशोर्भेदो भवतीत्यभिप्रायः इति **पंचमश्छायार्थः**॥

अनुभूत, सुरसेनवंदित सिद्ध भगवान होते हैं। क्योंकि शास्त्र में सराग सम्यग्दृष्टि जीव ही संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा, दान, पूजा, षट् आवश्यक (प्रतिक्रमण,[१] प्रत्याख्यान,[२] समता,[३] वंदना,[४] स्तुति,[५] कायोत्सर्ग[६]) क्रिया[७], मूलगुण[८] और उत्तरगुणपरायण[९] वर्णित हुए हैं। परन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि प्रत्येक गुणस्थान में अनन्तगुणी विशुद्धि वाले परिणाम रूपी जल के द्वारा अपने मन का प्रक्षालन करके सकल क्रियाकाण्ड जिसमें गर्भित है- ऐसी केवल निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का अनुभव करते हैं। इस प्रकार सराग सम्यग्दृष्टि और वीतराग सम्यग्दृष्टि में अन्तर होता है। अतः सुरसेनवंदित का अर्थ निर्विकल्प समाधि के द्वारा योगी जन जिनका अनुभव करते हैं, ऐसे सिद्ध होते हैं। यह इस गाथा का **पाँचवाँ अर्थ** है।

---

१. भूतकाल में लगे हुए कर्मों का पश्चात्ताप करना।
२. भविष्यत्काल में होने वाले पापों का निराकरण करना।
३. मानसिक संतोष रखना।
४. पंचांग नमस्कार करके स्तोत्र पढ़ना।
५. चौबीस भगवान की स्तुति करना।
६. शरीर से ममत्व छोड़कर आत्मध्यान में लीन होना।
७. षट् आवश्यक, णमोकार मंत्र का जाप और शून्य घर आदि में प्रवेश करते समय निस्सहि और आसहि का उच्चारण करना।
८. पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंच इन्द्रियरोध, षट् आवश्यक, स्नान नहीं करना, अचेलकत्व (वस्त्र नहीं रखना), दंतौन नहीं करना। एक बार भोजन करना। खड़े-खड़े भोजन करना। जमीन पर सोना।
९. हिंसादि २१ को अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चार से गुणा करने पर ८४ भेद होते हैं। इनको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दो, तीन, चार इन्द्रिय सैनी और असैनी से गुणा करने पर ८४० भेद होते हैं।
८४० भेद को आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान शुद्धि के इन भेदों से गुणा करने पर ८४०० भेद होते हैं। आलोचना दोष के दस भेदों से गुणा करनेपर ८४००० भेद होते हैं।
आलोचना के दस दोष इस प्रकार हैं-
१. आकंपित = अनुकम्पा उत्पन्न कराकर दोषों का कथन करना।

तथा च षष्ठे पक्षे सुरसेण वंदियमित्यस्य पदत्रयं विधायार्थं समर्थ्यते। सुरसेण वंदियं, रसशब्देन विषं "विषः क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्यमिति" विश्वः। ततोऽनंतानंतजन्ममहामूर्छाबीजत्व प्राणापहारकत्वात् सुष्ठु अतिशयवान् योऽसौ रसो विषः स सुरसः सुविषः व्युत्पत्त्या कर्मैव न तु हालाहलादिः तस्य एकजन्मन एव प्राणापहारकत्वात्।

ततः कथंभूतं सिद्धं। तेन सुरसेन कर्मणा दितं खंडितं 'दो अवखंडने' वियोजितमिति यावत्। यथा किल खंडितः पदार्थः उभयापेक्षया वियोजितः स्यात् तथा चायं सिद्धः कर्मणा वियोजितः पृथग्भूत इत्यर्थः।

अथवा - छठे पक्ष में रस शब्द का अर्थ विष भी होता है। "विष-क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्यमिति" विश्वः। विश्वकोष में लिखा है कि विष, क्ष्वेड्, रस और तीक्ष्य ये एकार्थवाची हैं। इसलिए अनन्तानन्त जन्म की महामूर्च्छा का कारण होने से, वा ज्ञानादि भाव प्राणों का अपहारक होने से कर्म ही अतिशय सुष्ठु 'सुरस' महाविष है, सुविष है, हालाहल विष है। अन्य विष एक जन्म सम्बन्धी प्राणों के घातक होने से हालाहलादि विष नहीं हैं। इसलिए जिन्होंने 'सुरस' कर्म रूप महाविष का 'दितं' खण्डन कर दिया है- क्योंकि 'दो अवखण्डने' दो धातु खण्डना अर्थ में आती है अतः दितं= खण्डन कर दिया है, नाश कर दिया है।

जैसे खण्डित पदार्थ दोनों अपेक्षाओं से वियोजित होता है उसी तरह सिद्ध परमेष्ठी भी कर्म से वियुक्त हैं, पृथग्भूत हैं।

---

२. अनुमानित = कितना प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अनुमान लगाकर दोषों को कहना।

३. दृष्टदोष = दूसरों के द्वारा ज्ञात दोषों को कहना, अज्ञात को छिपाना।

४. बादर = सूक्ष्म दोषों की परवाह न करके स्थूल दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट करना।

५. सूक्ष्मदोष = स्थूल दोषों को छिपाकर सूक्ष्म दोषों को कहना।

६. छिन्न दोष = ऐसा दोष लगने पर क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है, ऐसा पूछकर तत्पश्चात् दोषों का कथन करना।

७. शब्दाकुलित = पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय जब जोर से शब्द हो रहा हो उस समय कहना।

८. बहुजन - अनेक साधुओं के पास जाकर प्रायश्चित्त लेना।

९. अव्यक्त दोष- दोषों का स्पष्ट कथन नहीं करना।

१०. तत्सेवी - अपने समान दोषी के प्रायश्चित्त को सुनकर स्वयं प्रायश्चित्त लेना।

८४००० भेदों को स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरससेवन, गंधमालादि सुगंधित पदार्थों का संस्पर्श, कोमल शय्यासन, शरीर पर आभूषण आदिका धारण, गीतादि का श्रवण, अर्थग्रहण, कुशीलोंकी संगति, राजसेवा और रात्रिसंचरण इन दस से गुणा करने पर ८४०००० भेद होते हैं। इन भेदों को पाँच इन्द्रियों को वश में रखना तथा पाँच प्रकार के जीवों की विराधना नहीं करना- इन दश प्रकार के संयमों से गुणा करने पर ८४००००० उत्तर गुण होते हैं।

पुनः किं विशिष्टं। वं पश्चिमदिगीशं "वः पश्चिमदिगीशे स्यादित्यभिधानात्"। पश्चिमदिगीशमित्युक्ते कोर्थो लभ्यते। पश्चिमश्चासौ दिक् पश्चिमदिक् तस्या ईशः स्वामी। इह दिक्शब्दो गत्यर्थे गृह्यते यतो जीवस्य सर्वाभ्यो गतिभ्यः पश्चिमा चरमा गतिर्मुक्तिर्भवति ततः पश्चिमदिगीशं मुक्तिस्वामिनमित्यभिप्रायः इति षष्ठश्छायार्थः॥

सप्तमेपि पक्षे रसशब्दो देहधातुषु वर्तते अत्राप्युपरितनपदखंडनत्रयं विगृह्य व्याख्या विधीयते। सुष्ठु अतिशयेन रसा असृङ्मज्जामेदास्थिप्रमुखाः शरीरधातवो यस्मिन् स सुरसः शरीरमेव। किंविशिष्टं सिद्धं। दितं खंडितं रहितं वियोजितमिति यावत्। केन। सुरसेन शरीरेण। पुनः किंविशिष्टं। वं पश्चिमदिगीशं मुक्तीशमिति सप्तमश्छायार्थः।

अष्टमेपि पक्षे रसशब्दो बोले वर्तते बोलशब्दस्तु गंधरसे प्राणार्थेपि वर्तते "बोलो गंधरसे प्राणे इत्यभिधानात्" इह तु प्रयोजनवशात् प्राणार्थे गृह्यते, सुष्ठु अतिशयवता रसेन बोलेन पंचेंद्रियादिदशप्राणसमुदायेन दितं खंडितं वियोजितमिति वमिति पूर्वोक्तमेवेत्यष्टमश्छायार्थः॥

'वं' शब्द का अर्थ है 'पश्चिम दिगीशं'। वं के पश्चिम और दिशा दोनों अर्थ होते हैं। 'वः पश्चिम दिगीशे' अभिधान कोष में लिखा है- वं शब्द पश्चिम दिशा और ईश अर्थ में आता है। जिसका अर्थ है- पश्चिम दिशा का स्वामी। दिक् शब्द गति अर्थ में है और जीवों की पश्चिम (चरम, उत्तम) गति मोक्ष है। उसका स्वामी, पश्चिम दिशा का स्वामी- मुक्ति रमापति अर्थ होता है। अतः "सुरसेन वं दितं" का अर्थ मुक्तिरमा के पति सिद्ध भगवान् हैं।

सप्तम पक्ष में रस शब्द देहधातुओं में आता है। यहाँ भी उपरितन तीन खण्ड पदों को ग्रहण कर व्याख्या की जाती है। 'सु' सुष्ठु (अच्छा) 'रस' हड्डी, रक्त, मज्जा, मेद आदि सात धातु जिस शरीर में हैं वह 'सुरस' शरीर ही है। उस सप्त धातुमय शरीर का जिन्होंने 'दियं' खण्डन कर दिया है, नाश कर दिया है अर्थात् सुरसेन-शरीर से जो रहित है। वं= जो मुक्ति के स्वामी हैं वे सिद्ध कहलाते हैं।

अष्टम पक्ष में 'रस' शब्द का अर्थ बोल भी होता है और बोल शब्द गंध, रस और प्राण अर्थ में आता है।

"बोले गंधरसे प्राणे इत्यभिधानात्" ऐसा अभिधान कोष में लिखा है। परन्तु यहाँ पर प्रयोजनवश 'रस' शब्द का अर्थ 'प्राण' ग्रहण करना चाहिए। जिसका अर्थ है कि जो 'सु' भली प्रकार से 'रस' पाँच इन्द्रिय, मन-वचन काय ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप दस प्राणों का 'दियं' खण्डन करके, नाश करके 'वं इन" मुक्ति रमा के स्वामी हो गये हैं; उनको 'सुरसेन वं दियं' कहते हैं, यह सिद्ध का विशेषण है।

नवमे पक्षे रसशब्दस्तिक्तादौ वर्तते तिक्ताम्लमधुरकटुकषायरसनेंद्रियविषयाः सर्वजनप्रसिद्धाः। तिक्तादिरित्युपलक्षणं रूपादीनां ग्राहकत्वात् शोभनस्तिक्तादिरसोपलक्षणः स्पर्शरसगंधवर्णशब्दसमुदयः सुरसः सुरसेन तिक्तादिरसोपलक्षणेन स्पर्शरसगंधवर्णशब्दसमुदायेन दितं खंडितं रहितं वियोजितमिति यावत्। उक्तं च **परमात्मप्रकाशे**

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णामु णिरंजणु तासु।।

इति। पुनः किं विशिष्टं। वमिति पूर्वोक्तमिति **नवमश्छायार्थः**॥

दशमे पक्षे रसशब्दो द्रवेपि वर्तते सुष्ठु द्रवति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति सुद्रवः सुद्रवेण शुद्धद्रव्यगुणपर्यायपरिणमनशीलेन वंदितमभिनंदितं समृद्धमिति यावत्। धातूनामनेकार्थत्वात्, धातवो हि गजेन्द्रलक्षणाः स्वच्छंदचारित्वात् अनेकार्थविंध्याचलवनं पर्यटंतीति **दशमश्छायार्थः**॥

तथैकादशेपि पक्षे रसशब्दः पारदेपि वर्तते पारदस्य वस्तुविशेषं विमुच्य निरुक्तिवशादर्थान्तरं गृह्यते, नामानि हि समस्याप्रहेलिकाछलादिकौतुकप्रयोजनेन बलादर्थान्तरेण नीयंते न दोषाय। सुष्ठु

नवमी परिभाषा में 'रस' शब्द से सर्वजनप्रसिद्ध तिक्त, अम्ल, मधुर, कटु और कषायला भेदवाले रसना इन्द्रिय के विषय से अभिप्राय है। रस यह उपलक्षण मात्र है इसलिए रस शब्द से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन सबका ग्रहण होता है। शोभन रस गंधादि जिनके हों वे सुरस कहलाते हैं। उस सुरस को 'दिय' खण्डन करने वाले सिद्ध भगवान सुरसदियं कहलाते हैं। **परमात्मप्रकाश** में लिखा है-

जिसमें रस, वर्ण, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं हैं, जिसमें जन्म-मरण नहीं है, वह निरंजन सिद्ध भगवान है। वे सिद्ध भगवान 'वं इन' मुक्तिरमा के पति हैं।

दसवें पक्ष में 'रस' शब्द द्रव (प्राप्त) अर्थ में आता है। 'सु' भले प्रकार 'रसति' 'द्रवति' 'प्राप्नोति' स्वकीय द्रव्य गुण पर्याय को प्राप्त होता है- स्वकीय गुण-पर्याय से परिणमन करते हैं। शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय से परिणत यतियों के द्वारा वंदित है, अभिनंदित है, समृद्ध है। **भावार्थ-** शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय से परिणत यतियों के द्वारा वंदित सिद्ध भगवान हैं। धातु अनेक अर्थ वाले होते हैं। ''धातूनामनेकार्थत्वात्'' जिस प्रकार स्वच्छन्दचारी गजेन्द्र विंध्याचल आदि अनेक अटवियों में भ्रमण करता है, उसी प्रकार 'कृ पठ् भू' आदि धातु भी अनेक अर्थ रूपी अटवियों में भ्रमण करते हैं। जैसे गच्छ् धातु गमन, ज्ञान, सेवन आदि अनेक अर्थों में आता है।

ग्यारहवें अर्थ में 'रस' शब्द पारद अर्थ में भी आता है। यद्यपि पारद का वास्तविक अर्थ पारा होता है, परन्तु वास्तविक अर्थ को छोड़कर यदि निरुक्ति अर्थ (शब्दार्थ) लिया जाता है तो भी दोष के लिए नहीं है। क्योंकि धातु के नाम समस्यापूर्त्ति, प्रहेलिका, छल, कौतुक, आदि के प्रयोजन के कारण बलपूर्वक अर्थान्तर से भी ग्रहण किये जाते हैं। इसमें व्याकरण दृष्टि से दोष नहीं आता है। अतः 'सु' सुष्ठु (शोभनीय) भली प्रकार से, अतिशयरूप से संसार समुद्र के पार को देते हैं- अर्थात् जो स्वयं संसार-समुद्र से पार

अतिशयेनाजवंजवसागरं पारं ददातीति पारदः स्वपरोद्धरणशीलः पंचाचारविराजमान आचार्यसमुदायः सुपारदः सुरसस्तेन वंदितमभिनंदितमित्येकादशश्छायार्थः। ''जले वीर्ये विषे रागे तिक्तादौ देहधातुषु। द्रवे त्रिनेत्रवीर्ये च रसशब्दः प्रकीर्तितः'' इत्यनेकार्थः।

द्वादशे पक्षे ग्रंथकारेण श्रीसुरसेनाचार्येण निजनाम सूचितमिति ज्ञातव्यं। आगमार्थो हि प्रसिद्ध एव यत एवं गुणविशिष्टाः सिद्धा भवंत्येव। मतार्थस्तु सकलमतनिराकरणशीलो विशेषणद्वारेण विजयते। यद्यपि परमतेषु मिथ्यादृष्टिसुरसमुदायनमस्कृताः किंचिच्चमत्कारमात्रपराक्रमेण महावीराः अंजनगुटिकादिसिद्धाः प्रसिद्धा न ते विमलतरगुणसमृद्धमंडिताः ततो विमलतरगुणसमृद्धमिति विशेषणं स्वमतोपात्तसिद्धलक्षणविजयेन परमतोपात्तपराजयेन निःशंकं प्रद्योतते। भावार्थश्चायं, यो यद्गुणार्थी भवति स तद्गुणविशिष्टपुरुषविशेषं

होते हैं और अन्य भव्य जीवों को रत्नत्रय रूपी नौका में बिठाकर पार करते हैं उन आचार्य, उपाध्याय और साधु गणों को सुरस कहते हैं। अथवा मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली शिक्षा एवं दीक्षा के प्रदायक, स्व और पर का उद्धार करने में तत्पर, पंचाचार (दर्शनाचार, ज्ञानाचार तपाचार, चारित्राचार और वीर्याचार) का पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी पारद (सुरस) कहलाते हैं। उन आचार्य परमेष्ठी के द्वारा वंदित, नमस्कृत, अनुभूत सिद्ध होते हैं। अर्थात् आचार्य परमेष्ठी अनन्य भावों से सिद्धों को नमस्कार करते हैं, वन्दना करते हैं, अर्चना करते हैं। उन सिद्धों का ध्यान के द्वारा अनुभव करते हैं। अतः सिद्ध सुपारद (सुरस) कहलाते हैं।

''जल, वीर्य, विष, राग, तिक्त रसादि, देह, धातु, द्रव, त्रिनेत्र, वीर्य इन अर्थों में रस शब्द का प्रयोग होता है।'' ऐसा अनेकार्थ कोष में लिखा है।

इस गाथा में सुरसेन आचार्य ने अपना नाम भी सूचित किया है।

इस प्रकार इस गाथा का रत्नकीर्त्ति देव ने १२ प्रकार से अर्थ किया है।

नयार्थ यथायोग्य समझना चाहिए। आगमार्थ तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि इस प्रकार के गुणविशिष्ट सिद्ध भगवान ही होते हैं, ऐसा आगम में लिखा है।

सकल मत का निराकरण करने में तत्पर मतार्थ तो इन विशेषणों के द्वारा प्रगट होता ही है, क्योंकि उपर्युक्त विशेषण वाले सिद्ध भगवान अन्य मत में नहीं हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि हरिहरादिक भी देवगणों के वन्दनीय हैं किंचित् लौकिक चमत्कार दिखाकर महावीर नाम से प्रसिद्ध हैं, कोई अञ्जनगुटिका आदि से भी सिद्ध है, परन्तु ''विमलतर गुण से मंडित'' यह विशेषण परमत का खण्डन करने वाला है क्योंकि अन्यमतों में विमलतर गुणों से मंडित सिद्ध नहीं है। अतः विमलतर गुणों से समृद्ध यह विशेषण निश्शंक रूप से स्वमत (जिनधर्म) कथित सिद्ध के लक्षण की विजय से परमत में कथित सिद्ध के लक्षण का खण्डन करता ही है।

नमस्कुरुते अयं तु स्वामी श्रीसुरसेनाचार्यः मुमुक्षुरन्यांश्च मुमुक्षून् मोक्षमार्गं नेता चतुर्विधाराधनासारफलप्राप्तं सिद्धपरमात्मानं नमस्कृत्य ग्रंथारंभे प्रवर्तते। अनेन द्वारेण प्रोक्तार्थसमुदायः स्वावसरे स्वावसरे सर्वत्र ज्ञातव्यः। गाथा छंदः। गाथापादत्रयेण स्वेष्टदेवतानमस्कारप्रतिपादनेन चरमपादेनाराधनासारं वक्ष्येऽहमिति प्रतिज्ञाकरणे प्रथमगाथासूत्रं गतं ॥१॥

अथ निर्दिष्टाराधनासारस्य गाथापूर्वार्धेन लक्षणमपरार्धेन तद्विभागं च दर्शयति-

आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ।
सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो ॥२॥

आराधनादिसारस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः।
स द्विभेद उक्तो व्यवहारश्चैव परमार्थः ॥२॥

भवतीति क्रियापदमध्याहृत्य व्याख्या विधीयते। भवति। कोसौ। **आराहणाइसारो** आराधनादिसारः आदिपदग्रहणस्य गाथाछदसः प्रथमपादस्य द्वादशमात्रापूरणार्थमेव प्रयोजनं नान्यत्। यथा दशादिरथः दशपूर्वकंधरः भीमादिसेन इत्यादिप्रयोगात् छंदःपूरणार्थं कवयः प्रयुंजते न दोषाय। आराधनेति पदमादौ यस्य सारस्य असौ आराधनासारः इति लक्ष्यनिर्देशः कृतः। किंलक्षणः। **तवदंसणणाणचरणसमवाओ**

भावार्थ इस प्रकार है: क्योंकि जो जिस का अर्थी (इच्छुक) है वह उस गुणविशिष्ट पुरुष को नमस्कार करता है। ये स्वामी सुरसेन आचार्य स्वयं मुमुक्षु (स्वात्मोपलब्धि सिद्धि प्राप्ति के इच्छुक) हैं और अन्य मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग के उपदेशक होने से मोक्षमार्ग के नेता हैं इसलिए चतुर्विध आराधना के फल को प्राप्त करने वाले उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। इस प्रकार उपर्युक्त अर्थसमुदाय से शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, मतार्थ और भावार्थ अपने-अपने अवसर पर सर्वत्र लगाना चाहिए।

यह छंद गाथा-आर्या छंद है। इस आर्या छन्द में प्रथम तीन पाद (चरण) से इष्टदेव को नमस्कार किया है और अन्तिम चतुर्थ चरण के द्वारा **'आराधनासार कहूंगा'** यह प्रतिज्ञा की है॥१॥

अब गाथा के पूर्वार्ध से निर्दिष्ट **आराधनासार** का लक्षण और उत्तरार्ध से उस आराधना के विभाग (भेद) का कथन करते हैं-

तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप समवाय आराधनासार है। यह आराधनासार निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ॥२॥

'भवति' होता है, इस क्रियापद का अध्याहार करके आराधनासार की व्याख्या की जाती है-

इस गाथा में जो 'आदि' पद है, वह गाथा-छंद के प्रथम चरण की १२ मात्रा की पूर्ति के लिए ही है। इसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे भीमसेनादि में जो आदि शब्द है, वह भी छन्द की परिपूर्णतार्थ है, इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं, क्योंकि छन्द की परिपूर्णता के लिए कवि लोग आदि शब्द का प्रयोग करते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। आराधना का सार आराधनासार कहलाता है। यह लक्ष्य निर्देश किया गया है।

तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः। आदौ तपोग्रहणमपि छंदःपूरणाय तपश्च दर्शनं च ज्ञानं च चरणं च तपोदर्शनज्ञानचरणानि एतेषां समवायः समुदायस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवायः तपोदर्शनज्ञानचरणान्येतानि चत्वार्यपि अस्मिन्नेवाराधनासारे समवेतान्यवकाशमतिजातानि ततस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय इति सम्यग्लक्षणमाराधनासारस्य भवति। अथायमभेदः सभेदो वेत्याशंकायां विभागं सूचयति। **उत्तो** उक्तः। कोऽसौ यः। स आराधनासारः। कतिभेदः। **दुब्भेओ** द्विभेदः द्वौ भेदौ यस्यासौ द्विभेदः। कौ तावित्याह। **ववहारो** एको व्यवहारः **परमट्ठो** एकश्च परमार्थः व्यवहाराराधनासारः परमार्थाराधनासार इत्यर्थः इति योजनिकाद्वारः। तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय आराधनासारो भवति स व्यवहारः परमार्थश्चैवेति द्विभेद उक्तः इति संक्षेपान्वयद्वारः। इत्याराधनासारलक्षणविभागप्रतिपादकं द्वितीयं गाथासूत्रं गतं॥२॥

अथादावुद्दिष्टस्य प्रथमभेदस्य व्यवहाराराधनासारस्य लक्षणं सविभागं प्रतिपादयति-

ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स।
दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं॥३॥

व्यवहारेण च सारो भणित आराधनाचतुष्कस्य।
दर्शनज्ञानचरित्रं तपश्च जिनभाषितं नूनम्॥३॥

भणिओ भणितः प्रोक्तः। कोऽसौ। **सारो** सारः रहस्यो धारः। कस्य **आराहणाचउक्कस्स** आराधनाचतुष्कस्य। केन। **ववहारेण** व्यवहारेण व्यवहरणं व्यवहारः यथोक्तक्रियाचारस्तेन चकारोनुक्तसमुच्चयार्थः तेन परमात्माध्यानावस्थायां निश्चयेन च। यदुक्तं-

---

तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समवाय-समुदाय तप-दर्शन-ज्ञान और चारित्र का समवाय कहलाता है। इन चारों के समवाय का इस आराधनासार में कथन किया गया है।

दर्शन, ज्ञानादि आराधना की समीचीनता ही सार है। इस आराधनासार के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद हैं अर्थात् व्यवहार आराधनासार और निश्चय आराधनासार।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रूप आराधना का भेद करने वाली **दूसरी गाथा पूर्ण हुई ॥२॥**

अब पहले उद्दिष्ट, प्रथम भेद वाली व्यवहार आराधना का लक्षण तथा उसके विभाग का प्रतिपादन करते हैं-

व्यवहार नय से आराधनाचतुष्क का सार-जिनभाषित दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप कहा गया है॥३॥

सार, रहस्य और धार ये सब एकार्थवाची हैं। चार आराधना का सार वा रहस्य आराधनासार है। यह यथोक्त क्रियाचार व्यवहार नयसे आराधनासार है। 'च' शब्द अनुक्त समुच्चय अर्थ के लिए है। इसलिए निश्चय नय से परमात्मा का ध्यान ही आराधना है। सो ही कहा है-

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्जिनभाषितैः।
आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारता॥

तैरेव परमब्रह्म ध्यानात्तन्मयतां गतैः आराधनाचतुष्कस्य निश्चयेन च सारता। किं तत् आराधनाचतुष्कं। **दंसणणाणचरित्तं** दर्शनज्ञानचारित्रं न केवलं दर्शनज्ञानचारित्रं। तपश्च। किंविशिष्टं। **जिणभासियं** जिनभाषितं जिनेन वीतरागेन सर्वज्ञेन भाषितं प्रतिपादितं जिनभाषितं अत एव नूनं निश्चितं। यदेव हि जिनोक्तं तदेव नूनं जितरागादिद्वेषत्वात्। यदुक्तं-

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतं।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकरणं नास्ति॥

ततो जिनभाषितान्येव दर्शनज्ञानचारित्रतपांस्युपादेयानि सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं सम्यक् तपश्चेत्यस्य चतुष्कस्य यदाराधना उपासना विधीयते तदाराधनाचतुष्कं। अत्र प्रवृत्तिर्व्यवहाराराधना सारो भवतीति रहस्यमिति योजनिकाद्वारः। आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारो भणितः नूनं जिनभाषितं दर्शनज्ञानचारित्रं तपश्चेति चतुष्कं भवतीति विशेष इति संक्षपान्वयद्वारः॥ इति व्यवहाराराधनासारलक्षणप्रतिपादनेन तृतीयं गाथासूत्रं गतं॥३॥

अथ व्यवहाराराधनासारसामान्यलक्षणं प्रतिपाद्य तस्य प्रथमभेदस्य सम्यग्दर्शनाराधनाया लक्षणं प्रतिपादयति-

---

"व्यवहार नय से जिनेन्द्र द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये आराधना चतुष्क का सार हैं।"

निश्चय नय से उन्हीं चार आराधनाओं द्वारा परम ब्रह्म के ध्यान से तन्मयता को प्राप्त होना चार आराधना का सार है। यह निश्चय-व्यवहार आराधना जिनेन्द्र द्वारा कथित है इसलिए निश्चित है, वास्तविक है- क्योंकि भगवान रागद्वेष रहित हैं अतः उनका कथन सत्य है, सो ही कहा है-

"रागद्वेष, मोह के कारण ही प्राणी अनृत वचन बोलते हैं। जिसके राग, द्वेष और मोह रूप दोष नहीं हैं उनके अनृत वचन नहीं होते हैं।"

जिनेन्द्र द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप ही उपादेय हैं अर्थात् ये चार ही आराधना करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य हैं। यही चार-आराधना कही जाती है। इन चारों क्रियाओं में प्रवृत्ति करना व्यवहार से चार आराधना का सार कहा जाता है। इस प्रकार जिनेन्द्रकथित चार आराधना का सार संक्षेप से कहा है।

इस प्रकार व्यवहार आराधनासार का लक्षण प्रतिपादित करने वाली **तीसरी गाथा समाप्त हुई ॥३॥**

अब व्यवहार-आराधनासार के सामान्य लक्षण का प्रतिपादन करके चार आराधनाओं में जो प्रथम भेद **सम्यग्दर्शन आराधना** है उसका लक्षण कहते हैं-

भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं।
आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिंदेहिं ॥४॥

भावानां श्रद्धानं क्रियते यत्सूत्रोक्तयुक्तिभिः।
आराधना हि भणिता सम्यक्त्वे सा मुनीन्द्रैः ॥४॥

भणिया भणिता। काऽसौ। सा **आराहणा** आराधना। कत्थं। हु खलु, हुशब्दः खल्वर्थे प्राकृतत्वात्। कैः। **मुणिंदेहिं** मुनींद्रैः। क्व। **सम्मत्ते** सम्यक्त्वे। सेति का। **कीरइ** क्रियते। किं तत्। यत् यदिति किं। **सद्दहणं** श्रद्धानं विश्वासो रुचिः प्रतीतिरिति यावत्। केषां? **भावाणं** भावानां जीवादिपदार्थानां।

काभिः करणताभिः। **सुत्तउत्तजुत्तीहिं** सूत्रोक्तयुक्तिभिः सूत्रे परमागमे उक्ता या युक्तयः सूत्रोक्तयुक्तयस्ताभिः सूत्रोक्तयुक्तिभिरिति योजनिकाद्वारः। सूत्रोक्तयुक्तिभिर्यद्भावानां श्रद्धानं क्रियते सम्यक्त्वे सा आराधना मुनींद्रैर्भणिता खलु इति संक्षेपान्वयद्वारः। तथाहि द्रव्यगुणपर्याया एतेषु भवंतीति भावा जीवादयो नवपदार्था भवंति। एतेषां किंचिन्निर्देशः क्रियते। तत्र चेतनालक्षणो जीवः तद्विलक्षणः पुद्गलधर्माधर्माकाशकालस्वरूपपंचविधोऽजीवः, योगद्वारेण कर्मागमनमास्रवः,

---

सूत्र (जिनेन्द्रदेव के वचन) में कथित युक्ति के द्वारा जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है ॥४॥

गाथा में 'हु' शब्द निश्चय अर्थ तथा पादपूरण के लिए है। यद्यपि भाव, पदार्थ, तत्त्व ये एकार्थ-वाची शब्द हैं फिर भी शब्दार्थ की अपेक्षा कुछ अन्तर भी है। अतः संक्षेप से नव पदार्थ वा सात तत्त्वों का श्रद्धान करना, रुचि करना सम्यग्दर्शन है।

स्वकीय-स्वकीय गुण-पर्यायों में जो होते हैं, रहते हैं उन जीवादि को भाव कहते हैं।

अर्थ्यते, गम्यते= जो ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं; ज्ञान के विषय हैं, ज्ञानगम्य हैं, वे अर्थ या पदार्थ कहलाते हैं। द्रवति, गच्छति, प्राप्नोति स्वकीय-स्वकीयद्रव्यगुणपर्यायान्, जो अपने-अपने गुणों एवं पर्यायों को प्राप्त होते हैं, प्रतिक्षण गुण-पर्यायों में स्वभाव विभाव रूप परिणमन करते हैं इसलिए वे द्रव्य कहलाते हैं।

तत्त्व शब्द सामान्यभाव वाची है, जिसका अर्थ है- जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उनका उसी प्रकार से होना, परिणमन करना तत्त्व कहलाता है। अथवा-जीव अजीव ये दो द्रव्य हैं और उनकी पर्यायें भाव वा तत्त्व कहलाती हैं।

मुख्यतया जीव, अजीव के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है।

चेतना (ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग) जिसका लक्षण है उसको **जीव** कहते हैं। जिसमें चेतना नहीं है, अचेतन लक्षण है उसको **अजीव** कहते हैं। जिसमें चेतना नहीं है वह जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव है। अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं उसको पुद्गल कहते हैं। इसके दो भेद हैं: अणु और स्कन्ध।

जीवकर्मणोरन्योन्यप्रदेशप्रवेशात्मको बंधः, आस्रवनिरोधः संवरः, कर्मणामेकदेशगलनं निर्जरा, बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः, शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं, अतोन्यत्पापं। अमी नव पदार्थसंज्ञां लभंते। उक्तस्य पंचविधस्याजीवस्य निर्देशो विधीयते। तत्र स्पर्शरसंगधवर्णवंतः पुद्गलाः, जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं धर्मः, स्थानयुक्तानां स्थितेः सहकारिकारणमधर्मः, सर्वद्रव्याणामवकाशदानदायकमाकाशं, वर्तनालक्षणः कालः। अमी कालेन विना जीवेन सह पंचास्तिकायसंज्ञां लभंते। पुण्यपापाभ्यां विना नव पदार्थाः सप्त तत्त्वसंज्ञां लभंते। एतेषां सप्रपंचविशेषाः परमागमतो विज्ञेया अत्र तु नोच्यंते ग्रंथगौरवभयात् बहुषु ग्रंथेषु प्रोक्तत्वाच्च। अमी यथा जिनेंद्रेण प्रतिपादितास्तथैव सम्यक्त्वलिंगिता भवंति नान्यथेति विश्वासः प्रतीतिः रुचिः श्रद्धानं भण्यते। तच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वेति

जिसका दूसरा विभाग नहीं कर सकते, जिसमें दो स्पर्श एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण पाया जाये उसको **परमाणु** कहते हैं। परमाणुओं के समूह को **स्कन्ध** कहते हैं। जिसका विभाजन किया जाता है जो इन्द्रियों का विषय है तथा जो इन्द्रियों के द्वारा उपभोग में आता है उसे स्कन्ध कहते हैं।

जीव और पुद्गल के गमन में जो सहकारी होता है, उसे **धर्म द्रव्य** कहते हैं, जैसे मछली के चलने में जल। जीव और पुद्गल के ठहरने में जो सहकारी होता है, उसे **अधर्म द्रव्य** कहते हैं, जैसे पथिक के ठहरने में वृक्ष की छाया।

जीवादि छहों द्रव्यों को जो अवकाश देता है, स्थान देता है उसे **आकाश** कहते हैं। इसके दो भेद हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। जिसमें जीवादि छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे **लोकाकाश** कहते हैं जिसमें केवल आकाश द्रव्य है, उसे अलोकाकाश कहते हैं।

जीवादि छहों द्रव्यों के परिवर्तन में जो कारण बनता है उसे **काल द्रव्य** कहते हैं। निश्चय और व्यवहार के भेद से काल द्रव्य दो प्रकार का है: द्रव्यों का प्रतिक्षण जो परिवर्तन होता है, वर्तना होती है वह **निश्चय काल** है। निश्चय काल का कारण तथा आवली, नाड़ी, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि का जो ज्ञान कराता है वह **व्यवहार काल** है।

प्रदेशों का समूह जिन द्रव्यों में पाया जाता है वे **अस्तिकाय** कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं। जीव, धर्म और अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है। यद्यपि पुद्गलपरमाणु एक प्रदेशी है परन्तु उन परमाणुओं में स्कन्ध होने की शक्ति है। इसलिए उपचार से पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी कहलाता है। काल द्रव्य उपचार से भी अस्तिकाय नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य स्कन्ध होकर इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होता है, विभाजन के योग्य हो जाता है इसलिए उपचार से अस्तिकाय होता है, परन्तु काल द्रव्य का संचय नहीं होता और न उसका हम विभाजन कर सकते हैं अर्थात् जैसे पुद्गल स्कन्ध का विभाजन करके छोटा- बड़ा कर सकते हैं वैसे काल का विभाजन करके छोटा-बड़ा नहीं कर सकते अतः काल अस्तिकाय नहीं है।

तत्त्व सात हैं जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव-अजीव का लक्षण पहले कह दिया है। कर्मों के आगमन को **आस्रव** कहते हैं। वह आस्रव दो प्रकार का है। द्रव्य और भाव। जीव के जिन भावों से कर्म आते हैं, उन भावों को **भाव आस्रव** कहते हैं। वे भाव पाँच प्रकार के हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

वचनात्कारणद्वयमद्भवति। जीवस्य अनादिकालकर्मपटलाष्टकमात्मानं मिथ्यात्वं क्वापि न परित्यजति। तद्द्विविधं अगृहीतगृहीतभेदात्। प्रथमं तावत्सकलस्य जीवराशेर्भवति तदुदयेन तत्त्वातत्त्वश्रद्धानं किमपि न भवति। तत्र सम्यग्विपरीततत्त्वश्रद्धानयोर्द्वयोरप्यनवकाशत्वात्। द्वितीयं तु विशिष्टपंचेंद्रियजीवराशेर्भवति

जिस भाव के उदय से जीव को तत्त्वश्रद्धान नहीं होता है, विपरीत बुद्धि होती है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। सामान्यत: मिथ्यात्व **एक** प्रकार का है। गृहीत, अगृहीत के भेद से दो प्रकार का है। एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व पाँच प्रकार का भी है।

द्रव्य नित्य ही है वा अनित्य ही है। इस प्रकार एकान्त रूप से वस्तु का निर्णय करना **एकान्त मिथ्यात्व** है। वस्तु के स्वरूप का विपरीत श्रद्धान करना **विपरीत मिथ्यात्व** है। देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, गुरु-कुगुरु में भेद न समझकर सबकी समान विनय करना **विनय मिथ्यात्व** है। तत्त्वों का निर्णय नहीं करना, संशय रखना **संशय मिथ्यात्व** है। तत्त्वों को जानने का प्रयत्न ही नहीं करना **अज्ञान मिथ्यात्व** है। श्रद्धान और श्रद्धातव्य के भेद से मिथ्यात्व असंख्यात लोक प्रमाण भी है। परन्तु सर्व मिथ्यात्व के भेद गृहीत और अगृहीत इन दो मिथ्यात्वों में गर्भित हो जाते हैं। जो कुगुरु के उपदेश से अतत्त्व वा मिथ्यात्व में गर्भित हो जाते हैं, जो कुगुरु के उपदेश से अतत्त्व वा मिथ्याधर्म का श्रद्धान होता है, वह **गृहीत मिथ्यात्व** है। जो अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से अतत्त्व श्रद्धान है, वह **अगृहीत मिथ्यात्व** है। गृहीत मिथ्यात्व पंचेन्द्रिय सैनी के ही होता है।

व्रतग्रहण वा संयमग्रहण के भाव नहीं होना **अविरति** है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के भेद से अविरति पाँच प्रकार की है अथवा- पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रखना, छह काय के जीवों की विराधना करना रूप १२ प्रकार की भी अविरति होती है।

अच्छे (दान-पूजादि शुभ) कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होना प्रमाद कहलाता है। उस प्रमाद के १५ भेद हैं। जिस कारण से यह जीव प्रमादी होता है, उसका मूल कारण कषाय का तीव्र उदय है क्योंकि **कषाय** ही आत्महितकारी कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करने देती है। मूल कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार की है और उत्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इन कषायों के वशीभूत होकर जीव पाँच इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, यह **पंचेन्द्रिय नामक प्रमाद** है।

कषाय के कारण जो मन, वचन, काय की कुकथा में प्रवृत्ति होती है वह **विकथा नामक प्रमाद** है। उसके यद्यपि असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं परन्तु ये सारे भेद चार विकथाओं में गर्भित हो जाते हैं।

देश-देशान्तर में होने वाले मानव, पशु, कुआ-बावड़ी, उद्यान आदि की कथा तथा वहाँ के राज्यों की व्यवस्था आदि के कथन में लीन होना **राष्ट्र कथा** कहलाती है। देश की व्यवस्था करने वाले राजाओं की कथा करना **अवनिपाल** कथा है।

भोजन की कथा करना **भोजन कथा** है। स्त्रियों के हाव, भाव, विलास व अंगोपांग की कथा करना **स्त्री कथा** है। निद्रा और स्नेह इस प्रकार प्रमाद के १५ भेद हैं। मन, वचन और काय ये तीन योग है। इस प्रकार इन कारणों से पौद्गलिक कर्म आते हैं, अत: यह **भाव आस्रव** है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ आती हैं वह द्रव्यास्रव कहलाता है। द्रव्यास्रव भी ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार का है। मतिज्ञानावरण आदि उत्तर प्रकृतियों के भेद से द्रव्यास्रव १४८ प्रकार का है। तथा सूक्ष्म भेद की अपेक्षा द्रव्यास्रव असंख्यात लोक प्रमाण है।

जीव और कर्मों का एकक्षेत्रावगाही हो जाना, अन्यान्य प्रदेशों का परस्पर एक स्थान में हो जाना **बंध** है। वह बंध प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग और स्थिति की अपेक्षा चार प्रकार का है। स्वभाव को **प्रकृति** कहते हैं- जैसे नीम की प्रकृति कटु है, दूध की मधुर। उसी प्रकार ज्ञान गुण का आच्छादन करना ज्ञानावरणीय का स्वभाव है, दर्शनावरण आदि को भी इसी भाँति समझना। पुद्गल परमाणु के समूह रूप जो कार्माण वर्गणा है, वह **प्रदेश बन्ध** है। फलदान शक्ति **अनुभाग बंध** है और कर्म प्रकृति का आत्मा के साथ रहने का नाम **स्थिति बंध** है। प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होता है और स्थिति, अनुभाग बन्ध कषाय से होता है।

आस्रव के निरोध को **संवर** कहते हैं अथवा आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है।

बँधे हुए कर्मों का एकदेश गलना, झड़ना नष्ट होना **निर्जरा** है।

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना, आत्मा से अलग हो जाना **मोक्ष** है अथवा बंध के कारणों का अभाव और निर्जरा होने से कर्मों का अभाव होना मोक्ष है।

ये सात तत्त्व कहलाते हैं। इनमें पुण्य और पाप मिलाने से नौ पदार्थ होते हैं। अथवा पुण्य-पाप रहित नौ पदार्थ सात तत्त्व कहलाते हैं। **शंका**- नौ पदार्थ का पृथक् कथन क्यों किया है?

उत्तर - जीव, अजीव आदि सातों तत्त्व पुण्य और पाप रूप हैं। जैसे प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक के जीव पापात्मा है और चतुर्थ गुणस्थानसे १४ वें गुणस्थान तक के जीव पुण्यात्मा हैं। इसी प्रकार आस्रव के भी दो भेद हैं- पुण्यास्रव और पापास्रव। जैसे शुभ नाम, गोत्र, आयु रूप कर्मों का आगमन पुण्यास्रव है और दर्शनावरणीय आदि कर्मों का आगमन पापास्रव है।

बंध भी पाप और पुण्य बंध के भेद से दो प्रकार का है। संवर भी दो प्रकार का है- पुण्य संवर और पाप संवर। पाप प्रकृतियों का आना रुक जाना पाप संवर है और पुण्य प्रकृतियों का आगमन रुक जाना पुण्य संवर है।

पापकर्मों का एकदेश गलना, झड़ना पापनिर्जरा है और पुण्य कर्मों का झरना पुण्यनिर्जरा है।

पापकर्मों का आत्मा से छूटना पापमोक्ष है और पुण्यकर्मों का आत्मा से छूट जाना पुण्यमोक्ष है। इन सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय रूप पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार संक्षेप से छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय नौ पदार्थ सात तत्त्व का कथन किया। विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अथवा, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित तत्त्व ही सत्य है, वास्तविक है अन्य नहीं; इस प्रकार दृढ़ विश्वास, प्रतीति, रुचि करना सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के ये दो भेद दो कारणों की अपेक्षा से हैं।

जिसके उदय से जीवके अनादिकालीन कर्मपटल-अष्टक आत्मा को नहीं छोड़ते हैं, वह **मिथ्यात्व** है। वह मिथ्यात्व अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है।

तदुदयेन जीवो विपरीतं तत्त्वं श्रद्धत्ते न सम्यक्। यदा तु लब्धकालादिलब्धिको भवति जीवस्तदा निसर्गाधिगमाख्यकारणद्वयं प्राप्नोति। निसर्गः स्वभावः आचार्यादीनां धर्मोपदेशविशिष्टोपायः अधिगमः निसर्गेणापि पूर्वमधिगमेन भूत्वा भाव्यं अन्यस्मिन् जन्मनि भावितयोगत्वात्। ततः अधिगम एव सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तं प्रधानं निसर्गे अधिगमे वा सत्यपि जीव औपशमिकं क्षायोपशमिकं क्षायिकं चेति कारणत्रयं समाश्रित्य तत्त्वश्रद्धानं विधत्ते। अथैतेषां औपशमिकादीनां यथानुक्रमेण लक्षणमाह। लक्षणं द्विविधं सामान्यविशेषभेदात्। एकव्यक्तिनिष्ठं सामान्य अनेक व्यक्तिनिष्ठो विशेषः। तत्र तावत्सामान्यलक्षणमुच्यते।

प्रथम (अगृहीत) मिथ्यात्व सकल संसारी जीवराशि के होता है। इसके उदय से जीव तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वातत्त्व (सम्यग्मिथ्यात्व युक्त) परिणाम वाला भी नहीं हो सकता। क्योंकि अगृहीत मिथ्यात्व में विपरीत (सम्यक् श्रद्धान और सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन दोनों) श्रद्धान का अवकाश नहीं है। द्वितीय (गृहीत मिथ्यात्व) विशिष्ट पंचेन्द्रिय जीवराशि के होता है। उसके उदय से जीव, तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करता है, सम्यक् श्रद्धान नहीं करता।

जब जीव काललब्धि आदि का सुयोग प्राप्त करता है तब निसर्ग और अधिगम नामक दो कारणों से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ आचार्यादि के धर्मोपदेश विशिष्ट उपाय हैं। निसर्ग सम्यग्दर्शन में भी पूर्व में प्राप्त देशनालब्धि युक्त आसन्नभव्य तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन का कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का प्रधान कारण तो अधिगमज ही है क्योंकि देशनालब्धि के बिना जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शंका - यदि देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन का कथन नहीं करना चाहिए?

उत्तर - यद्यपि देशनालब्धिपूर्वक होने से सम्यग्दर्शन अधिगमज ही है तथापि गुरु को जिसमें विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसलिये निसर्गज वा अधिगमज निमित्त को प्राप्त कर जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। अब इन तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन का क्रम से लक्षण कहते हैं।

जो सम्यग्दर्शन गुरु को अधिक परिश्रम के बिना उत्पन्न होता है, वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** है। जो गुरु के द्वारा विशेष समझाने पर तत्त्वरुचि होती है उसको **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहते हैं। यह बाह्य कारण की अपेक्षा कथन है।

अब अन्तरंग कारणों की अपेक्षा से होने वाले सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं। वह लक्षण दो प्रकार का है- **सामान्य और विशेष**। जो अनेकव्यक्तिनिष्ठ होता है, वह **सामान्य लक्षण** है और जो एक व्यक्ति निष्ठ है, वह **विशेष** है।

आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः कतकादिद्रव्यसंबंधादंभसि पंकस्यानुद्भूतिवत्। आत्यंतिकी निवृत्तिः क्षयः तस्मिन्नेवांभसि शुचिभाजनांतरसंक्रांते पंकस्यात्यंताभाववत्। उभयात्मको मिश्र तस्मिन्नेवांभसि कतकादिद्रव्यसंबंधात् पंकस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिवत्। उपशमः प्रयोजनमस्ये-त्यौपशमिक, क्षयः प्रयोजनमस्येति क्षायिकं, क्षयोपशमः प्रयोजनमस्येति क्षायोपशमिकं। मोहनीयकर्मणः अनंतानुबंधिचतुष्टयं मिथ्यात्वत्रयं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं भवति। तत्कथं भवतीति चेत्। अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति। कुतस्तदुपशमः। काललब्ध्यादिनिमित्तवान्। तत्र काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा-भव्यः काले अर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा काललब्धिः कर्मस्थितिका उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु प्रथम सम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अंतःकोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बंधमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामंतः कोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति।

आत्मा में अंतरंग-बहिरंग कारणों से कर्मों के शक्ति की उत्पत्ति नहीं होना, उसको **उपशम** कहते हैं। जैसे कतकफलादि द्रव्य के सम्बन्ध से पानी का कीचड़ नीचे बैठ जाता है।

कर्मों की आत्यंतिकी निवृत्ति **क्षय** कहलाती है। जैसे निर्मल पानी को स्फटिक मणि के भाजन में रखने से पानी अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है।

उभय आत्मक **मिश्र** कहलाता है। जैसे जल में कुछ कीचड़ नीचे बैठ जाता है और कुछ ऊपर रहता है, मिश्रित होता है।

उपशम जिसका भाव है वह **औपशमिक** कहलाता है। क्षय जिसका भाव है वह **क्षायिक** कहलाता है और क्षय और उपशम जिसका भाव है वह **क्षायोपशमिक** कहलाता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, चारित्र मोहनीय कर्म की इन चार प्रकृतियों और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप दर्शनमोहनीय की इन तीन इस प्रकार कुल सात प्रकृतियों का उपशमन होने से तत्त्वों का जो दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह **औपशमिक सम्यग्दर्शन** कहलाता है।

इन्हीं सात प्रकृतियों का अत्यंत क्षय हो जाने से इन सातों की सत्ता-व्युच्छित्ति हो जाने से जो तत्त्व-श्रद्धान होता है, वह **क्षायिक सम्यग्दर्शन** है। अनन्तानुबन्धी चार, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के वर्त्तमान में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय, भविष्यत्काल में उदय में आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और एकदेशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से जो चल, मलिन और अवगाढ़ भाव होता है, उसको **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

कर्मों के उदय से उत्पन्न कालुष्य भाव होने पर अनादि मिथ्यादृष्टि के उपशम सम्यग्दर्शन कैसे होता है? ऐसी **शंका** होने पर आचार्यदेव कहते हैं कि काललब्धि आदि का निमित्त पाकर **यह जीव सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।** सर्व प्रथम कर्मकालिमा से लिप्त भव्यात्मा अर्ध पुद्गल परिवर्तन नामक काल शेष रहनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने योग्य होता है, अधिक काल रहने पर नहीं, यह **प्रथम काल लब्धि** है।

अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया, भव्यः पंचेंद्रियः संज्ञी पर्याप्तः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। आदिशब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते, इत्यौपशमिकसम्यक्त्वलक्षणं पूर्णं। अनंतानुबंधिचतुष्कस्य मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्तेषामेव सदवस्थारूपोपशमाच्च सम्यक्त्वस्यैकदेशघातिन उदयात् क्षायोपशमिकं चेति सम्यक्त्वं। तासां पूर्वोक्तानां सप्तानां प्रकृतीनामत्यंतक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वं। सम्यक्त्वलक्षणं व्याकृत्य कस्यां गतौ कति सम्यक्त्वानि भवंति इति सूच्यते। तत्र नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकानां औपशमिकं क्षायोपशमिकं चेति सम्यक्त्वद्वयं भवति। प्रथमायां पुनः पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चेति द्वयं भवति।

दूसरी काल लब्धि : कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति की सत्ता में प्रथमोपशम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है अर्थात् जब आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों की जघन्य वा उत्कृष्ट स्थिति है तो यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य नहीं होता।

शंका - तो फिर जीव सम्यग्दर्शन ग्रहण करने योग्य कब होता है ?

उत्तर - विशुद्ध परिणामों के द्वारा अंतःकोटाकोटी प्रमाण स्थिति वाले कर्मों के बँधने पर और बँधे हुए कर्मों की स्थिति को संख्यात हजार सागर प्रमाण कम करते-करते अन्तःकोटाकोटी प्रमाण स्थिति कर लेने पर प्रथम सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने योग्य होता है। अर्थात् परिणामों की विशुद्धि से सत्ता में पड़े हुए कर्म भी अन्तःकोटाकोटी प्रमाण स्थिति वाले हो जाते हैं और वर्तमान में बँधने वाले कर्म भी अन्तःकोटाकोटी प्रमाण स्थिति पूर्वक ही बँधते हैं तब सम्यक्त्व उत्पन्न होने की योग्यता आती है। भव्य, संज्ञी, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, सर्व विशुद्ध भाव वाले ही प्रथम सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने योग्य होते हैं।

आदि शब्द से जाति-स्मरणादि भी ग्रहण किया जाता है अर्थात् जातिस्मरण, दुःखानुभव, जिनमहिमा दर्शन और देव-ऋद्धिदर्शन आदि भी कारण हैं। इस प्रकार के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व सम्यक्त्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों के उपशमन से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है तथा अनन्तानुबन्धी चार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व छह प्रकृतियों का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से जो श्रद्धान रूप परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रकार तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और लक्षण का कथन किया है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण कहकर अब किसगति में कौनसा सम्यक्त्व होता है, उसका कथन करते हैं-नरक गति में सातों पृथिवियों में नारकियों के पर्याप्त अवस्था में उपशम और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में छह नरकों में सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् प्रथम नरक को छोड़कर अन्य नरकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता।

प्रथम नरक में अपर्याप्त अवस्था में दो सम्यग्दर्शन होते हैं क्षायिक और क्षायोपशमिक। पर्याप्त अवस्था में उपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं।

अपर्याप्त अवस्था में जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहा है, वह कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा से है, जो पर्याप्त होते ही अन्तर्मुहूर्त में क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जायेगा। वास्तविक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नरक गति में अपर्याप्त अवस्था में नहीं है।

तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकानामौपशमिकमस्ति तेषां पर्याप्तापर्याप्तकानां तु क्षायिकं क्षायोपशमिकं चेति द्वितयमस्ति, तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति औपशमिकं क्षायोपशमिकं च पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां। एवं मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं चास्ति औपशमिकं पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां, मानुषीणां तु त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकानां क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव। देवगतौ देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां त्रितयमप्यस्ति औपशमिकमपर्याप्तकानां। कथमितिचेत्। चारित्रमोहोपशमेन सहभूतान् प्रति भवनवासिव्यंतरज्योतिष्काणां देवानां देवीनां च सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च क्षायिकं नास्ति तेषां पर्याप्तकानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं चास्ति। अस्य साधनमपि कथ्यते। साधनं द्विविधमाभ्यंतरं बाह्यं च।

तिर्यञ्चों में तिर्यंच गति में पर्याप्त अवस्था में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं। उनके अपर्याप्त अवस्था में क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग् दर्शन होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नरक के समान कृतकृत्यवेदक की अपेक्षा से है क्योंकि सम्यग्दृष्टि नरक और तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता है।

जिन जीवों ने मिथ्यात्व अवस्था में नरक और तिर्यंच आयुका बंध कर लिया है, उसके बाद परिणामों की विशुद्धि और तीर्थंकर तथा श्रुतकेवली का सान्निध्य पाकर क्षायिक सम्यग्दर्शन वा कृतकृत्य वेदक को प्राप्त हुआ है, ऐसे जीव मरकर भोगभूमिया तिर्यंच और नारकी हो सकते हैं अत: उनके अपर्याप्त अवस्था में क्षायिक और क्षायोपशमिक दो सम्यग्दर्शन होते हैं, अन्य के नहीं। क्योंकि पूर्व मिथ्यात्व अवस्था में जिन्होंने तिर्यंच वा नरकायुका बंध नहीं किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यंच और नरक में उत्पन्न नहीं होते।

तिर्यंचिनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता अत: उसके अपर्याप्त अवस्था में कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है परन्तु पर्याप्त अवस्था में दो सम्यग्दर्शन होते हैं औपशमिक और क्षायोपशमिक। मनुष्यगति में मनुष्यों के अपर्याप्त अवस्था में दो सम्यग्दर्शन होते हैं, क्षायिक और क्षायोपशमिक।

पर्याप्त अवस्था में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं।

मनुष्यनियों (स्त्रियों) के अपर्याप्त अवस्था में कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होता। पर्याप्त अवस्था में क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं, परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। क्योंकि द्रव्यवेद में स्त्रियों के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

देवगति में देवों के पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन होते हैं।

शंका - अपर्याप्त अवस्था में देवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है?

उत्तर - चारित्र मोहनीय का उपशमकर उपशम श्रेणी पर आरूढ़ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सहित मरकर सर्वार्थसिद्धि आदि देवों में उत्पन्न हो सकते हैं, अत: अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में और सर्व प्रकार की देवांगनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता। इसलिये भवनत्रिक में सौधर्म आदि देवांगनाओं में अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्दर्शन नहीं होता। परन्तु पर्याप्त अवस्था में उपशम और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। भवनत्रिक और कल्पवासी देवांगनाओं में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है। इस प्रकार **सम्यग्दर्शन आराधना** के कथन में सम्यग्दर्शन का निर्देश और स्वामित्व का कथन समाप्त हुआ।

आभ्यंतरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं नारकाणां प्राक् चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिद्वेदनाभिभवः, चतुर्थीमारभ्य आसप्तम्याः नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च।

तिरश्चां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनबिंबदर्शनं। मनुष्याणामपि तथैव। देवानामपि केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं केषांचिज्जिनमहिमदर्शनं केषांचिद्देवर्धिदर्शनं। एवं प्राग्आनतात्। आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवर्धिदर्शनं मुक्त्वा अन्यत्रितयमप्यस्ति। नवग्रैवेयकवासिनां केषांचिज्जातिस्मरणं केषांचिद्धर्मश्रवणं। अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामियं कल्पना न भवति प्रागेव गृहीतसम्यक्त्वानां तत्रोत्पत्तेः।

सम्यग्दर्शन के **साधन** का कथन करते हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों को साधन कहते हैं। वह साधन दो प्रकार का है : अंतरंग और बाह्य।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अंतरंग कारण दर्शन मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। यह चारों गतियों में सामान्य है। बाह्य कारण अनेक प्रकार के हैं और कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं? जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदनानुभव, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देव-ऋद्धि-दर्शन।

गति मार्गणा की अपेक्षा नरक गति में प्रथम नरक से लेकर तीसरे नरक पर्यन्त किसी नारकी को जाति-स्मरण से किसी को धर्मश्रवण से और किसी को वेदना के अनुभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

चौथे नरक से सातवें नरक पर्यन्त किसी को जातिस्मरण से और किसी को वेदना-अनुभव से सम्यग्दर्शन होता है।

तिर्यंच गति में तिर्यंचों में किसी को जातिस्मरण से, किसी को धर्मश्रवण से और किसी को जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

मनुष्य गति में मनुष्यों के भी तिर्यंचों के समान सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के तीन कारण हैं। वेदनानुभव, धर्मश्रवण और जातिस्मरण।

देवगति में देवों के १२ वें स्वर्ग तक चार कारण हैं- जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन[१] और देव-ऋद्धि-दर्शन।[२]

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में देव-ऋद्धि को छोड़कर अन्य तीन कारण हैं।

नव ग्रैवेयकवासी देवों में किसी को जातिस्मरण से और किसी को धर्मश्रवण से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। नव ग्रैवेयक में सब देव समान हैं, इसलिए देवऋद्धि दर्शन कारण नहीं है।

नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर में सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं अतः इनमें सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों की कल्पना नहीं है।

---

१. जिनेन्द्र भगवान के पंच कल्याणक को जिनमहिमा कहते हैं।

२. देवों की सम्पदा, शक्ति आदि को देवऋद्धि कहते हैं।

अस्याधिकरणमपि कथ्यते । अधिकरणं द्विविधं आभ्यंतरं बाह्यं च। आभ्यंतरं स्वामिसंबंधार्ह एवात्मा 'विवक्षातः कारक-प्रवृत्तेः' बाह्यं लोकनाडी। सा कियती। एकरज्जुविष्कंभा चतुर्दशरज्ज्वायामा। स्थितिरप्यस्य कथ्यते। औपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चांतर्मौहूर्तिकी। क्षायिकस्य संसारिणः जघन्यांतर्मौहूर्तिकी उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सांतर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटीद्वयाधिकानि। मुक्तस्य सादिरप्यपर्यवसाना। क्षायोपशमिकस्य जघन्यांतर्मौहूर्तिकी उत्कृष्टा षट्षष्टिसागरोपमाणि॥ विधानमप्यस्य। विधानं सामान्यादेकं सम्यग्दर्शनं द्वितयं निसर्गजाधिगमजभेदात्। त्रितयं औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदादेवं संख्येया विकल्पा असंख्येया अनंताश्च भवंति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। एवंलक्षणं नानाविधैः सूत्रोक्तैः संति अत्र तूपदेशो मुख्यवृत्त्या मनुष्यगतौ कथ्यते तद्भवमुक्तिसाधनत्वात्।

अब **अधिकरण** का कथन करते हैं-

बाह्य और अंतरंग के भेद से अधिकरण के दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण आत्मा ही है क्योंकि आत्मा में ही सम्यग्दर्शन है अतः स्वामी-संबंध के योग्य आत्मा ही है। केवल विवक्षा से कारक की प्रवृत्ति होती है।

बाह्य अधिकरण १४ राजू लम्बी १ राजू चौड़ी त्रस नाली है। क्योंकि त्रसनाली में रहने वाले पंचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त जीवों को ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य को नहीं।

सम्यग्दर्शन की **स्थिति** का कथन करते हैं- स्थिति दो प्रकार की होती है- जघन्य और उत्कृष्ट। औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वह सम्यग्दर्शन छूट जाता है।

संसारी जीवों के क्षायिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में वह मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व अधिक तैंतीस सागर प्रमाण है। इतने काल के भीतर वह आत्मा निश्चय से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति सादि और अनन्त है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है अर्थात् यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त में छूट सकता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर प्रमाण है अर्थात् ६६ सागर के बाद यह सम्यग्दर्शन या तो क्षायिक सम्यग्दर्शन रूप परिणत हो जाता है या फिर छूट कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

अब सम्यग्दर्शन के **विधान (भेद)** का कथन करते हैं-

सामान्य से सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। विशेष रूप से निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। आज्ञा सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व आदि के भेद से १० प्रकार का है। इस प्रकार श्रद्धातृ[१] और श्रद्धातव्य[२] के भेद से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकार का भी सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार उपरि कथित लक्षण वाला सम्यग् दर्शन नाना प्रकार के सूत्र से कथित है। परन्तु इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मनुष्यभव की अपेक्षा कथन है- क्योंकि मानव ही आराधना की आराधना कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

१. श्रद्धान करने वाले को श्रद्धाता कहते हैं।

२. श्रद्धान करने योग्य वस्तु को श्रद्धातव्य कहते हैं।

मूढत्रयादिपंचविंशतिमलपरिहारेण हेयस्य त्यागेनोपादेयस्योपादानेन जीवादितत्त्वश्रद्धानं विधीयते यत्र सा व्यवहारसम्यग्दर्शनाराधना सा च क्षपकेणाप्रमत्तेनाराधनीया भवतीति तात्पर्यं।

आठ मद, शंका आदि आठ दोष, तीन मूढ़ता और छह अनायतन, ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

१. क्षायोपशमिक क्षणध्वंसी ज्ञान को प्राप्त कर मदोन्मत्त हो जाना, अपने स्वरूप को भूल जाना **ज्ञान मद** है। २. सांसारिक सम्मान प्राप्त कर मान के पर्वत पर चढ़ जाना, निज निधि को भूलकर बाह्य में रमण करना **पूजा मद** है। ३. स्वकीय पैतृक पक्ष को उत्तम मानकर दूसरों की अवज्ञा करना, अपने को उत्तम मानना **कुल मद** है। ४. मातृक पक्ष में मामा आदि को मंत्री पद आदि में स्थापित देखकर 'मेरे मामा राजा हैं, मंत्री हैं' आदि प्रकार से घमण्ड करना; ये सब क्षणिक हैं, विनाशशील हैं, इस विचार से शून्य हो जाना **जातिमद** है। ५. विनाशीक शारीरिक शक्ति को प्राप्त कर उस शक्ति का अभिमान करना **बलमद** है। ६. धन, सम्पदा आदि सांसारिक वैभव प्राप्त कर 'मेरे समान धनवान, ऐश्वर्यशाली कोई नहीं है,' ऐसा विचार कर वस्तु के स्वरूप को भूल जाना, ऐश्वर्य वा **ऋद्धि मद** है। ७. अनशन आदि बाह्य तपश्चरण करके अपने को महान् मानना, 'मेरे समान उपवास आदि करने वाला कोई नहीं है' ऐसा विचार करना **तप मद** है। ८. स्वकीय शारीरिक सौन्दर्य का घमण्ड करना **शरीर मद** है। ये आठों मद सम्यग्दर्शन के घातक हैं।

जिनेन्द्रकथित तत्त्व में शंका करना, सांसारिक भोगों की वाञ्छा करना, जिनधर्म में प्रीति नहीं करना, तत्त्व-अतत्त्व, देव-कुदेव, गुरु-कुगुरु आदि की पहिचान नहीं करना, किसी कारण से धर्म में दूषण लगाने वाले धर्मात्मा के दोषों का आच्छादन न करके उनके दोषों को बाह्य में प्रगट करना, किसी कारण से दर्शन और चारित्र से च्युत होते हुए को सम्बोधन करके स्थिर नहीं करना, धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य भाव नहीं होना और धर्म की प्रभावना नहीं करना ये शंकादि आठ दोष हैं।

गंगादि नदियों में स्नान करने को धर्म मानना वा लौकिक जनों की देखा-देखी करना **लोक मूढ़ता** है। रागी, द्वेषी देवों को आप्त मानकर उनकी पूजा करना **देव मूढ़ता** है।

शंका - पद्मावती, धरणेन्द्र, यक्ष आदि रागी-द्वेषी हैं, उनकी पूजा करना देवमूढ़ता है कि नहीं?

उत्तर - पद्मावती, धरणेन्द्र आदि को साधर्मी समझकर वा धर्म के रक्षक समझकर उनका सत्कार करना देवमूढ़ता नहीं है। परन्तु उनको आप्त मानकर पूजना देवमूढ़ता है। क्योंकि उनको वस्तु के स्वरूप का भान है, परन्तु जिनको वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे ही मूढ़ होते हैं।

पाँच पापों में लीन, घोर परिग्रही एवं आरम्भ करने वाले पाखण्डी जनों का सत्कार करना, उसको **पाखण्ड मूढ़ता** कहते हैं।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके भक्त जनों का सत्कार करना छह **अनायतन** है। ये सारी क्रियाएँ सम्यग्दर्शन की घातक हैं। हे क्षपक ! सम्यग्दर्शन के इन २५ दोषों का त्यागकर आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन को धारण कर। निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करना ही **दर्शन आराधना** है।

येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना प्रोक्तं जिनेन स्वयं,
सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं चाभ्यस्तमप्यादरात्।
भंक्त्वा स प्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते।।

इति सम्यग्दर्शनाराधनालक्षणप्रतिपादनेन चतुर्थगाथासूत्रं गतं।।४।।

हे क्षपक ! तू यदि अपना हित चाहता है तो जिनमत में तथा आत्मतत्त्वके स्वरूप में कभी शंका-संशय मत कर। मृत्यु का भय मत कर। **(नि:शंकित अंग)**।

ये सांसारिक भोग विनाशशील हैं, आत्मा के शत्रु हैं, अतृप्ति के कारण हैं, अत: सांसारिक भोगों की वा सांसारिक भोगों के लिए अन्य धर्म की वाञ्छा वा उसकी प्रशंसा मतकर। **(नि:कांक्षित अंग)**।

हे क्षपक ! किसी भी प्रकार की आपत्ति या भय के कारणों के उपस्थित होने पर भी धर्म से ग्लानि नहीं करना वा दिगम्बर साधुओं के शरीर को देखकर हृदय में जुगुप्सा नहीं करना। क्योंकि यह भावना धर्म की घातक है। **(निर्विचिकित्सा अंग)**

हे क्षपक ! तू तत्त्व-कुतत्त्व की पहिचान कर। कुमार्ग और कुमार्गगामियों की वचन से स्तुति, मन से प्रशंसा और काय से सराहना मत करना। अपने चित्त की धारा को विक्षिप्त मत करना। **(अमूढ़दृष्टि अंग)**

हे क्षपक ! धर्मात्माओं के दोषों को प्रगट करने की भावना मत कर। स्वकीय धर्म को वृद्धिगत करने का प्रयत्न कर। अन्य के दोषों को प्रकट करने की भावना सम्यग्दर्शन की घातक है। **(उपगूहन अंग)**

हे क्षपकराज ! सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से च्युत होने वाले स्वकीय मन को अपने में स्थिर करने का प्रयत्न कर। यदि प्रमाद वा अज्ञान से तेरा मन क्वचित् विकृत होगा, वा सम्यग्दर्शन और चारित्रसे च्युत होगा तो तेरा कुमरण होगा और तुझे दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा। **(स्थितीकरण अंग)**

हे आराधक ! तू शिवसुख के कारणभूत 'अहिंसा परमो धर्म:' में प्रीति कर। निष्कपट भावों से धर्मात्माओं के साथ वात्सल्य भाव रख। **(वात्सल्य अंग)**

हे गुणाधिप ! रत्नत्रयरूपी अग्नि के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल कर तथा दान, तप, जिनपूजा के द्वारा जिनधर्म का प्रचार-प्रसार कर। **(प्रभावना अंग)**

हे क्षपकराज! प्रमाद को छोड़कर जो जीवादि पदार्थ हेय (आस्रव, बंध) हैं उनका हेय रूप से श्रद्धान कर और उपादेय (संवर, निर्जरा और मोक्ष) का उपादेय रूप से श्रद्धान कर। यह **व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधना** है।

चिदानंद चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा की आराधना करना, स्वकीय आत्मा की रुचि, प्रतीति **निश्चय आराधना** है।

सम्यग्दर्शन आराधना का फल

तीन जगत् में श्रेष्ठ, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित सम्यग्दर्शन से उत्पन्न इस निर्मल रत्न का आदर-पूर्वक अभ्यास करो। हे क्षपक। इस सम्यग्दर्शन का अभ्यास करने वाले महानुभाव शीघ्र ही अपनी शक्ति से कर्मों के समूह का नाश कर परम ब्रह्म की आराधना कर चिदानंद चैतन्य स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन नामक आराधना के लक्षण का वा दर्शन आराधना का प्रतिपादन करने वाली चौथी गाथा पूर्ण हुई।।४।।

अथ व्यवहारज्ञानाराधनां प्रतिपादयति-

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते ॥५॥

सूत्रार्थभावना वा तेषां भावानामधिगमो यो वा।
ज्ञानस्य भवत्येषा उक्ता आराधना सूत्रे ॥५॥

हवदि भवति। कासौ। **आराहणा** आराधना। कस्य। **णाणस्य** ज्ञानस्य। कासावाराधना। **एसा** एषा। किंविशिष्टा। **उत्ता** उक्ता प्रोक्ता। कस्मिन्। **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। एषेति का। **सुत्तत्थभावणा वा** सूत्रार्थभावना परमागमभावना। अथवा जो य इति कः। **अहिगमो** अधिगमः सम्यक् परिज्ञानं केषां। **भावाणं** भावानां। **तेसिं** तेषां पूर्वोक्तानामिति योजनिकाद्वारः। सूत्रार्थभावानां वा तेषां भावनां यो वा अधिगमः एषा सूत्रे उक्ता ज्ञानस्याराधना भवतीति संक्षेपान्वयद्वारः।

अब व्यवहार ज्ञान-आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

"उन जीवादि नौ पदार्थों का जो अधिगम होता है उसको जिनागम में ज्ञान की भावना कहा है और उसी को परमागम में ज्ञान की आराधना कहा है अर्थात् यह सूत्रार्थ भावना ही परमागम में ज्ञान की आराधना वा ज्ञानकी भावना है। ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार सूत्र में ज्ञान आराधना कही है ॥५॥

अक्षर[1] शुद्ध पढ़ना, अर्थ शुद्ध[2] पढ़ना, दोनों शुद्ध[3] पढ़ना, काल[4] में पढ़ना, विनय[5] से पढ़ना, बहुमान[6] से पढ़ना, उपधान से पढ़ना[7] और गुरु का नाम नहीं छिपाना[8], यह आठ प्रकार का ज्ञानाचार है।

शास्त्रों का पठन करते समय अक्षर, विराम, विसर्ग, रेफ आदि को शुद्ध पढ़ना चाहिए। क्योंकि अक्षर को शुद्ध नहीं पढ़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है, जैसे चिंता में एक अनुस्वार छोड़ देने से चिता अर्थ हो जाता है। यदि विराम पर ध्यान नहीं दिया तो "जाने दो मत रोको" इसके दो अर्थ होते हैं जाने दो, मत रोको। जाने दो मत, रोको। अतः विराम पर ध्यान रखकर उसको शुद्ध पढ़ना भी आवश्यक है।

वाचक शब्दों को शुद्ध पढ़कर उनका वाच्य अर्थ भी शुद्ध पढ़ना चाहिए। क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं- जैसे सैंधव का अर्थ घोड़ा भी है और सैंधा नमक भी। अर्थ प्रकरणवश किया जाता है, भोजन करते समय सैंधव का अर्थ नमक और कहीं बाहर घूमने जाना हो तो घोड़ा।

अज का अर्थ बकरा, ब्रह्मा, जिसमें उत्पन्न होने की शक्ति नहीं है ऐसा शालि धान्य, आदि अनेक अर्थ हैं। शब्दों का अर्थ करते समय पाठक को ध्यान रखना पड़ता है कि इस समय इस शब्द का क्या अर्थ करना चाहिए। शब्दों के अर्थों का ध्यान नहीं रखने से पशुओं के घातरूप यज्ञ की प्रवृत्ति चली। "अजैर्यष्टव्यं" अज का अर्थ है जिसमें अंकुर पैदा होने की शक्ति नहीं है, ऐसा धान्य। परन्तु अज का अर्थ बकरा करके ही पर्वत ने यज्ञ में पशुओं को होमने की प्रथा चलाई थी। इसी प्रकार जितने मत-मतान्तर चले हैं, वे अर्थ की विपरीतता से ही चले हैं।

काले विणये उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थे तदुभय णाणाचारो दु अट्ठविहो॥

इति गाथाकथितलक्षणाष्टविनयादिना ज्ञानमाराधनीयमिति भावार्थः॥

सिद्धांते जिनभाषिते नवलसत्तत्त्वार्थभावाद्भुते,
भावं यो विदधीत वाधिगमनं कुर्वीत तस्यानिशं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक्परं-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते॥५॥

वाचक (शब्द) वाच्य (अर्थ) दोनों को शुद्ध पढ़ना उभय शुद्ध कहलाता है।

शास्त्र पढ़ने के लिए जो काल निषिद्ध है उसमें शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए, सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) पूर्व और दो घड़ी पश्चात्, मध्याह्न १२ बजे के दो घड़ी पूर्व और दो घटिका पश्चात्, सूर्यास्त के दो घटिका पूर्व और दो घटिका पश्चात् तथा अर्धरात्रि के दो घटिका पूर्व और दो घटिका पश्चात् तक का काल स्वाध्याय के लिए निषिद्ध है। इन कालों को छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए।

शास्त्रों का पठन-पाठन विनय से करना चाहिए। अर्थात् हाथ-पैर धोकर चौकी बिछाकर, श्रुत भक्ति और आचार्य-भक्ति बोलकर विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करके शास्त्र पढ़ना चाहिए।

बार-बार नमस्कार करके अति भक्ति से शास्त्र पढ़ना बहुमान है। विनय सामान्य है वह वाचनिक और कायिक भी हो सकती है, परन्तु बहुमान विशेष मानसिक अनुराग है।

शास्त्रपठन के प्रारम्भ में कुछ नियम धारण करना, हृदय में अर्थ की अवधारणा करना उपधान है।

जिस गुरु के समीप ज्ञान की आराधना की है, ज्ञान प्राप्त किया है, जिस गुरु ने ज्ञानदान दिया है उसका नाम नहीं छिपाना अनिह्नव है। एक अक्षर पढ़ाने वाले को भी भूलना महापाप है और जो आत्म-कल्याणकारी ज्ञान देने वाले को भूल जाता है, उसके बराबर कोई पाप नहीं है।

हे क्षपक ! इस प्रकार आठ अंग सहित ज्ञान की आराधना कर। यह ज्ञानाराधना ही तेरे अज्ञान का नाश करने वाली है और मुक्तिपद देने वाली है। इस प्रकार जिनभाषित आठ अंग सहित ज्ञान की आराधना करनी चाहिए।

नव पदार्थों से लसत्, तत्त्वार्थ भाव से उत्पन्न, जिनभाषित सिद्धान्त में कथित जो पदार्थ हैं, उनका जो भक्ति से श्रद्धान करता है, रात-दिन उनका अधिगमन करता है; अभ्यास, मनन, चिंतन करता है वह शीघ्र ही कुकर्मों के समूह का नाश कर समीचीन प्रकार से परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द रूप परम पद को प्राप्त करता है॥५॥

ज्ञानाराधनां व्याख्याय चारित्राराधनां प्रतिपादयति-

तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए।
दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा ॥६॥

त्रयोदशविधस्य चरणं चारित्रस्येह भावशुद्ध्या।
द्विविधासंयमत्यागश्चारित्राराधना एषा ॥६॥

ज्ञानाराधना की व्याख्या करके अब चारित्र आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

यहाँ पर भावशुद्धि पूर्वक तेरह प्रकार के चारित्र का आचरण करना और दो प्रकार के असंयम का त्याग करना यह चारित्र आराधना है॥६॥

पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना तेरह प्रकार का चारित्र कहा है।

जो महापुरुषों (महाशक्तिशाली पुरुषों) के द्वारा धारण करने योग्य हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। वे महाव्रत पाँच होते हैं।

अहिंसा महाव्रत- हिंसा दो प्रकार की है भाव और द्रव्य। प्रमाद के वशीभूत होकर एकेन्द्रिय आदि प्राणियों का घात करना द्रव्यहिंसा है और आत्मा में रागद्वेष का प्रादुर्भाव होना भावहिंसा है। दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग करना अर्थात् मन-वचन-कायसे किसी भी जीव की विराधना नहीं करना तथा आत्मा को कर्मों से कसने वाली, दु:ख देने वाली वा आत्मा को दुर्गति में ले जाने वाली विभाव परिणति रूप जो कषाय है, उसका त्याग करना, कषाय के आधीन नहीं होना **अहिंसा महाव्रत** है।

प्रमाद वा कषाय के वशीभूत होकर जो कुछ कहा जाता है वह असत्य है। उस असत्य के चार भेद हैं। 'है' उसको नहीं कहना, 'नहीं है' उसको 'है' कहना, वस्तु का विपरीत कथन करना और अप्रिय, निन्दनीय एवं सावद्य कथन करना।

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो वस्तु है, उसका निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे आत्मा स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से अस्ति रूप है उसका निषेध करना कि आत्मा है ही नहीं। पृथ्वी जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के संयोग से चेतना शक्ति उत्पन्न होती है तब आत्मा उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है और इनका नाश होता है तब आत्मा का भी नाश हो जाता है, न परलोक है, न नरक है, न स्वर्ग है, न पुण्य-पाप है और न पुण्य-पाप का भोक्ता आत्मा नाम की वस्तु ही है। इस प्रकार का कथन करना, अस्ति का निषेध करने वाला असत्य है।

जो वस्तु नहीं है, उसका अस्ति रूप से कथन करना दूसरा असत्य है- जैसे मोक्षपद को प्राप्त हुए जीव कभी संसार में लौटकर नहीं आते, उनका संसार में लौटना कहना, इत्यादि नास्त्यात्मक असत्य है।

वस्तु का विपरीत कथन करना, जैसे वस्तु अनेक धर्मात्मक है उसका एकान्त रूप से कथन करना विपरीत असत्य है। सांख्य मत के अनुसार आत्मा को सर्वथा नित्य कहना, बौद्ध मतानुसार वस्तु को सर्वथा अनित्य कहना, इत्यादि रूप से वस्तु का कथन करना विपरीत असत्य है।

जिस बात को कहने से जीवों की हिंसा होती है, जिसको सुनकर श्रोता पापों में प्रवृत्ति करता है, विपरीत आचरण करता है वह सावद्य असत्य है। जैसे किसी को कहना 'तुम खेती करो', 'कारखाना खोल लो', 'नाली साफ करो', इत्यादि वचनों से जीवहिंसा में वृत्ति करता है, वह सावद्य असत्य है।

अत्र भवतीति क्रिया अध्याहार्या। भवति। कासौ। **चारित्ताराहणा** चारित्राराधना। का। **एसा** एषा। एषेति का। **चरणं** चरणं अनुष्ठानं। कस्य। **चरित्तस्स** चारित्रस्य। कतिविधस्य। **तेरहविहस्स** त्रयोदशविधस्य त्रिभिरधिका दश तस्य पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिलक्षणस्य। उक्तं च-

---

'इसका नाक काट लो', 'यह पापी है' 'दुष्ट है' 'तू मर जा' इत्यादि कठोर वचनों का उच्चारण करना अप्रशंसनीय निंदनीय वचन है। इन चारों प्रकार के असत्य का त्याग करने से **सत्य महाव्रत** होता है।

बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है। वा जिनेन्द्रकथित मार्ग के अनुसार चलना, उसके कथन को नहीं छिपाना **अचौर्य महाव्रत** है। मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदना से स्त्री मात्र का त्याग करके स्वकीय परम ब्रह्म आत्मा में रमण करना **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

दुःख वा आकुलता के कारण, वैर-विरोध को बढ़ाने वाले, दुर्गति में ले जाने वाले परिग्रह का त्याग करना; पिच्छिका, कमण्डलु एवं शास्त्र के सिवाय सब वस्तुओं का त्याग करना **अपरिग्रह महाव्रत** है।

सम् सम्यक्प्रकार की 'इति' प्रवृत्ति रूप क्रियाओं को समिति कहते हैं। संसारी जीवों की प्रवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। चलना, बोलना, खाना, किसी वस्तु को उठाना-रखना और शरीर का मैल, मल, मूत्र, नाक का मल, नख, केश आदि का क्षेपण करना।

इन क्रियाओं के कारण प्रवृत्तियों के पाँच नाम हैं जिनको **समिति** कहते हैं।

ईर्या समिति - 'ईर्' धातु गमन करने के अर्थ में आती है। चार हाथ जमीन देखकर 'किसी जीव का घात न हो' ऐसी भावना के साथ कारुण्य हृदय से गमन करना।

भाषा समिति - हित, मित और प्रिय वचन बोलना। सर्व प्रथम तो मौन से ही रहना चाहिए। अर्थात् परम सत्य आत्म स्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प नहीं होने देना चाहिए। यदि बोलने के विकल्प को नहीं रोक सके तो ऐसे वचन बोलने चाहिए जो स्वपर का हित करने वाले हों, प्रिय हों, अमृत के समान मधुर हों और संक्षिप्त हों।

मूलाचार आदि आचारग्रन्थों में कथित ४६ दोषों को टालकर शुद्ध परिमित भोजन करना **एषणा समिति** है। यद्यपि भोजन करना साधुओं का उत्सर्गमार्ग है, राजमार्ग नहीं है तथापि तपश्चरण के कारण-भूत शरीर को स्थिर रखने के लिए अनासक्ति पूर्वक आवश्यकतानुसार शुद्ध आहार करना एषणा समिति है।

कारुण्य भावों से जीवों की रक्षा करते हुए पुस्तक, कमण्डलु आदि वस्तु को रखते-उठाते समय सावधानी रखना, किसी जीव की विराधना न हो ऐसे भावों से जमीन देखकर कोमल वस्त्र या मयूर पिच्छिका से झाड़कर वस्तु को उठाना, रखना **आदाननिक्षेपण समिति** है। इस समिति का पालन करने के लिए चर्म चक्षु के साथ ज्ञान चक्षु की भी आवश्यकता है।

शारीरिक मल-मूत्र, कफ, नाक मैल, नख, केश आदि को निर्जन्तु शुद्ध भूमि पर चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु से देखकर क्षेपण करना **व्युत्सर्ग समिति** है।

सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय का निरोध करना गुप्ति है। समिति प्रवृत्ति रूप है और **गुप्ति** निवृत्ति रूप है।

स्वकीय मन को शुभाशुभ विकल्पों से रहित कर अपने (आत्म) स्वरूप में स्थिर करना वा मन को एकाग्र करके तत्त्वों का चिन्तन करना **मनोगुप्ति** है।

वचन बोलने के विकल्प को छोड़कर स्व-स्वरूप में रमण करना **वचन गुप्ति** है।

कायिक हलन-चलन क्रियाओं को रोक कर शरीर को स्थिर करके आत्मा का ध्यान करना, आत्मगुणों का चिन्तन करना **काय गुप्ति** है।

इस प्रकार पाँच समिति, तीन गुप्ति और पंच महाव्रत रूप तेरह प्रकार के चारित्र का भावशुद्धि से पालन करना **चारित्र** *आराधना है। सो ही कहा है-*

महाव्रतानि पंचैव पंचैव समितीस्तथा।
गुप्तीस्तिस्रश्च चारित्रे त्रयोदशविधे स्मितुः ।।

क्व। **इह** इहाराधनायां। कया। **भावसुद्धीए** भावशुद्धया भावश्चित्तानुरागस्तस्य शुद्धया नैर्मल्येन तामंतरेण चारित्रं गगनारविंदमकरंदवत्प्रतिभासते। यदुक्तम्-

भावशुद्धिमबिभ्राणाश्चारित्रं कलयंति ये।
त्यक्त्वा नावं भुजाभ्यां ते तितीर्षंति महार्णवम् ।।

इति। अस्य त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य यथावदनुष्ठानं कदा करिष्यामीति चित्तोल्लासेन शीतवातादिजनितशरीरखेदे सति मनसः संक्लेश-रहितत्वेनेत्यर्थः। न केवलं चारित्रस्य चरणं चारित्राराधना भवति अन्यदपीत्याह। **दुविहअसंजमचाओ** द्विविधासंयमत्यागः। द्वौ भेदौ प्रकारौ यस्यासौ द्विविधः द्विविधश्चासावसंयमश्च द्विविधासंयम द्विविधासंयमस्य त्यागः द्विविधासंयमत्यागः। द्विविधासंयमस्य किं

''पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति के पालन करने को १३ प्रकार का चारित्र कहा है।'' हे क्षपक ! इस चारित्र का निरतिचार पालन करना चारित्र आराधना है, इसको हृदय में धारण करो।

चित्त के अनुराग को भावशुद्धि कहते हैं। उस भावशुद्धि से चारित्र का पालन करना चारित्र आराधना है। भावशुद्धि के बिना, बाह्य चारित्र का पालन करना आकाश के फूल के मकरंद के समान असत् रूप प्रतिभासित होता है। अर्थात् जैसे आकाश के फूल ही नहीं है, तो फिर उसमें मकरन्द (पराग) कहाँ से हो सकती है, उसी प्रकार हे क्षपक ! भावशुद्धि के बिना चारित्र आराधना नहीं हो सकती। सो ही कहा है-

''भावशुद्धि के बिना जो चारित्र को धारण करते हैं वे निश्छिद्र नौका को छोड़कर भुजाओं से महासमुद्र को तैरना चाहते हैं।''

हे क्षपक ! ''इस तेरह प्रकार के चारित्र का यथावत् जिनेन्द्रकथित शास्त्र के अनुसार पालन कब करूंगा'' इस प्रकार मानसिक उल्लास (अनुराग) से शीत, वात आदि जनित शारीरिक कष्ट होने पर मनको संक्लेश युक्त नहीं करना ही वास्तविक चारित्र आराधना है।

हे क्षपक ! केवल तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना ही चारित्र आराधना नहीं है, अपितु चारित्र के साथ दो प्रकार के असंयम का भी त्याग करना चारित्र आराधना है।

प्रश्न - दो प्रकार के असंयम का लक्षण क्या है?

उत्तर - इन्द्रिय असंयम और प्राणी असंयम के भेद से असंयम दो प्रकार का है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को नहीं रोकना, इन्द्रिय असंयम है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप पाँच स्थावर और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी-असैनी रूप पंचेन्द्रिय स्वरूप त्रस जीवों की प्रमाद के वश हो विराधना करना प्राणी-असंयम है। सो ही कहा है-

लक्षणं। एकस्तावदिंद्रियासंयमः अन्यः प्राणासंयमः। द्वयोर्लक्षणं निरूप्यते। यः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानां मनसश्च स्पर्शरसगंधवर्णशब्दलक्षणेषु स्वकीयविषयेषु स्वेच्छाप्रचारः स इंद्रियासंयमः कथ्यते। यच्च पृथिव्यप्तेजो-वायुवनस्पतिलक्षण-पंचस्थावराणां द्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियपंचेंद्रियलक्षणत्रसानां च प्रमादचारित्वाज्जीवितव्यपरोपणं स प्राणासंयमः। यदुक्तं-

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।
यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इंद्रियासंयमं विदुः॥

स्थावराणां त्रसानां च जीवानां हि प्रमादतः।
जीवितव्यपरोपो यः स प्राणासंयमः स्मृतः॥

तस्य द्विविधासंयमस्य त्यागः परिहार इतियोजनिकाद्वारः। त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य इह भावशुद्ध्याचरणम् द्विविधासंयमत्याग, एषा चारित्राराधना भवतीति संक्षेपाभिप्रायः। एवमसंयमं परिहृत्य पंचेंद्रियनिरोधसकलप्राणिदयालक्षणे संयमे स्थित्वा त्रयोदशविधं चारित्रमाराधनीयमिति भावार्थः॥

द्वेधासंयमवर्जितं गुरुपदद्वंद्वाब्जसंसेवना-
दाप्तं यश्चिनुते त्रयोदशविधं चारित्रमत्यूर्जितम्।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते॥६॥

पाँच इन्द्रिय और मन को अपने-अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और चिन्तन में इच्छानुसार प्रवृत्ति करना, इन्द्रियोंको और मन को अपने विषयों से नहीं रोकने को केवली भगवान ने इन्द्रिय असंयम कहा है और प्रमाद के वश हो त्रस एवं स्थावर जीवों का घात करना, उनके प्राणों का व्यपरोपण करना प्राणी असंयम है। इन दोनों प्रकार के असंयम का त्याग करना (संयम को धारण करना)। इस प्रकार भावशुद्धि से तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करना और दो प्रकार के असंयम का त्याग करना चारित्र आराधना है।

हे क्षपक! आत्मकल्याण करने के लिए तू असंयम का परिहार करके पंचेन्द्रिय-निरोध लक्षण इन्द्रिय संयम और सर्व प्राणियों पर दया करना लक्षण प्राणिसंयम में स्थित होकर तेरह प्रकार के चारित्र की आराधना कर। सो ही कहा है-

हे क्षपक ! जो भव्यात्मा दो प्रकार के असंयम का त्याग करके गुरु के चरण-कमल से प्राप्त श्रेष्ठ चारित्र को भक्तिपूर्वक स्वीकार करता है, वह शीघ्र ही कुकर्मों के समूह का नाशकर सम्यक् परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द चैतन्य स्वरूप पद को प्राप्त करता है॥६॥

चारित्राराधनां व्याख्याय तप आराधनां प्रतिपादयति-

बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए।
सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं।।७।।

द्वादशविधतपश्चरणे क्रियते य उद्यमः स्वशक्त्या।
सा भणिता जिनसूत्रे तपसि आराधना नूनम्।।७।।

इस प्रकार चारित्र आराधना का व्याख्यान करके अब तप आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

बारह प्रकार के तपश्चरण में जो अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम करता है, निश्चय से उसे जिनसूत्र में तप आराधना कहा है।।७।।

आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से तप दो प्रकार का है। **बाह्य तप के** छह भेद हैं-

अनशन - स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है।

अवमौदर्य - भूख से कम खाना अवमौदर्य है।

व्रतपरिसंख्यान - आहार को जाते समय कुछ-न-कुछ नियम लेना।

रस परित्याग - इन्द्रियों को वश में करने के लिए घी, तेल, नमक, दूध, दही और मीठा (चीनी, गुड आदि) इन छहों रसों का त्याग करना।

विविक्त शय्यासन - मन को स्थिर करने के लिए, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए और स्वाध्याय की सिद्धि के लिए एकान्त में बैठना-सोना।

कायक्लेश - उपसर्ग और परिषहों को सहन करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास आदि सहन करना।

ये छह प्रकार के बाह्य तप मिथ्यादृष्टि भी तपते हैं और बाह्य में दृष्टिगोचर भी होते हैं अतः ये बाह्य कहलाते हैं। दशलक्षण, सोलहकारण आदि जितने भी व्रतों का कथन किया है वे सब बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह **अंतरंग तप** हैं।

प्रायश्चित्त - प्रमाद और अज्ञान के कारण व्रतों में लगे हुए दोषों का प्रमार्जन करने के लिए विनय पूर्वक प्रायश्चित्त लेना (दण्ड लेना)।

विनय - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार के भेद से विनय चार प्रकार का है वा तप के भेद से पाँच प्रकार का भी है। सम्यग्दर्शन का विनय करना, अर्थात् जीवादि पदार्थों के अस्तित्व में और आत्मतत्त्व में रुचि रखना **दर्शन विनय** है। वा व्यवहार में सम्यग्दर्शन की पूजा करना, उसके पच्चीस दोषों का निराकरण भी दर्शन विनय है। सम्यग्ज्ञान के साधनभूत जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का विनय करना, उनकी पूजा करना और शास्त्रज्ञों का सत्कार करना **ज्ञान विनय** है। तेरह प्रकार के चारित्र का विनय करना, चारित्र धारण करने का उत्साह रखना "वह समय कब आयेगा जिस दिन मैं दिगम्बर मुद्रा धारण कर आत्मकल्याण करूँगा" ऐसी भावना रखना **चारित्र विनय** है। १२ प्रकार के तपश्चरण करने का अनुराग रखना, तपश्चरण करने में उत्साह रखना **तप विनय** है।

सम्यक्चारित्रधारी मुनिराज के आने पर उठकर खड़े होना, चलने पर उनके पीछे-पीछे चलना, परोक्ष में उनको नमस्कार करना, उनकी आज्ञा का पालन करना ये सब **उपचार विनय** हैं।

भणिया भणिता प्रतिपादिता। **कासौ**। **आराहणा** आराधना। **क्व**। **तवम्मि** तपसि। कस्मिन् भणिता। **जिणसुत्ते** जिनसूत्रे सर्वज्ञागमे। कथं। **णूणं** नूनं निश्चितं। का। **सा** आराधना। **सा** इति का। **कीरइ** क्रियते कासौ। **जो** यः । य इति कः। **उज्जमो** उद्यमः उपक्रमः। कस्मिन्। **बारसविहतवयरणे** द्वादशविधतपश्चरणे षड्बाह्यषडभ्यंतरलक्षणे। कया। **ससत्तीए** स्वशक्त्या शक्त्या विना हि क्रियमाणतपोनिषेधत्वात्। तदुक्तं-

---

वैयावृत्य-आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, कुल, गण, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के महानुभावों की सेवा करना वैयावृत्य नामका तप है।

जो भव्य जीवों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं, दैगम्बरी दीक्षा प्रदान करते हैं, प्रमाद वा अज्ञान से लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए प्रायश्चित्त देते हैं वे चतुर्विध संघ के नायक **आचार्य परमेष्ठी** कहलाते हैं।

जो ११ अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं, जो संघ में सबको पठन-पाठन कराते हैं, वे **उपाध्याय परमेष्ठी** कहलाते हैं।

जो अनशन आदि घोर तपश्चरण करते हैं, वे **तपस्वी** कहलाते हैं।

जो संघ में रहकर ज्ञानार्जन करते हैं, ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं वे **शैक्ष्य** कहलाते हैं।

वृद्ध रोगी साधु **ग्लान** कहलाते हैं। अपने गुरुओं के द्वारा दीक्षित वा गुरु-परम्परा में दीक्षित **कुल** कहलाते हैं। साधुओं के समूह को **गण** कहते हैं। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के समूह को **संघ** कहते हैं।

जो वाग्मी हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, जिनसे धर्मप्रभावना होती है, समाज पर जिनका प्रभाव पड़ता है ऐसे मुनि, व्रती वा असंयमी विद्वान् मनोज्ञ कहलाते हैं। इनकी आगत आपत्तियों को दूर करना, इनके पैर दबाना वैयावृत्य नामक तप है।

स्वाध्याय - शास्त्रों का पठन (वाचना) करना, अपने संशयको दूर करने के लिए गुरुजनों से पूछना (पृच्छना), पठित ग्रन्थों के अर्थ का मन में चिंतन करना (अनुप्रेक्षा), पठित पाठ को बार-बार दुहराना (आम्नाय) और प्रथमानुयोग आदि का भव्यों को अर्थ समझाना, उनको तत्त्व का ज्ञान कराना (धर्मोपदेश) ऐसे पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना, स्वाध्याय नामका तप है।

व्युत्सर्ग - बाह्य में परिग्रह ममत्व का त्याग करना और शरीर के ममत्व का और कषायों का त्याग करना व्युत्सर्ग नामका तप है।

ध्यान-मन को एकाग्र करके अपने आप में स्थिर करना, सारे विकल्पों को दूर करके निर्विकल्प समाधि में लीन होना ध्यान है।

हे क्षपक ! इस प्रकार, जिनेन्द्रदेव कथित बारह प्रकार के तपश्चरण को अपनी शक्ति के अनुसार धारण करो। क्योंकि शक्ति का उल्लंघन करके तपश्चरण करने से मन और इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाते हैं एवं आर्तध्यान की उत्पत्ति होती है। सो ही कहा है-

तं चि तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगलं ण चिंतेइ।
जेण ण इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति ॥

तत्रानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरमाभ्यंतरं तपः इति द्वादशविधतपश्चरणे यः उद्यमः सा तपस्याराधना भवति। इयमपि दर्शनज्ञानचारित्राराधनातावदाराधनीयैव यतो नैनामंतरेण निकाचितकर्मभ्यो मोक्षः॥ यदुक्तं-

निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मीभवंति न।
यावत्प्रवचनप्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते॥

तथा च निश्चयनयं जिज्ञासुनापि पाक्षिकेण पूर्वमप्रमत्तेनेयं व्यवहाराराधना सम्यगुपास्या यतो नैनां विना निश्चयनये प्रवृत्तिः। यदुक्तं-

जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमुपैति शक्तिम्।
प्रभाविकाशेक्षणमंतरेण भानूदयं को वदते विवेकी॥

"तपश्चरण ऐसा करना चाहिए जिससे मन अमंगल का चिंतन न करे (आर्त्त ध्यान में न जाये), जिससे इन्द्रियों की हानि न हो और मन, वचन, काय रूप योग विकल न हों।

इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग तप में प्रवृत्ति करना, तपश्चरण में अनुराग रखना, तप आराधना है।

जो भव्य प्राणी इस संसार से छूटना चाहता है उसको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण रूप चार प्रकार की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि आराधना के बिना निकाचित कर्मों का विनाश नहीं होता। सो ही कहा है-

"जब तक जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तपश्चरण रूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित नहीं होती है, तब तक निकाचित कर्म भस्म नहीं होते हैं।"

हे क्षपक ! निश्चय नय के जिज्ञासु पाक्षिक को पूर्व में अप्रमादी होकर इस व्यवहार आराधना की उपासना भली प्रकार करनी चाहिए क्योंकि व्यवहार आराधना की उपासना के बिना निश्चय नय में (निश्चय आराधना में) प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे तन्दुल का बाह्य छिलका निकाले बिना, भीतर की लालिमा नहीं निकल सकती। सो ही कहा है-

"व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने में वा निश्चय में प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे सूर्य की प्रभा और उसके विकास को देखे बिना कौन विवेकी सूर्य के उदय को कह सकता है, जान सकता है।"

एवं चतुर्विधाराधना भव्येनाराधनीयेति तात्पर्यार्थः।

षोढाभ्यंतरषड्विधे तपसि सद्दीप्तैर्भासिते
शक्तिं स्वामनुपेक्ष्य यो वितनुते चारित्रपानोद्यमं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनसद्भुतोदितचिदानंदं पदं विंदते ॥७॥

व्यवहाराराधनास्वरूपं प्रतिपाद्य निश्चयाराधनास्वरूपं प्रतिपादयति-

सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं।
सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो ॥८॥

शुद्धनये चतुःस्कंधमुक्तं आराधनाया ईदृशम्।
सर्वविकल्पविमुक्तः शुद्ध आत्मा निरालंबः ॥८॥

उत्तं प्रोक्तं। किं तत्। **चउखंधं** चतुःस्कंधं चतुर्णां सम्यग्दर्शनादीनां समुदायः। कस्याः। **आराहणाए** आराधनायाः। कस्मिन्। **सुद्धणये** निश्चयनये। कीदृशमुक्तं। **एरिसियं** ईदृशं। ईदृशमिति कीदृशं। **अप्पा** आत्मा जीवः। कथंभूतः। **सव्ववियप्पविमुक्को** सर्वविकल्पविमुक्तः सर्वे च ते विकल्पाश्च कर्तृकर्मादयस्तैर्विमुक्तः विशेषेण मुक्तो रहितः। पुनः कथंभूतः। शुद्धः कर्ममलकलंकविवर्जितः। पुनरपि कथंभूतः। **णिरालंबो** निरालंबः पंचेंद्रियविषयसुखाद्यालंबनरहितः। किन्तु चिच्चमत्कारशुद्धपरमात्मस्वरूपालंबन इत्यर्थ इति विशेषः ॥८॥

इस प्रकार इन चार प्रकार की व्यवहार आराधनाओं की भव्यों को आराधना करनी चाहिए ऐसी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित बाह्याभ्यंतर दो प्रकार (१२ प्रकार) के तपश्चरण में अपनी शक्ति के अनुसार जो भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करता है, चारित्र को निर्मल करने वाले तपश्चरण में उद्यमी रहता है, वह शीघ्र ही कुकर्मों के समूह का नाश करके सम्यक् प्रकार से की गई परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द पद को प्राप्त करता है ॥७॥

इस प्रकार **देवसेन आचार्य** निश्चय आराधना की कारणभूत व्यवहार आराधना का कथन करके अब निश्चय आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा सर्व विकल्पों से रहित, इन्द्रिय-विषयों के अवलम्बन को छोड़कर निरालम्ब होकर शुद्धात्मा की आराधना करता है, उसे ही चार प्रकार की आराधना कहा है ॥८॥

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा में कर्त्ता-कर्म, राग-द्वेष आदि कोई विकल्प नहीं है अतः आत्मा सर्व विकल्पों से रहित है। निश्चय नय से आत्मा कर्म-कलंक से रहित है अतः शुद्ध है। निश्चय नय से आत्मा पंचेन्द्रियों के विषय-व्यापार और तत्सम्बन्धी सुखाभिलाषाओं से रहित है अतः निरालम्ब है।

निश्चय नय से चित् चमत्कार, अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, अनन्त चतुष्टय का धारी आत्मा है, उसमें रमण करना ही चार प्रकार की आराधना है।

तस्या निश्चयाराधनाया विशेषमुपदर्शयन्नाह-

सद्दहइ सस्सहावं जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्धं।
तं चिय अणुचरइ पुणो इंदियविसए णिरोहित्ता ॥९॥

श्रद्दधाति स्वस्वभावं जानाति आत्मानमात्मनः शुद्धम्।
तमेवानुचरति पुनरिंद्रियविषयान्निरुध्य ॥९॥

सद्दहइ श्रद्दधाति प्रत्येति। कं। **सस्सहावं** स्वस्वभावं शुद्धात्मानं। यदा स्वस्वभावं परमात्मस्वरूपं श्रद्धत्ते तदा दर्शनं भण्यते। पुनः किं करोतीत्याह। **जाणइ** जानाति। कं। **अप्पाणं** आत्मानं। कथंभूतं। **सुद्धं** रागादिमलरहितं। कस्मात् सकाशात्। **अप्पणो** आत्मनः निजात्मस्वरूपात्। यदा तु आत्मनः सकाशात् आत्मानं जानाति तदा ज्ञानं भण्यते **पुणो** पुनः पश्चात् **तं चिय** तमेव **अणुचरइ** अनुचरति तमेव शुद्धात्मानमनुचरति पुनः पुनराचरति अनुतिष्ठतीत्यर्थः। यदा तु तमेव शुद्धपरमात्मानमनुचरति तदा चारित्रं भण्यते। किं कृत्वा। **णिरोहित्ता** निरुध्य। कान्। **इंदियविसए** इंद्रियविषयान् पंचेंद्रियाणां विषया गोचराः सप्तविंशतिसंख्याताः। तत्र स्पर्शनेंद्रियस्य अष्टौ विषया भवंति। ते के गुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णमृदुकर्कशलक्षणाः। रसनायाः कटुकतीक्ष्णमधुराम्लक्षाराः पंच। घ्राणस्य सुगंधदुर्गन्धौ। चक्षुषोः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णाः पंच। श्रोत्रस्य निषादर्षभगांधारषड्जमध्यमधैवतपंचमलक्षणाः सप्त स्वरा इति सर्वे मिलित्वा सप्तविंशतिविषया भवंति तानिंद्रियविषयान्निरुध्य संकोच्य। एतेन तपोप्यात्मैवेत्युक्तं स्यात् ॥९॥

उस निश्चय आराधना का विशेषरूप से विभाजन करके आचार्यदेव कथन करते हैं-

अपनी शुद्धात्मा के स्वस्वभाव का श्रद्धान करना दर्शनाराधना है। अपनी शुद्धात्मा के स्वस्वभाव को जानना ज्ञानाराधना है और पंचेन्द्रिय विषयाभिलाषाओं को रोककर (छोड़कर) निज शुद्ध स्वभाव में आचरण करना, रमण करना चारित्राराधना और तपाराधना कहलाती है॥९॥

हे क्षपक ! जब यह संसारी आत्मा परमात्मस्वरूप निज शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, दृढ़ विश्वास करता है कि "मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, वास्तव में (द्रव्यार्थिक नय से) सिद्ध और मुझ में कोई अन्तर नहीं है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है आंतरिक (मात्र वचनात्मक नहीं) तब उसे सम्यग् दर्शन (दर्शनाराधना) कहते हैं। जब निज शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है, शुद्धात्मा को जानता है तब वह ज्ञानाराधना कहलाती है और जब पंचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषाओं का त्याग करके अपने निज शुद्ध स्वरूप में रमण करता है, वही चारित्र और तप आराधना है।

शंका - चारित्र में तप आराधना कैसे गर्भित हो सकती है?

उत्तर - हल्का-भारी, रूखा-चिकना, शीत-उष्ण, मृदु और कर्कश ये आठ स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। कषायला, तीक्ष्ण (तिक्त), मधुर, खट्टा और खारा (कटु) ये पाँच रसना इन्द्रिय के विषय हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो घ्राण इन्द्रिय के विषय हैं। श्वेत (सफेद), पीत (पीला), लाल, नीला और काला ये पाँच चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। निषाद, ऋषभ, गांधार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पंचम ये सात कर्ण इन्द्रिय के विषय हैं। ये सब मिलकर पंचेन्द्रियों के सत्ताईस विषय हैं।

इन पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर अपने में रमण करना तप है क्योंकि पाँच इन्द्रियों की अभिलाषा (इच्छा) का परित्याग करना तप है। पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग किये बिना चारित्र की आराधना नहीं होती, अतः इन्द्रियनिरोध रूप तप चारित्र में गर्भित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा में रमण करना निश्चय चारित्र है, वैसे ही निज शुद्धात्मा में तपना तप है॥९॥

इदमेव दर्शयति-

तम्हा दंसण णाणं चारित्तं तह तवो य सो अप्पा।
चइऊण रायदोसे आराहउ सुद्धमप्पाणं॥१०॥

तस्माद्दर्शन ज्ञानं चारित्रं तथा तपश्च स आत्मा।
त्यक्त्वा रागद्वेषौ आराधयतु शुद्धमात्मानम्॥१०॥

भवतीत्यध्याहार्यं व्याख्यायते। भवति। कोसौ। **सो अप्पा** सः पूर्वोक्तः विश्वविख्यातो वा आत्मा। किं भवतीत्याह। **दंसण णाणं चरित्तं तह तवो य** दंसणेति प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः। दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तथा तपश्च तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयकारणात् क्षपकः **आराहउ** आराधयतु। कं। **अप्पाणं** आत्मानं। कथंभूतं। शुद्धं रागादिमलमुक्तं। किं कृत्वा। **चइऊण** त्यक्त्वा परित्यज्य। कौ। **रायदोसे** रागद्वेषौ रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तौ रागद्वेषौ-

णवि तं कुणइ अमित्तो सुट्ठुवि सुविराहिओ समत्थोवि।
जं दोयं अणिगाहिय करंति रागो य दोसो य॥

स आत्मा दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयः कथमिति चेदुच्यते। यदायमात्मा तं परमात्मानं श्रद्धधाति तदा दर्शनं यदा जानाति तदा ज्ञानं यदानुचरति तदा चारित्रं यदा परद्रव्याभिलाषं परिहरति तदा तपः॥ यदुक्तं-

---

वही दर्शाते हैं-

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप आत्मा ही है इसलिए राग-द्वेष का त्याग करके निज शुद्धात्मा की आराधना करनी चाहिए॥१०॥

प्राकृत व्याकरण के अनुसार दर्शन शब्द के अनुस्वार (नं) का लोप हो जाता है।

वह विश्वविख्यात आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप मय है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं; अतः इनका कारण आत्मा ही है। इसलिए हे क्षपक ! राग-द्वेष का त्याग कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय निर्मल शुद्धात्मा की आराधना करो।

जो रागद्वेष का त्याग न करके तपश्चरण में प्रवृत्ति करते हैं वे भली प्रकार से आत्मा की आराधना करने में समर्थ नहीं होते हैं अतः हे क्षपक ! आत्माराधना करने के लिए हृदय का मंथन करने वाले राग द्वेष को हृदय से निकाल कर फेंक दो।

यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय क्यों है? इसी का कथन करते हैं। जब यह आत्मा शुद्ध नित्य निरंजन आत्मा का श्रद्धान करता है, तब दर्शनमय हो जाता है। वही आत्मा जब अपने आपको जानता है, अपने आप का अनुभव करता है तब ज्ञानमय हो जाता है। जब वही आत्मा, राग-द्वेष का परित्याग कर निज शुद्धात्मा में रमण करता है तब चारित्रमय कहलाता है और जब वही आत्मा पर-द्रव्य की अभिलाषाओं का त्याग कर स्व में तपन करता है, रमण करता है तब तपोमय कहलाता है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप परिणमन ज्ञान ही करता है और ज्ञान ही आत्मा का निज स्वरूप है अतः दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय आत्मा ही है। सो ही कहा है-

विशुद्धे स्वस्वभावे यच्छ्रद्धानं शुद्धिबुद्धितः।
तन्निश्चयनये सम्यग्दर्शनं मोक्षसाधनं॥

आत्मानमात्मसंभूतं रागादिमलवर्जितं।
यो जानाति भवेत्तस्य ज्ञानं निश्चयहेतुजं॥

तमेव परमात्मानं पौनःपुन्यादयं यदा।
अनुतिष्ठेदतो ऽस्य ज्ञानं चारित्रमुत्तमं॥

परद्रव्येषु सर्वेषु यदिच्छाया निवर्त्तनं।
ततः परमात्मानं तन्निश्चयनयस्थितैः॥

इति निश्चयाराधनास्वरूपं परिज्ञाय क्षपकेण संसारशरीरभोगेभ्यो विरज्य शुद्धात्मस्वरूपमेवाराधनीयमिति तात्पर्यार्थः॥१०॥

ननु भगवन् निश्चयाराधनायात्मात्मस्वरूपे आराधिते आराधनाराध्याराधकफलमिति चत्वारो भेदाः कथं घटंत इति पृष्टः स्पष्टमाचष्टे आचार्यः-

---

"निर्मल बुद्धि से विशुद्ध निर्मल आत्मस्वभाव का जो श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, निश्चयनय से वही मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन कहलाता है।"

जब आत्मा (संसारी जीव) राग-द्वेष मल से रहित निर्मल आत्मा से उत्पन्न ज्ञानमय अपनी आत्मा को जानता है, अनुभव करता है तब निश्चय कारण से उत्पन्न आत्मा का ज्ञान ही ज्ञानाराधना है। जब आत्मा पुनः पुनः परमात्मा-स्वरूप अपनी आत्मा का अनुष्ठान करता है तब उस आत्मा का ज्ञान ही उत्तम चारित्र रूप हो जाता है।

जब यह आत्मा सर्व पर-द्रव्यों की अभिलाषाओं का त्याग कर परमात्म स्वरूप अपनी आत्मा में तपन करता है, तब आत्मा का ज्ञान ही निश्चय नय से तपोमय हो जाता है। अतः निश्चय नय से यदि अभेदात्मक कथन किया जाता है तो चार आराधनात्मक एक आत्मा ही है इसलिए हे क्षपक ! तू सारे विकल्पों को छोड़कर निज शुद्धात्मा का ध्यान कर।

इस प्रकार निश्चय आराधना के स्वरूप को जानकर समाधिमरण के इच्छुक क्षपक को संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर स्वकीय शुद्धात्मा की ही आराधना करनी चाहिए॥१०॥

"हे भगवन् ! निश्चय आराधना में शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना होने पर आराधना, आराध्य, आराधक और आराधनाफल ये चार भेद कैसे घटित होते हैं" ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर आचार्यदेव स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

आराहणमाराहं आराहय तह फलं च जं भणियं।
तं सव्वं जाणिज्जो अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥११॥

आराधनमाराध्यं आराधकस्तथा फलं च यद्भणितम्।
तत्सर्वं जानीहि आत्मानं चैव निश्चयतः ॥११॥

हे क्षपक **जाणिज्जो** जानीहि। किं तत्। **तं सव्वं** तत्सर्वं पूर्वोक्तं निखिलं । कं। **अप्पाणं चेव** आत्मानमेतत् शुद्धात्मानमेव। कस्मात् **णिच्छयदो** निश्चयतः परमार्थतः। तत् किमित्याह। **जं भणियं** यद्भणितं यत् उक्तं। किं स्वरूपं। **आराहणं आराहं आराहय तह फलं च** आराधनं सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयोद्योतनोपायरूपं आराध्यं सम्यग्दर्शनादिकं आराधकः पुरुषविशेषः क्षपकः तथा फलं च सकलकर्मप्रक्षयो मोक्षः संवरनिर्जरे च, चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। कथमिति चेत्। आराधनं उद्योतनोपायरूपः स एवात्मा जीवः आराध्यं च तदेव परमात्मस्वरूपं आराधकश्च स एव जीवः फलं च यस्मिन् काले तस्यैव परमात्मस्वरूपस्योपलब्धिः स्यात्तदेव फलमिति भावार्थः। तथा च-

आराध्यश्चित्स्वरूपो जयति नयमुपायायितस्तस्य सम्य-
ग्बोधे चाराधनं च स्फुटं तदनुचरीभूत आराधकोऽयम्।
कर्मप्रध्वंसभावाच्छिवपदमयितोयं च काम्यं फलं तत्
ह्याराध्याराधनाराधकफलमखिलं प्रोक्त आत्मैक एव ॥११॥

आत्मा स्वयं आराधक है, स्वयं ही आराधना है, स्वयं ही आराध्य है और स्वयं आराधना का फल है अतः निश्चय नय से हे क्षपक ! ये सारे भेद एक आत्मा के ही समझो। अर्थात् निश्चय नय से इन चारों को आत्मा ही जानो ॥११॥

क्योंकि आराधना करने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष क्षपक को आराधक कहते हैं। जिसकी आराधना की जाती है ऐसे सम्यग्दर्शनादि को आराध्य कहते हैं। आराधना का फल कर्मों का नाश या स्वात्मोपलब्धि है और उस फल का उपाय सम्यग्दर्शन आदि आराधना है।

निश्चय नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादिचार आराधना का आराधक विशुद्धात्मा ही है। सम्यग्दर्शन आदि चार आराधना का आधार आत्मा होने से आत्मा ही आराध्य है। आत्मा के द्योतन प्रकाशन का उपाय (सम्यग्दर्शनादिरूप) आत्मा ही है अतः आत्मा ही आराधना है और संवर-निर्जरा सर्व कर्मों का नाश हो स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति आत्मा में ही होती है वा आत्मस्वरूप ही है अतः आराधना का फल भी आत्मा ही है। अर्थात् जिस काल में परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि होगी - वह आत्मा की ही परिणति होगी। अतः आराधना के फलस्वरूप आत्मा ही है। सो ही कहा है- चैतन्य आत्मा का स्वरूप आराध्य है। चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति का उपाय रूप सम्यग्दर्शनादि स्वरूप आत्मा में लीनता आराधना है। सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करने वाला अनुचरीभूत आत्मा ही आराधक है और कर्मों के नाश से उत्पन्न शिवपद की प्राप्ति रूप इच्छित फल आत्मा ही है क्योंकि शिवपद की प्राप्ति आत्मा को ही होती है। इसलिए आराध्य आराधक, आराधना, आराधना का फल एक आत्मा ही है ॥११॥

ननु निश्चयाराधनायां सत्यां किमनया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदंतं प्रत्याह-

पज्जयणयेण भणिया चउव्विहाराहणा हु जा सुत्ते।
सा पुणु कारणभूदा णिच्छयणयदो चउक्कस्स ॥१२॥

पर्यायनयेन भणिता चतुर्विधाराधना हि या सूत्रे।
सा पुनः कारणभूता निश्चयनयतश्चतुष्कस्य ॥१२॥

हे क्षपक **भणिया** भणिता। कासौ। **जा आराहणा** या आराधना। क्व। **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। केन कारणभूतेन। **पज्जयणयेण** पर्यायनयेन पर्यायो भेदः स चासौ नयश्च तेन पर्यायनयेन। कथंभूता। **चउव्विहा** चतुर्विधा चतस्रो विधाः प्रकारा यस्याः सा चतुर्विधा दर्शनज्ञानचारित्रतपोरूपा। कथं। **हु** खलु **सा पुणु** सा पुनः। अत्र पुनःशब्द एवार्थे अव्ययानामनेकार्थत्वात्। ततः सैव आराधना **कारणभूदा** कारणभूता हेतुरूपा। कस्य। **चउक्कस्स** चतुष्कस्य आराधनाचतुष्कस्य। कस्मात्। **णिच्छयणयदो** निश्चयनयतः शुद्धनयात् अर्थात् संमीलिते तु निश्चयनयाराधनाचतुष्कस्य। ननु चतुष्कस्य इत्युक्ते आराधनापदं कुतो लभ्यते। प्रसंगत्वात्। अत्र तावदाराधनायाः प्रसंगः पूर्वोक्तत्वात्। तथाहि। कश्चिद्भव्यः प्राथमिकावस्थायां

निश्चय नय की आराधना हो जाने पर व्यवहार नय की आराधना से क्या प्रयोजन है ? ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं-

जिनेन्द्रदेव कथित सूत्र में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जो व्यवहार आराधना कही है,वह द्रव्यार्थिक नय से कही गई निश्चय आराधना चतुष्क की कारण है॥१२॥

पर्यायार्थिक नय भेद रूप है, वा व्यवहार नय कारण है वा भेदरूप है और द्रव्यार्थिक नय निश्चयनय अभेद रूप है वा कार्य है, ऐसा परमागम में कहा है।

इस गाथा में जो 'पुणु' शब्द है वह अव्यय है।

शंका - गाथा में निश्चय नय से चार आराधना न कहकर केवल 'चउक्कस्स' शब्द दिया है। इससे चार आराधना कैसे ग्रहण की जाती है?

उत्तर - व्यवहार में भेदरूप कथन है इसलिए चार प्रकार की आराधना कही है, परन्तु निश्चय नय से चारों का समुदाय एक ही आराधना है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का भेद नहीं है अतः एक समुदाय के लिए चतुष्क कह दिया गया है। अथवा शब्दों का अर्थ प्रसंगवश होता है। यहाँ पर आराधना का प्रकरण है अतः चार आराधना का ग्रहण 'चउक्कस्स' शब्द से होता है।

जब कोई भव्यजीव प्राथमिक अवस्था में निश्चय आराधना में स्थिति (स्थिरता) प्राप्त नहीं कर पाता है तब आत्मकल्याण की साधनभूत चार प्रकार की व्यवहार आराधना का अवलम्बन लेता है। पश्चात् व्यवहार आराधना के आश्रय से मन की स्थिरता को प्राप्त कर अभेद रूप निश्चय आराधना का अवलम्बन लेकर अपने आप में रमण करता है। हे आत्मन् ! तू भी व्यवहार आराधना के बल पर निश्चय आराधना

निश्चयाराधनायां स्थितिमलभमानस्तावद्व्यवहाराराधनामाराधयति पश्चान्मनसो दार्ढ्यं प्राप्य क्रमेण निश्चयाराधनामाराधयतीत्यभिप्राय: ॥१२॥

ननु भगवन् क्षपक: कथं भवं मुंचतीति पृष्टे सत्याचार्य आह-

कारणकज्जविभागं मुणिऊणं कालपहुदिलद्धीए।
लहिऊण तहा खवओ आराहओ जह भवं मुवइ॥१३॥

कारणकार्यविभागं मत्त्वा कालप्रभृतिलब्धी:।
लब्ध्वा तथा क्षपक आराधयतु यथा भवं मुंचति ॥१३॥

आराधयतु ध्यायतु। कोसौ। **खवओ** क्षपक:। कं। अर्थात् परमात्मानमेव। कथं। **तहा** तथा तेन प्रकारेण **जह** यथा येन प्रकारेण **मुवइ** मुंचति त्यजति। कं। **भवं** संसारं। किं कृत्वाराधयतीत्याह। **मुणिऊण** मत्त्वा ज्ञात्वा। कं। **कारणकज्जविभागं** कारणकार्यविभागं विभजनं विभाग: कारणं च कार्यं च कारणकार्ये तयोर्विभाग: कारणकार्यविभागस्तं कारणकार्यविभागं। कारणकार्ये हि पूर्वोत्तरगुणवैशिष्ट्यापेक्षयोत्पद्येते यथा कारणं व्यवहाराराधना कार्यरूपनिश्चयाराधनाया उत्पादकत्वात्। कार्यं निश्चयाराधना कारणरूपव्यवहाराराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारणं निश्चयाराधना कार्यरूपमोक्षस्योत्पादकत्वात्। कार्यं मोक्ष: कारणरूपनिश्चयाराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारणं मोक्ष:

को प्राप्त करने का प्रयत्न कर क्योंकि निश्चय आराधना की उपासना के बिना आत्मविशुद्धि वा स्वस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती॥१२॥

"भगवन् ! क्षपक संसार का नाश कैसे कर सकता है?" ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

हे क्षपक ! काल आदि लब्धियों को प्राप्त कर और कार्य-कारण विभाग को जानकर चार आराधना की आराधना करो जिससे संसार के वास से छूट जाओ॥१३॥

कालादि लब्धि का संक्षेप से कथन पूर्व में किया है। उस कालादि लब्धि को प्राप्त कर ही यह जीव आराधना का आराधक होता है।

व्यवहार और निश्चय आराधना में कार्य-कारण भाव है अर्थात् व्यवहार आराधना कारण है और निश्चय आराधना कार्य है। क्योंकि व्यवहार आराधना निश्चय आराधना रूप कार्य की उत्पादक है और व्यवहार रूप कारण आराधना के द्वारा निश्चय आराधना उत्पाद्यमान है क्योंकि पूर्व उत्तर गुण वैशिष्ट्य की अपेक्षा कारण कार्य उत्पन्न होता है अत: पूर्ववर्ती कारण होता है और उत्तरवर्ती कार्य होता है।

मोक्ष रूप कार्य की उत्पादक होने से व्यवहार आराधना कारण है और मोक्षरूप कार्य की उत्पत्ति रूप निश्चय आराधना उत्पाद्य (कार्य) है।

अथवा- कार्य रूप मोक्ष की उत्पादक होने से निश्चय आराधना कारण है और कारणरूप निश्चय आराधना से उत्पन्न होने से मोक्ष कार्य है।

कार्यरूपानंतचतुष्टयस्वरूपशुद्धपरमात्मोत्थातींद्रियानंतसुखस्योत्पादकत्वात्। न केवलं कारण-कार्यविभागं ज्ञात्वा। किं च **लहिऊण** लब्ध्वा प्राप्य। का। **कालपहुदिलद्धीए** कालप्रभृतिलब्धी: कालादिलब्धी:। ननु कारणकार्यविभागे ज्ञाते किमेताभि: कालप्रभृतिलब्धिभि:। मैवं वादी:। कारणकार्यविभागज्ञा कालप्रभृति लब्धि: कारणद्वयसाध्यस्य मोक्षकार्यस्यान्यथानुपपत्ते:। यदुक्तं –

कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥

यदा क्षपक: क्षपितकर्मा भव्य: कारणकार्यविभागं ज्ञात्वा कालप्रभृतिलब्धीश्च लब्ध्वा शुद्धपरमात्मानमाराधयति तदा सकलकर्मप्रक्षयं कृत्वा मोक्षं गच्छतीत्यभिप्राय:॥१३॥

ननु यद्यात्मानमाराधयितुं न लभते जीवस्तदा किं करोतीत्याशंक्याह-

जीवो भमइ भमिस्सइ भमिओ पुव्वं तु णरयणरतिरियं।
अलहंतो णाणमई अप्पाआराहणा णाउं॥१४॥

अथवा-कार्य रूप अनन्त चतुष्टय स्वभाव शुद्ध परमात्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख का उत्पादक होने से मोक्ष कारण है और अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति वा स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि कार्य है, क्योंकि वह उत्पाद्य है। इस प्रकार कार्य-कारण, उत्पाद्य-उत्पादक, जन्य-जनक के विभाग को जानकर चार आराधना की आराधना करनी चाहिए। मोक्ष की सिद्धि में कार्य-कारण भाव के विभाग को जानना और काललब्धि की प्राप्ति की क्या आवश्यकता है? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कार्य-कारण और काललब्धि इन दो कारणों के द्वारा साध्य मोक्ष रूप कार्य कभी एक कारण से नहीं हो सकता। सो ही कहा है-

"दो कारणों से साध्य कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता। दो कारणों से (माता-पिता संयोग से) उत्पद्यमान पुत्ररूप कार्य एक कारण से नहीं हो सकता।" इसलिए कर्मों के नाश का इच्छुक भव्य क्षपक जब कारण-कार्य विभाग को जानकर और कालादि लब्धि के संयोग को प्राप्त कर, निश्चय और व्यवहार इन दोनों आराधनाओं के बल से निज शुद्ध परमात्मा की आराधना करता है, तब सकल कर्मों का नाशकर मोक्षपद को प्राप्त करता है। इसलिये हे क्षपक ! तू निश्चय और व्यवहार रूप दोनों आराधनाओं की अंतरंग भावना से आराधना कर॥१३॥

शंका - यदि यह संसारी आत्मा निज शुद्ध आत्मा की आराधना नहीं करता है, तो क्या होता है? इस शंका का **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हैं-

यह जीव ज्ञानमय निज शुद्ध आत्मा की आराधना करने में वा शुद्धात्मा को जानने में समर्थ नहीं है, वा शुद्धात्मा को नहीं जानता है अत: इसने भूत काल में नरक-मानव-तिर्यंच और देव इन चारों गतियों में भ्रमण किया है, वर्तमान में भ्रमण कर रहा है और भविष्य में भी भ्रमण करता रहेगा। अर्थात् संसारवास को छोड़ नहीं सकता॥१४॥

जीवः भ्रमति भ्रमिष्यति भ्रांतः पूर्वं तु नरकनरतिर्यक्।
अलभमानो ज्ञानमयीमात्माराधनां ज्ञातुम्॥१४॥

भमइ भ्रमति। कोसौ। **जीवो** जीवः वर्तमानकालापेक्षया चतुर्गतिसंसारं पर्यटति तथा भविष्यत्कालापेक्षया **भमिस्सइ** भ्रमिष्यति पर्यटिष्यति। ननु कथं भ्रमति भ्रमिष्यतीति संभाव्यते। तदेवाह। **पुव्वं तु** पूर्वं तु **भमिओ** भ्रांतः। यदि पूर्वं भ्रांतो नाभविष्यत् तदा वर्तमानं भाव्यं च भ्रमणं नाकरिष्यत् पूर्वं भ्रांतश्चायं तस्मात् वर्तमाने भाविनि काले च भ्रमणं सिद्धमेवास्य। अलमिति विस्तरेण। यदुक्तं-

कालास्त्रयोप्यतीताद्या तानपेक्ष्य मिथोप्यमी।
प्रवर्तेरन् यतो नैकः केवलं क्वापि दृश्यते॥

क्व। **णरयणरतिरियं** नरकनरतिर्यग्गतौ अर्थत्वादनुक्तोऽपि गतिशब्दो लभ्यते सुखावबोधार्थं। यद्वा शब्दस्य लाक्षणिकत्वादपि, यथा गंगायां घोष इत्युक्ते तटो लभ्यते। तथा नरक इत्युक्ते नरकगतिः नर इत्युक्ते नरगतिः एवं सर्वत्र उपलक्षणाद्देवगतौ च। किंकुर्वाणः। **अलहंतो** अलभमानः अप्राप्नुवन्। कां। आत्माराधनां शुद्धात्मध्यानं। किं कर्तुं। **णाउं** ज्ञातुं **मंतुं** अनुभवितुमित्यर्थः। कथंभूतामात्माराधनां। **णाणमई** ज्ञानमयीं

यह जीव वर्तमान काल की अपेक्षा चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है और भविष्य में भी भ्रमण करेगा।

शंका – भ्रमण कर रहा है और भविष्य में भी भ्रमण करेगा, इसकी संभावना कैसे हो सकती है?

उत्तर – पूर्व में भ्रमण किया था क्योंकि जिसने पूर्व में भ्रमण नहीं किया, वह वर्तमान में भ्रमण नहीं कर सकता ? पूर्व में भ्रमण किया है, इसलिये वर्तमान और भविष्य काल का भ्रमण इस जीवके सिद्ध होता है। क्योंकि जीव का सत्त्व अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। न तो असत् का उत्पाद होता है और न सत् का विनाश होता है, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है। सो ही कहा है-

"अतीत (भूत) आदि तीन काल हैं। उन तीनों कालों की परस्पर अपेक्षा रख कर ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् तीनों काल परस्पर सापेक्ष हैं। भविष्यत्काल ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही भूत बनता है। क्योंकि एक काल कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

नरक, नर, तिर्यञ्च शब्द में गति शब्द का उच्चारण न होने पर भी उपलक्षण[१] से सरलता से समझने हेतु गति का ग्रहण हो जाता है।

अथवा, शब्द के लाक्षणिकत्व है, उसका अर्थ प्रकरणवश होता है। जैसे 'नदी में घोष (ग्राम) है', ऐसा कहने पर 'नदी के तट पर ग्राम' ऐसा अर्थ होता है। उसी प्रकार 'नरक' ऐसा कहने पर 'नरक गति' का ज्ञान होता है। उसी प्रकार नर से नर गति, तिर्यंच से तिर्यञ्च गति का ग्रहण होता है। तथा देवगति का गाथा में उल्लेख नहीं होने पर भी उपलक्षण[१] से देवगति का ग्रहण होता है।

---

१. सदृशग्राही को उपलक्षण कहते हैं।

चिन्मयीं। अनादिकाले हि अयं जीवः अनंतज्ञानमयनिश्चयाराधनालक्षणं परमात्मस्वरूपमलभमानः सन् संसाराटव्यां भ्रांतः भ्रमति भ्रमिष्यति च इति मत्वा क्षपकेण निजशुद्धात्मस्वरूपमाराधनीयमिति भावार्थः ॥१४॥

ननु भगवन् पूर्वं किं विधाय सा निश्चयाराधनाराधनीयेति पृष्टे आचार्य अनुशास्ति-

संसारकारणाइं अत्थि हु आलंबणाइ बहुयाइं।
चइऊण ताइं खवओ आराहओ अप्पयं सुद्धं॥१५॥

संसारकारणानि संति हि आलंबनानि बहुकानि।
त्यक्त्वा तानि क्षपक आराधयतु आत्मानं शुद्धम्॥१५॥

अत्थि अस्तीत्यव्ययक्रियापदं संत्यर्थे बह्वर्थं प्रतिपादयति। उक्तं च। सदृशं त्रिषु लिंगेषु। सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययमिति॥ अस्ति संति। कानि। **आलंबणाइ** आलंबनानि स्रक्चंदनवनितागीतनृत्यवादित्रादीनि। **बहुयाइं** बहुकानि प्रचुराणि। कथंभूतानि। **संसारकारणाइं** संसारकारणानि नरकतिर्यग्मनुष्यदेव-चतुर्गतिनिबद्धस्य संसारस्य कारणानि हेतुभूतानि। कथं। **हु** निश्चितं **ताइ** तानि

जो मानव चिन्मयी - शुद्ध आत्मध्यान, शुद्ध आराधना को जानने के लिए, उसका अनुभव करने के लिए समर्थ नहीं है, शुद्ध आत्मा का जब तक अनुभव नहीं करता है, स्वात्मोन्मुखी प्रवृत्ति नहीं करता है,तब तक वह संसार अटवी में भ्रमण करता रहता है।

हे क्षपक ! यह संसारी आत्मा अनंत ज्ञानमय, निश्चय आराधना लक्षण, परमात्म-स्वरूप निज शुद्धात्मा की आराधना नहीं करता है, इसलिए अनादि काल से इसने भव-वन में भूतकाल में भ्रमण किया है, वर्तमान काल में भ्रमण कर रहा है और भविष्यत् काल में भ्रमण करेगा। ऐसा जानकर क्षपक को निज शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना करनी चाहिए ॥१४॥

भगवन् ! पूर्व में क्या करके उस निश्चय आराधना की आराधना करनी चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कथन करते हैं-

हे क्षपक ! संसारभ्रमण के मिथ्यादर्शनादि अनेक कारणों के बहुत प्रकार के अवलम्बन हैं- उनको छोड़कर निज शुद्धात्मा की आराधना करो॥१५॥

अत्थि (अस्ति) यह अव्यय क्रियापद है जो बहु अर्थ को प्रतिपादित करता है। सो ही कहा है-

"जो सर्व वचन में, सर्व विभक्तियों में और पुरुष आदि तीनों लिंगों में सदृश रहता है अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है उसको अव्यय कहते हैं।"

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र आदि संसार-भ्रमण के अनेक कारण हैं। अथवा-नरक तिर्यंच गति आदि संसार के कारण हैं। संसार के इन कारणों के माला, चन्दन, स्त्री, गीत, नृत्य, वादित्र आदि बहुत से अवलम्बन हैं।

आलंबनानि **चइऊण** त्यक्त्वा **आराहउ** आराधयतु। कोसौ। **खवओ** क्षपकः। कं। **अप्पयं** आत्मानं किंविशिष्टं। **सुद्धं** रागादिमलमुक्तं। अनादिकाले हि सक्चंदनवनितागीतनृत्याद्यनेक-विधपंचेंद्रियविषयसुखाभिलाषुकेण निजशुद्धात्मोत्पन्नातींद्रियसुखात्पराङ्मुखेन जीवेन संसाराटव्यां पर्यटितं संप्राप्तं संसारशरीरभोगवैराग्यभावनाबलेन तानि विषयसुखानि निरस्य निश्चयाराधनारूपं निजपरमात्मतत्त्वमाराधनीयमिति भावार्थः ॥१५॥

ननु निश्चयाराधनैव मोक्षसाधिका किमनया भिन्नया चतुर्विधया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदंतं प्रत्याह;-

भेयगया जा उत्ता चउव्विहाराहणा मुणिंदेहिं।
पारंपरेण सावि हु मोक्खस्स य कारणं हवइ ॥१६॥

भेदगता या उक्ता चतुर्विधाराधना मुनीन्द्रैः।
पारंपर्येण सापि हि मोक्षस्य च कारणं भवति ॥१६॥

हवइ भवति। किं। **कारणं** कार्यस्य साधनं कारणमित्युच्यते। कस्य। **मोक्खस्स** मोक्षस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षस्वरूपस्य च। पुनः का। **सावि** सापि। सापीति का। **चउव्विहाराहणा** चतुर्विधाराधना चतस्रो विधाः प्रकारा यस्याः सा चतुर्विधा चतुर्विधासावाराधना च चतुर्विधाराधना

हे क्षपक ! मिथ्यादर्शन के वशीभूत माला, चन्दन, स्त्री, गीत-नृत्यादि अनेक पंचेन्द्रिय विषयसुखों के इच्छुक और निज शुद्धात्मा से उत्पन्न अतींद्रिय सुख से पराङ्मुख हुए इस संसारी जीव ने अनादि काल से जन्म-मरणादि हिंसक पशुओं से व्याप्त संसार अटवी में भ्रमण किया है। हे भव्यात्मा क्षपक ! इस समय संसार, शरीर और भोगों की विरक्त भावना के बल से विषयसुख का परित्याग कर निश्चय आराधना स्वरूप निज परमात्मतत्त्व की आराधना करनी चाहिए ॥१५॥

"निश्चय आराधना ही मोक्षसाधिका है तो अन्य भिन्न चार प्रकार की व्यवहार आराधना से क्या प्रयोजन है?" ऐसा कहने वाले शिष्य को आचार्य उत्तर देते हैं-

जिनेन्द्र भगवान ने भेदगत चार प्रकार की जो आराधना कही है, वह भी परम्परा से मोक्ष का कारण होती है ॥१६॥

सम्पूर्ण कर्मों का नाश है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षरूप कार्य की कारण सम्यग्दर्शनादि चार प्रकार की व्यवहार आराधना है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार आराधना उद्योतन स्वरूप है, भेदगत है तथा परम्परा से मोक्ष का कारण है। जिस प्रकार निश्चय आराधना साक्षात् मोक्षफल रूप कार्य की साधिका है, वैसे व्यवहार आराधना साक्षात् मोक्षफल की

सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयोद्योतनोपायस्वरूपा चतुर्विधाराधनैव। का। या। किं कृत्वा। उक्ता उक्ता प्रतिपादिता। कैः। **मुणिंदेहिं** मुनींद्रैः मुनीनामिंद्रा मुनींद्राः सर्वज्ञास्तैः मुनींद्रैः। किंविशिष्टा। **भेयगया** भेदगता सम्यग्दर्शनादीन् चतुरो भेदान् गता प्राप्ता हु खलु स्फुटं। केन करणेन भूतेन मोक्षस्य कारणं भवति। **पारंपरेण** पारंपर्येण अनुक्रमेण। कुतः। यथा निश्चयाराधना साक्षान्मोक्षफलरूपकार्यसाधिका भवति तथैव या न भवति किंतु बीजत्वात्। बीजो हि क्रमेण वृक्षफलत्वापन्नो दृष्टः। कश्चिद्भव्यजीवः काललब्धिं समवाप्य कर्मणः क्षयोपशमत्वात् गुरुचरणकमलसमीपं संप्राप्योपदेशं लब्ध्वा आराधयितुं प्रवृत्तः प्रथमं भेदाराधनया अभ्यासं विधाय पश्चादभेदेन परमात्मानं सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयमयं समाराध्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयं कृत्वा केवलज्ञानं समुत्पाद्य मोक्षं गच्छतीत्यभिप्रायः ॥१६॥

नन्वाराधकः पुमान् किंलक्षणः कियत्कालं कृत्वा समाराधयतीति वदंतं प्रत्याह-

णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो।
दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ ॥१७॥

निहतकषायो भव्यो दर्शनवान् हि ज्ञानसंपन्नः।
द्विविधपरिग्रहत्यक्तो **मरणे** आराधको भवति ॥१७॥

हवइ भवति। कोसौ। **आराहओ** आराधकः ध्याता पुरुषः। कथंभूतः। **णिहयकसाओ** निहतकषायः निहताः कषायाः येनासौ कदाचिदपि कषायैराविष्टो न भवतीत्यर्थः। पुनः कथंभूतः। **भव्वो** भव्यः मुक्तियोग्यः। पुनः कथंभूतः। **दंसणवंतो** दर्शनवान् सम्यग्दर्शनविराजमानः। पुनः किंविशिष्टः।

साधिका नहीं है अपितु परम्परा से मोक्ष की साधिका है क्योंकि व्यवहार बीज है; जैसे बीज क्रम (परम्परा) से वृक्ष फल को प्राप्त हुआ देखा जाता है, साक्षात् नहीं।

कोई निकट भव्य जीव कर्मों के क्षयोपशम से काललब्धि को प्राप्त कर, गुरुदेव के चरण-कमलों के समीप जाकर उनसे देशना लब्धि प्राप्त करता है, पश्चात् आराधना करने में प्रवृत्ति करता है। सर्व प्रथम भेद आराधना का अभ्यास करता है। तत्पश्चात् अभेद रूप (सम्यग्दर्शनादि भेदगत विकल्पों को छोड़कर) से सम्यग्दर्शनादि चतुष्टयमय परमात्मा की आराधना कर घातिचतुष्टय कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्तकर मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१६॥

''आराधक पुरुष का लक्षण क्या है? और वह किस काल में आराधक होता है?'' ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

मन्द कषायी, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान सम्पन्न और दो प्रकार के परिग्रह से रहित भव्य जीव मरण समय में आराधक होता है ॥१७॥

आराधक पुरुष का पहला लक्षण है कि कितने ही उपसर्ग आदि कष्ट आने पर भी वह कषाय के उद्रेक से अनुरंजित न होवे।

णाणसंपण्णो ज्ञानसंपन्नः शुद्धपरमात्मपदार्थविलक्षणानि परद्रव्याणि हेयरूपाणि जानाति समस्तदेहादिपरद्रव्येभ्यो विविक्तं परमात्मनः स्वरूपमुपादेयं मनुते इति स्वसंवेदनज्ञानसंपन्नः । पुनः कथंभूतः। **दुविहपरिग्गचत्तो** द्विविधपरिग्रहत्यक्तः द्विविधेन बाह्याभ्यंतरलक्षणपरिग्रहेण त्यक्तो रहितः। क्व। मरणे मरणपर्यन्तं अत्र अभिव्याप्यार्थे सप्तमी निर्दिष्टा तिलेषु तैलवत्। कथं। हु खलु निश्चयेन एवंगुणविशिष्टः पुरुषो मरण-कालपर्यन्तमाराधको भवतीति तात्पर्यार्थः ॥१७॥

नन्वाराधकपुरुषस्येमान्येव लक्षणानि किमन्यान्यपि भविष्यंति वा इति पृष्टे अपराण्यपि संतीत्याह-

संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो।
विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो ॥१८॥

संसारसुखविरक्तो वैराग्यं परमोपशमं प्राप्तः।
विविधतपस्तप्तदेहो मरणे आराधक एषः ॥१८॥

अत्र क्रियाया अध्याहारः। भवति। कोसौ **आराहओ** आराधकः। कः। **एसो** एषः। किं लक्षणः। **संसारसुहविरत्तो** संसारसुखविरक्तः संसारे यानि निर्मलचिदानंदानुभवनोत्थानुपमानिंद्रियसुखविलक्षणानि केवलमाकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखरूपाणि इंद्रियविषयोत्पादितसुखानि तेषु विरक्तः अभिलाषरहितः। पुनः

दूसरा लक्षण है कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वरूप का भान नहीं होता है और ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता है।

तीसरा लक्षण है कि वह ज्ञानसम्पन्न शुद्ध परमात्म-पदार्थ से विलक्षण समस्त पर द्रव्य को हेय समझता हो। समस्त देहादि पर द्रव्य से भिन्न परमात्म स्वरूप शुद्धात्मा को उपादेय मानता हो और स्वसंवेदन ज्ञान से सम्पन्न हो।

चतुर्थ लक्षण है-दस प्रकार के बाह्य और १४ प्रकार के अभ्यन्तर रूप इन दोनों परिग्रहों का त्यागी हो। ऐसा भव्य जीव मरण के समय आराधक (क्षपक) होता है। अर्थात् निश्चय से उपर्युक्त गुण विशिष्ट पुरुष ही मरणकाल पर्यन्त आराधक होता है, ऐसा समझना चाहिए॥१७॥

आराधक पुरुष के इतने ही लक्षण हैं कि और भी कोई हैं? ऐसा पूछने पर आचार्य अन्य लक्षणों का कथन करते हैं-

जो संसार-सुख से विरक्त है, परम वैराग्य और उपशम भाव को प्राप्त है और जिसने विविध तपों से अपने शरीर को तपाया है, ऐसा भव्य प्राणी ही मरण काल में आराधक होता है॥१८॥

इस गाथा में ''होता है'' यह क्रिया ऊपर से लेनी चाहिए।

निर्मल चिदानन्द शुद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न अनुपम अतीन्द्रिय सुख से विलक्षण आकुलता उत्पादक होने से वास्तव में दुःख रूप, इन्द्रियविषयों से उत्पन्न संसार-सुख से विरक्त पुरुष आराधक होता है। अर्थात् इन्द्रियसुख का अभिलाषी आराधना का आराधक नहीं होता।

किंविशिष्टः। **पत्तो** प्राप्तः। किं। **वेरग्गं** वैराग्यं शरीरादौ परस्मिन्निष्टवस्तुनि प्रीतिरूपो रागः विनष्टो रागो। यस्यासौ विरागः विरागस्य भावो वैराग्यं संसारशरीरभोगेषु निर्वेदलक्षणं। न केवलं वैराग्यं प्राप्तः **परमउवसमं** परमोपशमं च। अत्र रागादिपरिहारलक्षणमुपशमं आगमभाषया तु अनंतानुबंधिचतुष्टयमिथ्या-त्वत्रयस्वरूपाणां मोहनीयकर्मणः सप्तप्रकृतीनामुपशमनादुपशमः परमश्चासौ उपशमश्च परमोपशमः तं परमोपशमं समुद्रे वाता नाववत् स्वभावे रागिणो रागादिजनितविकल्पोत्पत्तेरभावलक्षणं। पुनः कथंभूतः। **विविहतवतवियदेहो** विविधतपस्तप्तदेहः विविधैर्वीतरागसर्वज्ञागमप्रतिपादितैर्बाह्याभ्यंतरलक्षणैर्मूलगुणोत्तरविशेषैर्नाना-विधैस्तपोभिस्तप्तो देहः शरीरं यस्यासौ विविध-तपस्तप्तदेहः। क्व। मरणे मरणपर्यन्तं। एवं गुणविशिष्टलक्षण आराधको मरणपर्यन्तं भवतीति तात्पर्यार्थः ॥१८॥

उक्तानि कानिचिदाराधकलक्षणानि इदानीमन्यान्यपि वर्णयितुकाम आचार्य आह-

अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो।
णिम्महियरायदोसो हवई आराहओ मरणे ॥१९॥

आत्मस्वभावे निरतो वर्जितपरद्रव्यसंगसौख्यरसः।
निर्मथितरागद्वेषो भवत्याराधको मरणे ॥१९॥

शरीर आदि पर-द्रव्य रूप इष्ट वस्तु से प्रीति (राग) का अभाव विराग है और विराग का भाव वैराग्य है। अर्थात् संसार, शरीर और पंचेन्द्रियजन्य विषयों से विरक्त होना वैराग्य है। यह वैराग्य भाव आराधना का साधन है।

रागादि का अभाव उपशम कहलाता है वा आगम भाषा में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्रमोहनीय की चार, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोहनीय की तीन ऐसी मोहनीय कर्म की इन सात प्रकृतियों के उपशमन को उपशम भाव कहते हैं। वा रागादि विभाव भावों का मन्द हो जाना उपशम भाव कहलाता है। जैसे वायु के द्वारा अकम्पित (चंचल नहीं होने वाले) समुद्र से नौका पार हो जाती है। यदि समुद्र वायु से चंचल है तो नौका डूब जाती है, वैसे ही जिस क्षपक का मन रागद्वेष आदि कल्लोलों से चंचल नहीं है वही अपनी आराधना रूपी नौका को अपने इष्ट स्थान पर ले जा सकता है। इसलिए आराधक के मन का रागद्वेष की कल्लोलों से चंचल नहीं होना ही परमोपशम भाव है। अर्थात् रागादिजनित विकल्पों के अभाव लक्षण रूप प्रशम भाव भी आराधक पुरुष का लक्षण है।

सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित वाह्य अभ्यन्तर वा मूलगुण एवं उत्तर गुण रूप तपश्चरण के द्वारा जिसने अपने शरीर को तपाया है,वही पुरुष मरणकाल में आराधना का आराधक होता है॥१८॥

इस प्रकार आराधक के लक्षणों का कथन करके आराधक के अन्य भी लक्षणों का कथन करने के इच्छुक आचार्य कहते हैं-

जो निज स्वभाव में लीन है, जिसने परद्रव्य के संयोग से उत्पन्न सुख रस का त्याग कर दिया है और जिसने राग-द्वेष का मथन कर दिया है, अर्थात् राग द्वेष का नाश कर दिया है, ऐसा भव्य जीव मरण समय आराधना का आराधक होता है॥१९॥

हवई भवति। कोसौ। **आराहओ** आराधकः। किंविशिष्टः। **णिरओ** निरतः। तत्परः। क्व। **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे निर्मलतरपरमचिदानंदलक्षणे स्वस्वरूपे। पुनः कथंभूतः। **वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो** वर्जितपरद्रव्यसंगसौख्यरसः वर्जितो निराकृतः सकलसंसारहितकरमात्मसमुद्भवचिल्लक्षणानां परद्रव्याणां संगेन संयोगेन यानि पंचेंद्रियविषयोद्भवानि सुखानि तेषां रसोभिलाषो येन। पुनः कथंभूतः। **णिम्महियरायदोसो** निर्मथितरागद्वेषः आत्मसमानसमस्तजीवराशिविलोकनतया निर्मथितौ स्फेटितौ रागद्वेषौ इष्टानिष्टयोः प्रीत्यप्रीतिलक्षणौ येन। क्व। **मरणे** मरणपर्यन्तं। एवंगुणविशिष्टो मरणं मर्यादीकृत्य आराधयतीति तात्पर्यार्थः ॥१९॥

ननु रत्नत्रितयमयमात्मानं मुक्त्वा परद्रव्यचिंतां करोति यः कथंभूतो भवतीति पृच्छंतं प्राहु-

जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।
चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ॥२०॥

यो रत्नत्रयमयं मुक्त्वात्मनो विशुद्धात्मानम्।
चिंतयति च परद्रव्यं विराधको निश्चितं भणितः ॥२०॥

भणिओ भणितः प्रतिपादितः। केन। **णिच्छयं** निश्चयेन परमार्थलक्षणेन। **कोसौ। विराहओ** विराधकः हेयोपादेयवस्तुपरिज्ञानविकल्पतया यथोक्तलक्षणाराधकः पुरुषविलक्षणः स पुरुषो विराधको भवतीत्यर्थः। यः किं करोति। जो **चिंतेइ** यश्चिन्तयति। किं तत्। **परदव्वं** परद्रव्यं निजात्मनो भिन्नं यद्वस्तुस्वरूपं इह निजात्मन एवोपादेयत्वात्। ननु निजात्मन एवोपादानेन पंचपरमेष्ठिनामप्याराधको विराधकः

जो भव्यात्मा, निर्मलतर परम चिदानन्द एकलक्षण निज स्वभाव में लीन रहता है, जिसने स्वभाव से विलक्षण, पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न, पंचेन्द्रिय विषय सुख रस की अभिलाषा का त्याग कर दिया है, अपनी आत्मा के समान समस्त जीवराशि का अवलोकन करने से जिनके हृदय से, इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थों में होने वाली प्रीति (राग), अप्रीति (द्वेष) नष्ट हो गयी है, ऐसे प्राणी मरण की मर्यादा करके आत्मा की आराधना कर सकते हैं, अन्य में आराधना करने की क्षमता नहीं है॥१९॥

रत्नत्रयमय शुद्धात्मा की भावना को छोड़कर अन्य द्रव्य की चिंता करने वाले का क्या होता है? ऐसा पूछने वाले को आचार्य कहते हैं-

जो प्राणी रत्नत्रयमय, निज शुद्धात्मा के ध्यान को छोड़कर परद्रव्य का चिन्तन करता है वह निश्चय से आराधना का विराधक (घातक) होता है॥२०॥

जिसको हेय और उपादेय वस्तु का ज्ञान है वह आराधक कहलाता है। जिसको हेय उपादेय का ज्ञान नहीं है वह विराधक कहलाता है। अथवा निज आत्मा से भिन्न पर-द्रव्य का चिन्तन करने वाला विराधक होता है। क्योंकि निज आत्मा को उपादेय मानने वाला ही आराधक है।

शंका - यदि पर-द्रव्य का चिन्तन करने वाला विराधक है और शुद्धात्म द्रव्य का चिन्तन करने वाला आराधक है क्योंकि शुद्धात्मा ही उपादेय है तो फिर पंच परमेष्ठी का ध्यान करने वाला आराधक कैसे हो सकता है? क्योंकि पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य हैं।

स्यात् निजात्मभिन्नात्म-द्रव्यत्वादिति चेत्सत्यं। यः कश्चिद्यथावद्वस्तुस्वरूपं परिज्ञाय स्वशुद्धात्मानमाराधयितुं प्रवृत्तोपि अदृष्टाश्रुताननुभूतत्वात्तत्राशु स्थितिमलभमानः सन् तन्निमित्तं विषयकषायवंचनार्थं च तदाराधकानां भिन्नात्मस्वरूपाणां।

पंचपरमेष्ठिनां स्वरूपमाराधयन्न विराधकः। कुत इति चेत्। आत्मस्वरूपसाधकत्वात्। संसारपरिभ्रमणहेतुभूतैहलौकिकपारलौकिकख्यातिपूजालाभ-भोगेंद्रियविषयजन्यसुखाभिलाषाभावात्। यस्तु इतरः। निजात्मस्वरूपस्यानुपादानेन निदाने नवग्रैवेयकसुखपर्यंतविपुलर्धिदायिविशिष्टपुण्यकारणं पंचपरमेष्ठिस्वरूपमाराधयन्नपि विराधकः पुनरपि संसारकारणत्वात्। यत्तु संसारकारणं तत्पुण्यमपि न भव्यं।

मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ णाणिय ताइ भणंति।
जीवहं रज्जइ देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति।

परमात्मप्रकाशे इत्युक्तत्वात्। उक्तं च-

तेनापि पुण्येन कृतं कृतं यज् जंतोर्भवेत् संसृतिवृद्धिहेतुः।
तच्चार्वपीच्छेन्ननु हेम को वा क्षिप्तं श्रुती त्रोटयते यदाशु।

किं कृत्वा विराधको भवति। मुत्तूणं मुक्त्वा परित्यज्य। कं। विसुद्धप्पा विशुद्धात्मानं विशुद्धो रागादिरहित आत्मा तं। कथंभूतं। रयणत्तयमइओ रत्नत्रयमयं विषयभेदेन सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रितयेन निर्वृतं। कुतः। अप्पणो आत्मनः निजात्मस्वरूपापादानभूतत्वात्। एवं ज्ञात्वा समस्तपरद्रव्यं विमुच्य भो भव्या निजदेहे निवसंतं परमात्मानमाराधयंतु इति तात्पर्यार्थः ॥२०॥

उत्तर - यद्यपि तुम्हारा कहना सत्य है, फिर भी जो कोई भव्य यथावद् वस्तु के स्वरूप को जानकर स्व शुद्धात्मा की आराधना करने में प्रवृत्त होता है परन्तु अदृष्ट, अश्रुत और अननुभूत होने से उस शुद्धात्म ध्यान में शीघ्र ही स्थिर नहीं हो पाता है इसलिए उस स्थिरता की प्राप्ति के लिए तथा विषय-कषायों से बचने के लिए, शुद्धात्म ध्यान में निमित्तभूत पंच परमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना करता है, भले ही वे पंचपरमेष्ठी उसके आत्मस्वरूप से भिन्न हैं। उनकी आराधना करता हुआ भी वह जीव विराधक नहीं है क्योंकि पंच परमेष्ठी आत्मस्वरूप के ही साधक हैं अर्थात् उनकी आराधना करने से आराधक का लक्ष्य आत्मस्वरूप की ओर ही सन्मुख होता है।

इसके सिवाय पञ्चपरमेष्ठी की आराधना में संसार परिभ्रमण के कारणभूत इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी ख्याति, पूजा, लाभ, भोग तथा इन्द्रिय विषय से उत्पन्न होने वाले सुख की अभिलाषा भी तो नहीं है। हाँ, इसके सिवाय जो निजात्म स्वरूप को ग्रहण न कर निदान रूप से नवग्रैवेयक सम्बन्धी सुख पर्यन्त की विपुल ऋद्धि को देने वाले विशिष्ट पुण्य का लक्ष्य बनाकर पञ्चपरमेष्ठियों के स्वरूप की आराधना भी कर रहा है वह विराधक है क्योंकि उसका यह कार्य संसार का कारण है। जो संसार का कारण है वह पुण्य भी अच्छा नहीं है क्योंकि **परमात्मप्रकाश** में कहा है- **मं पुणु इति**-ज्ञानी जीव उस पुण्य को भी भला नहीं कहते जो जीव को राज्यादिक दे कर फिर शीघ्र ही दुःख उत्पन्न कराता है और भी कहा है-**तेनापीति**-जो किये जाने पर जीव के संसार की वृद्धि का हेतु होता है ऐसा पुण्य भी निरर्थक है। जो पहिनने पर शीघ्र ही कानों को तोड़ देता है ऐसे सुवर्ण की, उत्तम होने पर भी कौन इच्छा करता है ? अर्थात् कोई नहीं। इस प्रकार आराधक और विराधक का लक्षण जानकर हे भव्य जीवो ! निज देह में निवास करने वाले परमात्मा की आराधना करो यह तात्पर्य है॥२०॥

ननु भगवन् परमात्मानं मुक्त्वा परद्रव्यं चिंतयति यः स मया विराधको ज्ञातः यस्तु आत्मानं परमपि न बुध्यते तस्याराधना घटते न वेति पृष्टे आचार्यः प्राह -

जो णवि बुज्झइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज।
तस्स ण बोही भणिया सुसमाहीराहणा णेव ॥२१॥

यः नैव बुध्यते आत्मानं नैव परं निश्चयं समासृत्य।
तस्य न बोधिः भणिता सुसमाधिरारधना नैव॥२१॥

णवि बुज्झइ नैव बुध्यते न जानाति। कोसौ। **जो** यः कश्चिदपि पुरुषविशेषः। कं। **अप्पा** आत्मानं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अततीति आत्मा तं। न केवलं आत्मानं बुध्यते। **णेय परं** परं नैव आत्मनो विलक्षणं देहादिपरद्रव्यं नैव। किं कृत्वा। **समासिज्ज** समासृत्य अवलंब्य। कं। **णिच्छयं** निश्चयं परमार्थं **तस्स ण भणिया** तस्य न भणिता आत्मपरभेदपरिज्ञानशून्यस्य न प्रतिपादिता। कासौ। **बोही** बोधिः। बोधेः किं लक्षणं। **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तिप्रापणं** बोधिः। न केवलं **बोधिः। सुसमाही** सुसमाधिश्च। सुसमाधेः किं लक्षणं। तस्यैव बोधेर्निर्विघ्नेन भवांतरावाप्तिरिति समाधिः। न केवलं सुसमाधिः। **आराहणा** आराधना **नैव** पूर्वोक्तलक्षणा। उक्तं च-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

आगे कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! परमात्मा को छोड़कर जो परद्रव्य का चिन्तन करता है वह विराधक है ऐसा मैंने जान लिया। परन्तु जो न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसके आराधना हो सकती है या नहीं, ऐसा पूछे जाने पर आचार्य कहते हैं-

जो पुरुष निश्चय नय का आलम्बन कर आत्मा को नहीं जानता है और पर को नहीं जानता है उसके न बोधि कही गई है, न सुसमाधि कही गई है और न आराधना ही कही गई है॥२१॥

टीका - 'अतति इति आत्मा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा है। आत्मा से भिन्न शरीरादिक पर द्रव्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपूर्व प्राप्ति होना बोधि है, बोधि का निर्विघ्नरूप से भावान्तर में प्राप्त होना समाधि है तथा आराधना का लक्षण पहले कहा जा चुका है। जो जीव निश्चयनय के अनुसार न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसे न बोधि की प्राप्ति होती है, न समाधि की प्राप्ति होती है, और न आराधना की ही प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा है-

आत्मपरावबोधरहितस्य बोधिः समाधिरारा‌धना न भवतीत्येवं बुद्ध्वा यथोक्तलक्षणनिजात्मद्रव्यपरद्रव्यस्वरूपं परिज्ञाय तत्र परद्रव्यं हेयमात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

एवमाराधकविराधकयोः स्वरूपं प्रकाश्येदानीं अरिह इत्यादिसप्तभिः स्थलैः कर्मरिपुं हंतुकामस्य क्षपकस्य वक्ष्यमाणसामग्रीं मेलयित्वा कर्माणि हंतु भवान् इति शिष्यं प्रयच्छन्नादौ तेषां सप्तस्थलानां गाथाद्वये नामानि प्रकटयन्नाह-

अरिहो संगच्चाओ कसायसल्लेहणा य कायव्वा।
परिसहचमूण विजओ उवसग्गाणं तहा सहणं ॥२२॥
इंदियमल्लाण जओ मणगयपसरस्स तह य संजमणं।
काऊण हणउ खवओ चिरभवबद्धाइ कम्माइं ॥२३॥

भेदविज्ञानतः- आज तक जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो आज तक बन्धन में बद्ध हैं वे उसी भेदविज्ञान के अभाव से बद्ध हैं।

निश्चय नय से ज्ञान दर्शन स्वभाव युक्त जीव को ही आत्मा कहा गया है। तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप जो द्रव्य आत्मा के साथ लग रहा है वह पर द्रव्य है। इस तरह निज और पर को जानने से ही बोधि आदि की प्राप्ति होती है। गाथा की उत्थानिका में शिष्य ने प्रश्न किया था कि जो आत्मा और पर को नहीं जानता उसके आराधना होती है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि ऐसे जीव के आराधना तो होती ही नहीं है किन्तु उसकी पूर्ववर्तिनी समाधि और समाधि की पूर्ववर्तिनी बोधि भी नहीं होती।

आत्मा और पर के ज्ञान से रहित जीव के बोधि, समाधि तथा आराधना नहीं होती है, ऐसा समझकर यथोक्त लक्षण वाले निजात्म द्रव्य और शरीर आदि पर-द्रव्य के स्वरूप को जानकर निजशुद्धात्मा को उपादेय और परद्रव्य को हेय समझना चाहिए ॥२१॥

इस प्रकार आराधक और विराधक के स्वरूप का कथन करके इस समय 'अरिहो' इत्यादि सात गाथाओं के द्वारा कर्म-शत्रुओं का संहार करने के इच्छुक क्षपक को आगे कही जाने वाली सामग्री को प्राप्त कर 'आप कर्मों का नाश करो' इस प्रकार शिष्य को सम्बोधित करके आचार्यदेव सामग्री के नामों का उल्लेख करते हैं-

"अर्ह (योग्य), परिग्रह का त्यागी, कषायों को कृश करने वाला, परिषह रूपी सेना को जीतने वाला, उपसर्गों को सहन करने वाला, इन्द्रिय रूपी मल्लों पर विजय प्राप्त करने वाला और मनरूपी हाथी के प्रसार को रोकने वाला, क्षपक चिरकाल के बँधे हुए कर्मों का क्षय करता है ॥२२-२३॥

अर्हः संगत्यागं कषायसल्लेखनां च कर्तव्यां।
परिषहचमूनां विजयमुपसर्गाणां तथा सहनम् ॥२२॥

इन्द्रियमल्लानां जयं मनोगतप्रसरस्य तथा च संयमनम्।
कृत्वा हंतु क्षपकः चिरभवबद्धानि कर्माणि ॥२३॥ युग्मम्।

हणउ हंतु निराकरोतु। **कोसौ**। खवओ क्षपकः कर्मक्षपणशीलः। किंविशिष्टः। **अरिहो** अर्हः संन्यासयोग्यः। कानि। कम्माइं कर्माणि ज्ञानावरणादिलक्षणानि। किंविशिष्टानि। चिरभवबद्धानि पूर्वोपार्जितानि। किमारभ्य। काऊण कृत्वा **संगच्चाओ** संगत्यागं। इहार्षेयत्वात्कर्मस्थाने प्रथमायां न दोषः। बाह्याभ्यंतरपरिग्रहलक्षणः संगस्तस्य त्यागः परित्यजनं तं। न केवलं संगत्यागं। कृत्वा **कसायसल्लेहणा** य कषायसल्लेखनां च कषायाः क्रोधमानमायालोभक्षणास्तेषां सल्लेखना संन्यासः सर्वथा परिहारः तां कषायसल्लेखनां। किंविशिष्टां। **कायव्वा** कर्तव्यां मुमुक्षुभिरवश्यमेव करणीयां तदकरणे साध्यसिद्धेरभावात्। न केवलं कर्तव्यां कषायसल्लेखनां च। कृत्वा। **विजओ** विजयमभिभवं। कासां। **परिसहचमूण** परीषहचमूनां बुभुक्षादि-द्वाविंशतिपरीषहसेनानां। न केवलं परीषहचमूनां विजयं। कृत्वा **सहणं** सहनं मर्षणं क्षमणामिति यावत्। केषां। **उवसग्गाणं** उपसर्गाणां सचेतनाचेतनेभ्यः समुत्पन्नोपप्लवानां। कथं। **तहा** तथा। न केवलं उपसर्गाणां सहनं **जओ** जयं विजयलक्षणं। केषां। **इंदियमल्लाण** इंद्रियमल्लानां स्पर्शनादिलक्षणानि

कर्मों का क्षय करने में जो तत्पर है, उसे क्षपक कहते हैं।

जो क्षपक बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करता है, कषाय-सल्लेखना (आत्मपरिणामों की घातक क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय का त्याग करता है) अर्थात् आराधना के इच्छुक क्षपक को कषायों को कृश अवश्य करना चाहिए। क्योंकि कषायों को कृश किये बिना साध्य (समाधि) की सिद्धि नहीं हो सकती।

क्षपक को भूख, प्यास आदि बावीस परीषह रूपी सेना को भी सहन करना चाहिए। निज शुद्धात्म भावना द्वारा परीषहों को जीतना चाहिए।

चेतन कृत और अचेतन कृत, दो प्रकार के जो उपसर्ग हैं उनको भी सम भाव के द्वारा सहन करना चाहिए।

स्पर्शनादि पंचेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना चाहिए। ये पंचेन्द्रियाँ महासुभट हैं, मानव को कुमार्ग में पटक देती हैं अतः इनके आधीन नहीं होना चाहिए। स्वेच्छा से विषय रूपी वन में भटकने वाले मनरूपी हाथी को अपने वश में करना चाहिए।

अर्ह, परिग्रह का त्यागी, कषायों का शमन करने वाला, परीषह को सहन करने वाला, चेतनकृत अचेतन कृत उपसर्ग आने पर भी स्वकीय स्वभाव से विचलित नहीं होने वाला, इन्द्रिय रूपी सुभटों को

पंचेंद्रियाणि तान्येव महासुभटास्तेषां। न केवलं इंद्रियमल्लानां जयं। **संजमणं** संयमनं संकोचनं। कस्य। **मणगयपसरस्स** मनोगजप्रसरस्य मनश्चित्तं तदेव गजो हस्ती तस्य प्रसरः स्वेच्छापरिभ्रमणं तस्य प्रथममहो भूत्वा संगत्यागं करोति तदनु कषायसल्लेखनां करोति पुनः परीषहसेनां जयति तथा उपसर्गान् सहते इन्द्रियमल्लानां च जयं करोति मनोगजप्रसरं च निरोधयति। एवं सामग्रीं संमील्य क्षपकः कर्माणि क्षपयतु। इति सप्तमस्थलसमुदायसूचनायां गाथाद्वयं गतं ॥२२॥२३॥

इदानीमादावेव निर्दिष्टस्यार्हस्य लक्षणमाह अस्यैव ज्येष्ठत्वात्-

छंडियगिहवावारो विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो।
जीवियधणासमुक्को अरिहो सो होइ सण्णासे ॥२४॥

त्यक्तगृहव्यापारः विमुक्तपुत्रादिस्वजनसंबन्धः।
जीवितधनाशामुक्तः अर्हः स भवति सन्न्यासे ॥२४॥

होइ भवति। कोसौ। **अरिहो** अर्हः योग्यः। क्व। **सण्णासे** संन्यासे अयोग्यहानयोग्योपादानलक्षणसंन्यासः तस्मिन्। **सो** स किंविशिष्टो भवति। **छंडियगिहवावारो** त्यक्तगृहव्यापारः त्यक्तः अनंतसंसारकारणकारिव्यापारावारपारगसहजशुद्धचिच्चमत्काररसास्वादविशेषव्यापृतपरमात्मपदार्थविलक्षणा असिमसिकृषिपशुपाल्यवाणिज्यादयो गृहव्यापारा येनासौ।

जीतने वाला, स्वकीय मन रूपी हाथी को संयम की सांकल से बाँधने वाला क्षपक ही संन्यास धारण (समाधि-मरण) करने योग्य होता है। इस प्रकार का क्षपक ही अनादि काल से आत्मा के साथ एक-क्षेत्रावगाही होने वाले ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश कर सकता है। इस प्रकार सप्त स्थल सूचक दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥२२-२३॥

अब सर्वप्रथम निर्दिष्ट (कथित) 'अर्ह' का लक्षण कहते हैं, क्योंकि अर्ह ही सर्व में श्रेष्ठ है। अर्थात् संन्यास ग्रहण करने के योग्य पुरुष को अर्ह कहते हैं, उसका कथन करते हैं।

"जिसने गृह सम्बन्धी व्यापार छोड़ दिया है, पुत्र-पौत्रादिक के सम्बन्ध से जो विमुक्त है और जीवित (जीवन) एवं धन की आशा से रहित है, ऐसा क्षपक ही संन्यास ग्रहण करने के योग्य होता है॥२४॥

अयोग्य का त्याग करना और योग्य को ग्रहण करना संन्यास कहलाता है।

अनन्त संसार के कारणभूत व्यापार से रहित सहज शुद्ध चित्- चमत्कार के रसास्वादन से युक्त परमात्म पदार्थ से विलक्षण असि (तलवार का काम अर्थात् युद्ध करना), मसि (लेखन का काम करना), कृषि (खेती करना, पशुपालन), वाणिज्य (व्यापार) आदि जो गृहस्थ की आजीविका के साधन हैं उनको गृहव्यापार कहते हैं। इस गृहव्यापार को छोड़ने वाला मानव ही संन्यास के योग्य होता है।

पुनः कथंभूतः। **विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो** विमुक्तपुत्रादिस्वजनसंबंधः **जीवियधणासमुक्को** जीवितधनाशामुक्तः स्वकीये काये ममत्वपरिणामवशादिदं मदीयमनेन सार्धं मम विघटनं माभूदित्यभिलाषो जीविताशा इत्युच्यते। निजनिरंजनशुद्धबुद्धैकस्वभावस्वसंवेदनज्ञानैकधनविलक्षण-धनधान्यसुवर्णादिपरिग्रहग्रहाभिलाषो धनाशा इत्युच्यते इत्युक्तलक्षणाभ्यां जीवितधनाशाभ्यां मुक्तः परित्यक्तः। आदौ गृहव्यापारान् परित्यज्य पुत्रादिस्वजनसंबंधं मुंचति तदनु जीवितधनाशाद्वयं निरस्य संन्यासार्हो भवतीत्यर्थः ॥२४॥

एवमर्हत्स्वरूपं निरूप्य बाल्ययौवनवार्धक्यावस्थात्रये कस्यामवस्थायामुत्तमस्थानस्यार्हः संपद्यते इति पृच्छंतं प्रति गाथाचतुष्कमाह-

जरवग्घिणी ण चंपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइं।
बुद्धी जाम ण णासइ आउजलं जाम ण परिगलई ॥२५॥

आहारासणणिद्दाविजओ जावत्थि अप्पणो णूणं।
अप्पाणमप्पणोण य तरइ य णिज्जावओ जाम ॥२६॥

जाम ण सिढिलायंति य अंगोवंगाइ संधिबंधाइं।
जाम ण देहो कंपइ मिच्चुस्स भएण भीउव्व ॥२७॥

पुत्र-पौत्रादि स्वजन, पुरजन, परिजन की ममता संन्यास में बाधक होती है अतः स्वजनादि के ममत्व का त्याग करने वाला संन्यास के योग्य होता है।

"यह शरीर मेरा है, इसने आज तक मेरा साथ निभाया है, इसका विघटन (नाश) नहीं होवे" ऐसा विचार जीवित-आशा है।

निज निरंजन शुद्ध बुद्ध एक (अद्वितीय) स्वभाव रूप स्वसंवेदन ज्ञान रूपी धन से विलक्षण धन (गाय, भैंस आदि), धान्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अभिलाषा को धन-आशा कहते हैं।

इन दोनों प्रकार की अभिलाषाओं से जो रहित है, जिसके हृदय में जीवित-आशा और धन-आशा नहीं हैं, वही क्षपक संन्यास के योग्य होता है ॥२४॥

सर्वप्रथम जो घर के व्यापार को छोड़कर पुत्र-पौत्रादि के सम्बन्ध को छोड़ता है, तत्पश्चात् जीवित आशा और धनाशा को छोड़कर संन्यास के योग्य होता है। इस प्रकार संन्यास के योग्य मानव का कथन करके "बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओं में से कौनसी अवस्था में संन्यास ग्रहण करना उत्तम है?" ऐसा पूछने पर आचार्यदेव चार गाथाओं में उत्तर देते हैं-

" जब तक जरा रूपी व्याघ्री आक्रमण नहीं करती है, इन्द्रियाँ शिथिल नहीं हुई हैं, जब तक बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, जब तक आयु रूपी जल गलित नहीं हुआ है, जब तक यह अपने आहार, आसन और निद्राका विजयी है, जिसके आत्मा को तारनेवाले निर्यापकाचार्य का संयोग

जा उज्जमो ण विगलइ संजमतवणाणझाणजोएसु।
तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई ॥२८॥ कलावयं।

जराव्याघ्री न चंपते यावन्न विकलानि भवंति अक्षाणि।
बुद्धिर्यावन्न नश्यति आयुर्जलं यावन्न परिगलति ॥२५॥

आहारासननिद्राविजयो यावदस्ति आत्मनो नूनम्।
आत्मानमात्मना च तरति च निर्यापको यावत् ॥२६॥

यावत् न शिथिलायंते अंगोपांगानि संधिबंधाश्च।
यावन्न देहः कंपते मृत्योर्भयेन भीत इव ॥२७॥

यावदुद्यमो न विगलति संयमतपोज्ञानध्यानयोगेषु।
तावदर्हः स पुरुष उत्तमस्थानस्य संभवति ॥२८॥ कलापकं।

संहवइ संभवति संपद्यते। कोसौ। स पूर्वोक्तलक्षणः **पुरिसो** पुरुषः। कथंभूतः। **अरिहो** अर्हः। कस्य। उत्तमस्थानस्य बाह्याभ्यंतरसंगसंन्यासलक्षणविशेषस्य। कथं **ता** तावत्। तावदिति कियत्कालं। **जाव** यावत् यावत्काले **ण चंपेइ** न चंपते नाक्रमति। कासौ। **जरवग्घिणी** यौवनद्विपदर्पदलनत्वात् जराव्याघ्री। न केवलं जराव्याघ्री यावन्नाक्रामति। **जाम ण हुंति** यावत् च न भवंति कानि। **अक्खाइं** अक्षाणि स्पर्शरसगंधवर्णशब्दग्रहणदक्षाणि इंद्रियाणि। किंविशिष्टानि यावच्च न भवंति। **वियलाइं** विकलानि स्वकीयस्वकीयविषयसौष्ठवास्पष्टकारीणि। न केवलं विकलानींद्रियाणि यावन्न भवंति **जाम** यावच्च **ण**

है, जब तक अंगोपांग और शरीर की सन्धियाँ शिथिल नहीं हुई हैं, जिसका शरीर मृत्यु के भय से कम्पित नहीं हो रहा है जब तक संयम, तप, ज्ञान, ध्यान योग में उद्यम नष्ट नहीं हुआ है। ऐसा पुरुष ही उत्तम स्थान (संन्यास) के योग्य होता है अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहत्याग लक्षण वाला ही संन्यास धारण करने योग्य होता है॥२५-२६-२७-२८॥

यौवन रूपी हाथी के मद का मर्दन करने वाली होने से जरा (बुढ़ापा) को व्याघ्री कहा है। जब तक बुढ़ापे ने आक्रमण नहीं किया है, जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हुई हैं- अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द रूप अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ हैं, जब तक बुद्धि नष्ट नहीं हुई है अर्थात् अवस्था विशेष से इन्द्रियों और मन के विकल हो जाने से हेयोपादेय पदार्थ के परिज्ञान से शून्य हो अपने स्वरूप को छोड़कर विपर्यय रूप को ग्रहण करती है वा विपरीत अर्थ को ग्रहण कर अदृश्य हो जाती है, वह बुद्धि का विनाश कहलाता है। अर्थात् जब तक बुद्धि विकल नहीं हुई है, स्मृति नष्ट नहीं हुई है, हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य नहीं हुई है, जब तक आयु रूपी जल (स्वकीय आयुनिषेक फल देकर) नष्ट नहीं हुआ है, अर्थात् आयु रूपी जल समाप्त नहीं हुआ है।

णासइ न नश्यति। कासौ। बुद्धिः नश्यतीति कोर्थः। अवस्थाविशेषेण सा इंद्रियमनोविकलतया हेयोपादेयपदार्थपरिज्ञानशून्यत्वेनात्मीयं स्वरूपं मुक्त्वा विपर्यस्तरूपमादाय अदृश्या भवति। न केवलं यावद्बुद्धिर्न नश्यति। **जाम** यावच्च **ण परिगलइ** न परिगलति। किं तत्। **आउजलं** आयुर्जलं निजोपार्जितकर्मबंधसामर्थ्येन संवत्सरायनर्तुमासपक्ष-दिवसघटिकादिविशेषैर्यावत्परिमाणं भवस्थित्या एकस्मिन् देहे प्राणधारण-लक्षणमायुरिति आयुरूप जलं आयुर्जलं। जलत्वेनायुर्निर्देशस्य किं प्रयोजनं। यथा सच्छिद्रकरांजलौ प्रक्षिप्तं जलं समयादिसहकारित्वेन सकलं परिगलति तथा आयुरपि समयघटिकादिवत् पक्षमासादिभिः कृत्वा समस्तं परिगलति। इत्यत्र तात्पर्यं। न केवलं आयुर्जलं यावन्न परिगलति। **जावत्थि** यावदस्ति च। कोसौ। **आहारासणणिद्दाविजओ** आहारासननिद्रा-विजयः आहारश्च आसनं च निद्रा च आहारासननिद्रास्तासामाहारासन-निद्राणां विजयः आहारासननिद्राविजयः। आहारासननिद्राणां किं लक्षणं इति चेत्। निर्विकारपरमाह्लादकारिसहजस्वभावसमुद्भवसर्वकालसंतर्पण- हेतुभूतस्वसंवेदनज्ञानानंदामृत-रसप्राग्भारनिर्भरपरमाहारविलक्षणो निजोपार्जितासद्वेदनीयकर्मोदयेन तीव्रबुभुक्षावशाद्व्यवहारनयाधीनेनात्मना यदशनपानादिकमाद्रियते तदाहारः। निश्चयेनात्मनः अनन्येवस्थानं यत् तदासनमित्युच्यते। लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनांगत्वेन यमनियमाद्यष्टांगेषु मध्ये शरीरालस्यग्लानिहानाय नानाविधतपश्चरणभारनिर्वाहक्षमं भवितुं तत्पाटवोत्पादनाय यन्निर्दिष्टं पर्यंकार्धपर्यंकवीरवज्रस्वस्तिकपद्मकादिलक्षणमासनमित्युच्यते। एतेषां प्रत्येकं लक्षणमाह-

---

निज उपार्जित कर्मबन्ध के सामर्थ्य से संवत्सर[1] अयन[2] ऋतु[3] मास[4] पक्ष[5] दिवस[6] और घटिका[7] आदि विशेषों के द्वारा भवस्थिति से एक देह में प्राण धारण करना एक शरीर में रहना आयु है।

आयु को जल क्यों कहा है? जिस प्रकार छिद्र सहित हाथ में रखा हुआ जल समय (काल) की सहायता से नष्ट हो जाता है, नीचे गिर जाता है उसी प्रकार आयु भी समय, घटिका, मासादि के द्वारा प्रतिक्षण नष्ट होकर पूर्ण नष्ट हो जाती है। अतः जब तक आयु पूर्णतया नष्ट नहीं हुई है, तब तक इस मानव में आहार, आसन और निद्रा पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य है।

शुद्ध निश्चय नय से निर्विकार परम आह्लाद (आनन्द) कारी सहज स्वभाव से समुद्भूत, सर्व काल में संतृप्ति के कारणभूत स्वसंवेदन ज्ञान के आनन्द रूपी अमृत रस का आस्वादन है, वही परम निर्भर आहार है क्योंकि वही आत्मा को पुष्ट करने वाला है।

शुद्धात्मा के आस्वादन रूप आहार से विलक्षण, व्यवहार नय से स्वकीय भावों से उपार्जित असाता वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न तीव्र भूख-प्यास के कारण उसके आधीन होकर आत्माके द्वारा जो अन्न-पानी आदि ग्रहण किये जाते हैं, उसको आहार कहते हैं।

निश्चय नय से आत्मा का अपने स्वभाव में स्थिर होना ही आसन है परन्तु जब स्वकीय स्वभाव में स्थिर रहने में समर्थ नहीं होता है, तब लोकव्यवहार में स्वकीय स्वभाव में स्थिर होने के निमित्तभूत यम, नियम आदि आठ अंगों के मध्य में शरीर की ग्लानि (थकावट) और आलस्य को दूर करने के लिए, नाना प्रकार के तपश्चरण के भार को वहन करने में समर्थ करने के लिए तथा स्वमें स्थिरता लाने की पाटव (चतुरता) उत्पन्न करने के लिए, शास्त्र में निर्दिष्ट (कथित) पर्यंकासन, अर्ध पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन आदि अनेक प्रकार के आसन कहे हैं।

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः॥

अयमेवैकं जंघाया अधोभागे पादोपरि कृतेऽर्धपर्यंकः।

वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणः।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतं॥

पृष्ठे यत्राकृतीभूतदोर्भ्यां वीरासने सति।
गृह्णीयात् पादयोर्यत्रांगुष्ठौ वज्रासनं हि तत्॥

जंघाया मध्यभागेषु संश्लेषो यत्र जंघया।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः॥

इत्यादि। निद्रालक्षणं किं। सर्वदोन्निद्रकेवलज्ञानदर्शननेत्रपरमात्मपदार्थविलक्षणनिद्रादर्शनावरणकर्मोदयेन स्वापलक्षणा निद्रा। यावदाहारस्य विजयः, आसनस्य विजयः, निद्राया विजयः। आहारादीनां विजय इति। कोर्थः इति चेत्। यथा यौवनावस्थायां पुमान् अनशनावमौदर्यादिभिस्तीव्रतपोविशेषैराहारजयं तथा आसनविजयं निद्राविजयं करोति तथा वृद्धावस्थायां कर्तुं न शक्नोति इति तात्पर्यं। कुतः आहारासननिद्रादोनां विजयोस्ति। **अप्पणो** आत्मनः आत्मनः सकाशात्। कथं। **णूणं** नूनं निश्चयेन। न

दोनों जघाओं के अधोभाग में दोनों पैरों को ऊपर करके नाभिके समीप बायें हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखना यह **पर्यंक आसन** कहलाता है। इसी प्रकार एक जंघा के अधोभाग में एक पैर को ऊपर रखना **अर्ध पर्यंक आसन** कहलाता है; जिसमें वाम (बायें) पैर के ऊपर दाहिना पैर और दाहिने पैर पर बाँया पैर रखा जाता है, उसको वीरों के लिए उचित **वीरासन** कहा जाता है। वीरासन से बैठकर दायें बायें हाथों को करके जो दोनों हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़े जाते हैं उसको **वज्रासन** कहते हैं। दोनों जंघाओं के मध्य भाग का स्पर्श करके जो दोनों पैर जंघा के ऊपर रखे जाते हैं और उसके ऊपर दोनों हाथ रखे जाते हैं उसको आसनों के जानने वाले महापुरुषों ने **पद्मासन** कहा है।

निद्रा का लक्षण- सदा काल के लिए खुल गये हैं केवलज्ञान और केवलदर्शन रूपी नेत्र जिनके ऐसे परमात्म-पदार्थ से विलक्षण निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से स्वाप (सोना) लक्षण निद्रा कहलाती है। अर्थात् जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं उसको निद्रा कहते हैं। आहारविजय, आसनविजय और निद्राविजय करने वाले को आहार-आसन-निद्रा विजयी कहते हैं।

मानव अनशन-अवमौदर्य आदि तप विशेष के द्वारा युवावस्था में जैसा आहार विजयी होता है, आसनविजयी और निद्राविजयी होता है, वैसा आहारविजयी, निद्राविजयी, आसनविजयी वृद्धावस्था में नहीं हो सकता; अतः आहार, आसन और निद्रा विजयी मानव संन्यास के योग्य होता है।

केवलं आहारासननिद्राणां विजयोस्ति। **जाम ण तरइ य** यावन्न तरति च। कोसौ। **णिज्जावओ** निर्यापकः शास्त्रोक्तलक्षणः। केन। **अप्पणेण य** आत्मनैव। कं। **अप्पाणं** आत्मानं आचारशास्त्रोक्ताष्टचत्वारिंशन्निर्यापकाननपेक्ष्य आत्मनैव निर्यापको भूत्वा आत्मानं तरति यावत्। न केवलमात्मनैव निर्यापकौ भूत्वा आत्मानं यावत्तरति। **जाम ण सिढिलायंति य** यावन्न शिथिलायंते यावत्कालं शिथिल इव नाचरंति। कानि। अंगोपांगानि। अंगानि शिरोभुजादिलक्षणानि। एतेभ्यः अवशेषाणि उपांगानि। उक्तं च-

चरणयुगं बाहुयुगं पृष्ठकटी मस्तकादि वक्षश्च।
एतान्यंगान्यष्टौ देहे शेषाण्युपांगानि। इति।

न केवलं अंगोपांगानि शिथिलायंते **संधिबंधाइं** संधिबंधाश्च शरीरेऽस्थ्नां संधयः संधानानि तेषां बंधः शिरास्नायुजालेन परस्परजड़ीकरणानि। न केवलमंगोपांगसंधिबंधाः शिथिलायंते। **जाम ण कंपइ** यावच्च न कंपते। कोसौ। **देहो** देहः शरीरं। कस्मात्। **भयेण** भयात्। कस्य। **मिच्चुस्स** मृत्योः। देहात् प्राणसमुदायविघटनसामर्थ्ययुक्तनिजार्जितायुः कर्म-भवस्थितिपरिसमापक समयलक्षणकालस्य। क इव।

संन्यास की विधि में शास्त्रोक्त लक्षण से युक्त अड़तालीस सहायक मुनियों के साथ स्व और पर के तारक निर्यापक आचार्य का होना भी परम आवश्यक है। क्योंकि केवल आत्मा ही निर्यापकाचार्य होकर आत्माको तार नहीं सकता अतः शास्त्रविधि को जानने वाले निर्यापकाचार्य का सान्निध्य भी समाधि के लिए आवश्यक है।

जब तक अंग, उपांग, हड्डियों के सन्धि-बन्धन शिथिल नहीं हुए हैं, तब तक यह शरीर संन्यास के योग्य है। सिर, भुजा आदि अंग कहलाते हैं और कान, नाक, आँख, अंगुली आदि उपांग कहलाते हैं। सो ही कहा है-

"दो चरण, दो हाथ, पीठ, मस्तक, कटि (कमर) और वक्षस्थल ये आठ अंग हैं और शरीर के शेष अवयव उपांग हैं। ये अंग-उपांग शिथिल नहीं हुए हैं तब तक ही मानव संन्यास के योग्य होता है।

शरीर में जो हड्डियों का जोड़ है उसको संधि-संधान कहते हैं। उन संधियों के संधान का शिरा, स्नायु, जाल आदि के द्वारा परस्पर संघटन होता है, मजबूती आती है, उसको संधिबंधन कहते हैं। हे क्षपक! जब तक संधिबंधन ढीले नहीं पड़े हैं, शिथिल नहीं हुए हैं तब तक तू संन्यास के योग्य है।

प्राण समुदाय (पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय रूप तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण हैं- इन प्राणों के समुदाय) का विघटन करने में (नाश करने में) समर्थ, निज भावों से उपार्जित आयु कर्म से उत्पन्न भवस्थिति के परिपाक (नाश) का समय मृत्यु कहलाती है, अर्थात् आयु की समाप्ति हो जाने से प्राणों का विघटन हो जाना ही मृत्यु है। जैसे अति क्रूर सिंह, व्याघ्र आदि को देखकर प्राणी भय से काँपने

भीउच्च भीत इव त्रासयुक्त इव। यथा कश्चन अतिरौद्ररूपसिंहव्याघ्रताडनमारणादिकारणेभ्यो भीतः कंपते तथायं देहो मरणभयात्कंपते, वृद्धावस्थायां हि शरीरे स्वयं कंपः संजायते। यावदीदृगवस्थाकारिणी वृद्धावस्था न समायाति तावद्यौवनमध्यावस्थायां सत्यां स संन्यासार्हो भवतु इत्यग्रे वक्ष्यतीति तात्पर्यं। न केवलं देहो मृत्योर्भयात् कंपते। **जाम ण वियलइ** यावन्न विगलति। कोसौ। उज्जमो उद्यमः कार्यारंभाय समुत्साहलक्षणः। केषु। **संजमतवणाणझाणजोएसु** संयमतपोज्ञानध्यानयोगेषु। तत्र संयमः इंद्रियप्राणादिसंयमनलक्षणः, तपः अनशनावमौदर्यादिलक्षणैर्बहुप्रकारः, ज्ञानं श्रुतज्ञानं, ध्यानं धर्मशुक्लरूपं, योगः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणः। संयमश्च तपश्च ज्ञानं च ध्यानं च योगश्च संयमतपोज्ञानध्यानयोगास्तेषु। वृद्धावस्थायां हि संयमादिविषये उद्यमः स समयं समयं विगलति एव। यथा यौवनावस्थायां समुत्साहस्तेषु समुदयति तथा न भवतीति। यावद्वृद्धावस्था न समायाति तावत्स पुरुषः उत्तमस्थानस्यार्हः संपद्यते इति तात्पर्यं। उक्तं च-

---

लगता है, उसी प्रकार कायर मानव का शरीर मृत्यु के भय से कम्पित हो जाता है। अथवा वृद्ध अवस्था आ जाने पर शरीर स्वभाव से ही काँपने लग जाता है। अतः जब तक शरीर और मन मजबूत है, कम्पायमान नहीं है और जब तक ऐसी अवस्था को करने वाली वृद्धावस्था नहीं प्राप्त हुई है, युवावस्था है तब तक ही यह मानव संन्यास के योग्य होता है, ऐसा आगे कहेंगे।

प्राणी संयम (छह काय के जीवों की रक्षा करना) और इन्द्रिय संयम (स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकना) के भेद से दो प्रकार का संयम है। अथवा कषायों का निग्रह, इन्द्रियों पर विजय, काय की कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिंसादि व्रतों का पालन करना संयम है। अनशन, अवमौदर्य आदि १२ प्रकार का तप है। श्रुत का अभ्यास ज्ञान कहलाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान को यहाँ ध्यान कहा है क्योंकि आर्त्त, रौद्र ध्यान संन्यास के विघातक हैं। अतः उनका यहाँ ग्रहण नहीं है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग कहलाते हैं।

विशेषार्थ- हे क्षपक ! भोग्य और उपभोग्य वस्तुओं का जो जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है, वह यम कहलाता है। अथवा अहिंसा, सत्य,अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। जिस प्रकार यम (मृत्युदेव) प्राणों का घात करता है उसी प्रकार अहिंसादि महाव्रत संसार के नाशक होने से यम कहलाते हैं।

अथवा मन वचन काय को स्थिर करना, चित्त को अपने में जोड़ना योग कहलाता है। जब तक संयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग के प्रारम्भ में उत्साह है, उद्यम है, इनमें प्रवृत्ति है तब तक यह मानव संन्यास के योग्य है। जैसा युवावस्था में संयमादि विषयों में उद्यम वा उत्साह रहता है वैसा उत्साह वृद्धावस्था में नहीं रहता है, क्योंकि वृद्धावस्था में समय-समय उत्साह नष्ट होता है। अतः जब तक वृद्धावस्था नहीं आती है तब तक यह पुरुष उत्तम स्थान के योग्य होता है। सो ही ज्ञानार्णव में कहा है-

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः'' ॥२५/२६/२७/२८॥

व्यवहाराईलक्षणं प्रपंच्य इदानीं निश्चयार्हलक्षणं कथयति-

सो सण्णासे उत्तो णिच्छयवाईहिं णिच्छयणएण।
ससहावे विण्णासो सवणस्स वियप्परहियस्स॥२९॥

स संन्यासे उक्तः निश्चयवादिभिर्निश्चयनयेन।
स्वस्वभावे विन्यासः श्रमणस्य विकल्परहितस्य॥२९॥

उत्तो उक्तः कथितः। कैः। **णिच्छयवाईहिं** निश्चयवादिभिः। केन कृत्वा। **णिच्छयणएण** निश्चयनयेन। **कोसौ**। अर्हः अत्रास्याध्याहारः अस्यैवाधिकारप्रतिपादनत्वात्। क्व। संन्यासे **समाधिलक्षणे**। कः। **सो**। स इति कः। यस्य **सवणस्स** श्रमणस्य आचार्यस्य अस्ति। कोसौ। **विण्णासो** विन्यासः विन्यसनं स्थापनमित्यर्थः। क्व विन्यासः। **ससहावे** स्वस्वभावे समस्तदेहादिविभावपरिणामविलक्षणसहजशुद्धचिदानंदसंदोहनिर्भरे स्वस्वरूपे। किं विशिष्टस्य श्रमणस्य। विकल्परहितस्य शरीर कलत्रपुत्रादिजनितसमस्तविकल्पवर्जितस्य विकल्परहितश्रमणस्य यस्य स्वस्वभावे विन्यासः स निश्चयनयेन निश्चयवादिभिः संन्यासार्ह उक्त इत्यन्वर्थः॥२९॥

जब तक यह शरीर स्वस्थ है (नीरोग है), जब तक वृद्धावस्था ने इसका स्पर्श नहीं किया है, जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ नहीं हुई हैं, जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तब तक विद्वानों को आत्मकल्याणकारी कार्यों में महान् प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि घर में अग्नि लग जाने पर कुआ खुदवाने से क्या प्रयोजन है॥२५-२८॥

इस प्रकार आचार्यदेव ने व्यवहार नय से संन्यास की योग्यता का कथन किया है। अब निश्चय नय से संन्यास की योग्यता का लक्षण कहते हैं-

विकल्परहित श्रमण का स्वकीय स्वभाव में स्थिर हो जाना ही निश्चय नय के द्वारा निश्चयवादियों ने संन्यास कहा है॥२९॥

निश्चय नय अभेद रूप कथन करता है अतः इसकी अपेक्षा आधार और आधेय एक ही होता है, भिन्न-भिन्न नहीं ।

पुत्र-पौत्रादि मेरे हैं- यह ममकार है और मैं इनका पिता, स्वामी आदि हूँ- यह अहंकार है; विकल्प जाल है। मन में अनेक प्रकार के द्वन्द्व उठते हैं, वे विकल्प कहलाते हैं। उन विकल्पजालों से रहित को निर्विकल्प वा अविकल्प कहते हैं। सारे विकल्पों से रहित निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त मुनिराज जब सारे देहादि विभाव परिणामों से विलक्षण (रहित) सहज शुद्ध चिदानन्दमय स्वकीय स्वभाव में स्थिर होते हैं, लीन होते हैं, स्व-स्वभाव में रमण करते हैं, तब निश्चय नय से निश्चयवादियों ने उस अवस्था को संन्यास का विन्यास वा संन्यास की योग्यता कहा है॥२९॥

इत्युक्तलक्षणार्हो भूत्वा पुमान् अन्यत् किं कृत्वा निरालंबमात्मानं भावयति इति पृष्टे खित्ता इत्याह-

खित्ताइबाहिराणं अब्भिंतरमिच्छपहुदिगंथाणं।
चाए काऊण पुणो भावह अप्पा णिरालंबो ॥३०॥

क्षेत्रादिबाह्यानामभ्यंतर मिथ्यात्वप्रभृतिग्रंथानाम्।
त्यागं कृत्वा पुनर्भावयतात्मानं निरालंबम् ॥३०॥

भावह भावयत आराधयत। कथं। पुनः। कं। **अप्पा** आत्मानं। किं विशिष्टं। **णिरालंबो** निरालंबं केवलस्वस्वरूपावलंबनत्वात्सकलपरद्रव्यचिंताजनितविकल्पपरित्यागेन निर्गतो विनष्टः पदस्थपिंडस्थरूपस्थरूपातीतादिरूपोप्यालंबो यस्मात् स निरालंबः तं निरालंबं। किं कृत्वा **चायं काऊण** त्यागं कृत्वा मुक्तस्य वस्तुनश्छर्दितवत्पुनरादानाभावलक्षणस्त्यागः तं। केषां। **खित्ताइबाहिराणं** क्षेत्रादिबाह्यानां क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभांडबाह्यपरिग्रहाणां। उक्तं च-

सयणासणघरछित्तं सुवण्णधणधण्णकुप्पभंडाइं।
दुपयचउप्पय जाणसु एदे दस बाहिरा गंथा ॥

ननु **खित्ताई बाहिराणमित्युक्ते ग्रंथशब्दः कुतो लभ्यते**। अग्रे प्रयुक्तत्वेनोपलक्षणत्वात्। न केवलं क्षेत्रादिबाह्यग्रंथानां त्यागं कृत्वा। **अब्भंतरमिच्छपहुदिगंथाणं** अभ्यंतरमिथ्यात्वप्रभृतिग्रंथानां **अभ्यंतरेऽशुद्धनिश्चयनयं** परित्यज्य शुद्धनिश्चयनयप्रवर्तित आत्मनि मिथ्यात्वप्रभृतिग्रंथा मिथ्यात्ववेद-रागहास्यादिषड्दोषचतुष्कषायलक्षणाश्चतुर्दश परिग्रहास्तेषां। उक्तं च-

मिच्छत्तवेयराया हासादीया य तह य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया अब्भंतर चउदसा गंथा ॥

बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं त्यक्त्वा निरालंबमात्मानमाराधय इति तात्पर्यम् ॥३०॥

इस प्रकार के लक्षण वाली 'अर्हा' (योग्यता) को प्राप्त करने वाला मानव अन्य किन-किन कारणों को प्राप्त करके निरवलम्ब आत्मा के ध्यान योग्य होता है, ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं –

संगत्याग प्रकरण : जिसने क्षेत्रादि बाह्य और मिथ्यात्वादि अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर दिया है, वही भव्यात्मा निरवलम्ब शुद्धात्मा का ध्यान करने के योग्य पात्र होता है ॥३०॥

केवल स्वरूप का अवलम्बन होने, पर-द्रव्य की चिंता के सभी विकल्पों का त्याग होने से और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप ध्यान का अवलम्ब नष्ट हो जाने से आत्मा में निरवलम्ब ध्यान होता है। क्षेत्र[१], वास्तु[२], हिरण्य[३], सुवर्ण[४], धन[५], धान्य[६], दासी[७], दास[८], कुप्य[९] और भाण्ड[१०]-ये दस बाह्य परिग्रह हैं। कहा भी है-शयन, आसन, घर, क्षेत्र, सुवर्ण, धन, धान्य, कुप्य, भाण्ड, द्विपद, चतुष्पद ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध,मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व ये १४ अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

इन चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करके हे क्षपक ! निरवलम्ब आत्मा का ध्यान करो। अथवा अभ्यन्तर में अशुद्ध निश्चय नय (रागादि भावों) का त्याग करके शुद्ध निश्चय नय रूप आत्मा का ध्यान करना ही परिग्रह का त्याग कहलाता है ॥३०॥

---

१. जिसमें खेती की जाती है, उसे क्षेत्र कहते हैं। २. घर को वास्तु कहते हैं। ३. चांदी को हिरण्य कहते हैं।

नन्वेतेन ग्रंथपरित्यागेनात्मनः किं फलं भवतीति वदंतं प्रत्याह-

संगच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ॥३१॥

संगत्यागेन स्फुटं जीवः परिणमति उपशमं परमम्।
उपशमगतस्तु जीव आत्मस्वरूपे स्थिरो भवति॥३१॥

परिणमइ परिणमति प्राप्नोति। कोसौ। **जीवो** जीवः आत्मा। कं। **उवसमो** उपशमं रागादि-परिहारलक्षणं। कथंभूतं। **परमो** परमं उत्कृष्टकोटिप्राप्तं। केन कारणेन। **संगच्चाएण** संगत्यागेन बाह्याभ्यंतरसंगपरित्यागेन **फुडं** स्फुटं निश्चितं। ननु उपशमं प्राप्त आत्मा कथंभूतो भवतीति प्रश्नोत्तरमाह। **हवइ** भवति। कोसौ। जीवः। कथंभूतस्तु। **उवसमगओ** हु उपशमगतस्तु उपशमगतोयं जीवः। **कथंभूतो** भवति। थिरो स्थिरः प्रचालयितुमशक्यः। कथं। अप्पसरूवे स्वकीये परमात्मस्वरूपे यत उपशमगतोयमात्मस्वरूपे स्थिरीभवति। उपशमस्तु संगत्यागेन जन्यते तत उपशमहेतुभूतं संगत्यागं विधाय परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यार्थः॥३१॥

इस बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से आत्मा को क्या फल मिलता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

हे क्षपक! परिग्रह का त्याग करने पर ही यह जीव परम उपशम भाव को प्राप्त होता है और उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होता है॥३१॥

रागादि विकार भावों का त्याग करना उपशम भाव है- उत्कृष्ट प्रशम भाव को परम उपशम भाव कहते हैं। बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने पर ही उपशम भावों को प्राप्त होता है और उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव ही अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने में समर्थ होता है। परिग्रह के त्याग से उपशम उत्पन्न होता है। अतः उपशम भाव के विघात में कारणभूत परिग्रह का त्याग करके परमात्मस्वरूप स्व आत्मा की आराधना करनी चाहिए॥३१॥

---

४. सोने को सुवर्ण कहते हैं। गाय-भैंस आदि चतुष्पद को धन कहते हैं।
५. गेहूं, चावल, मूंग आदि को धान्य कहते है।
६. स्त्री जाति मानवी को रखकर काम कराया जाता है, वह दासी कहलाती है
७. काम करने वाले पुरुष दास कहलाते हैं।
८. वस्त्र आदि कुप्य हैं।
९. बर्तन को भाण्ड कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कुप्य शब्द से भाण्ड आदि सबको ग्रहण किया है।
१०. जैसे वमन की हुई वस्तु के ग्रहण करने का भाव नहीं होता उसी प्रकार छोड़ी हुई वस्तु के ग्रहण करने का भाव नहीं होना ही त्याग है।

ननु ग्रंथवानप्यात्माराधको घटते चित्तनिर्मलीकरणत्वात् किं ग्रंथपरित्यागविकल्पेनेत्याशंक्याह-

जाम ण गंथं छंडइ ताम ण चित्तस्स मलिणिमा मुचइ।
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ॥३२॥

यावन्न ग्रंथं त्यजति तावन्न चित्तस्य मलिनिमानं मुंचति।
द्विविधपरिग्रहत्यागे निर्मलचित्तो भवति क्षपकः॥३२॥

ण छंडइ न त्यजति। कोसौ। स पूर्वोक्त आराधकः। कथं। **जाव** यावत् यावत्कालं। कं। **गंथं**। ग्रंथं परिग्रहं **ताम ण मुचइ** तावत्कालं न मुंचति। कं। **मलिणिमा** मलिनिमानं मलिनत्वं। कस्य। **चित्तस्स** चित्तस्य यावत्कालपरिमाणं ग्रंथं न त्यजति तावत्कालं चित्तमलिनतां न मुंचति इत्यर्थः। द्विविधपरिग्रहत्यागी कथंभूतो भवतीत्याह। **हवइ** भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपकः कर्मक्षपणशीलः। कथंभूतो भवति। **णिम्मलचित्तो** निर्मलचित्तः रागद्वेषादिजनितसकलकालुष्यरहितचेताः। किं कृते सति। दुविहपरिग्गहचाए द्विविधपरिग्रहत्यागे बाह्याभ्यंतरभेदाद् द्विविधपरिग्रहत्यागे कृते सति यः कश्चिदात्मानमाराधयितुकामः स पूर्वं चित्तशुद्धयै चित्तकालुष्यहेतून् परिग्रहान् ममैते तेभ्यः समाधानं जायते इतीमां शंकामपि विहाय परमात्मानं भावयेति तात्पर्यम्॥३२॥

परिणामों की निर्मलता होने से परिग्रहवान भी आत्मा का ध्यान कर सकता है, क्योंकि बाह्य परिग्रह का संयोग निमित्त मात्र है अतः इस परिग्रह के त्याग के विकल्प से क्या प्रयोजन है? ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य उत्तर देते हैं -

''जब तक ग्रन्थ (परिग्रह) को नहीं छोड़ता है तब तक चित्त की (मानसिक) मलिनता नहीं छूटती है, नष्ट नहीं होती है। क्योंकि परिग्रह का त्याग करने पर ही क्षपक निर्मलचित्त वाला होता है॥३२॥

जब तक क्षपक बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नहीं करता है, 'ये बाह्य पदार्थ मेरे हैं' इस प्रकार की भावना को नहीं छोड़ता है, तब तक चित्त रागद्वेषजनित सकल कालुष्य भाव रूप मलिनता का परित्याग नहीं करता है अर्थात् मन को मलिन करने वाले परिग्रह का त्याग किये बिना चित्त रागद्वेष रहित नहीं होता- जैसे तन्दुल का बाह्य छिलका निकाले बिना अभ्यन्तर की लालिमा नष्ट नहीं होती। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने पर क्षपक राग-द्वेष आदि सकल कालुष्य भाव रहित निर्मल चित्तवाला होता है। इसलिए जो कोई भव्यात्मा, आत्माराधना का इच्छुक है, उसे पूर्व में चित्तकी कलुषता के हेतुभूत बाह्य परिग्रह का त्याग करके शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए, परमात्मा का ध्यान करना चाहिए॥३२॥

ननु सामान्यनिर्ग्रंथलक्षणमवादि भवद्भिरिदानीं परमार्थनिर्ग्रंथस्वरूपं श्रोतुकामोऽहं भगवन् श्रावयेति वदंतं प्रत्याह-

देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो॥३३॥

देहो बाह्यग्रंथो अन्यो अक्षाणां विषयाभिलाषः।
तयोस्त्यागे क्षपकः परमार्थेन भवति निर्ग्रंथः॥३३॥

हवइ भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपकः। कथंभूतो भवति। **णिग्गंथो** निर्ग्रंथः।

एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः॥

इति श्लोकार्थाभिप्रायप्रवर्तनतया केवलं निजात्मद्रव्योपादानत्वात्सर्वसंगसंन्यासी। केन। **परमत्थे** परमार्थेन निश्चयेन। किं कृते सति। **चाए** त्यागे कृते सति। कयोः। **तेसिं** तयोः। तयोरिति तौ द्वौ प्रत्येकं कथयति। भवति। कोसौ। **बाहिरगंथो** बाह्यग्रंथः बाह्यपरिग्रहः। कः सः। देहः शरीरं भवति च। **कोसौ।** **अण्णो** अन्यः बाह्यादन्यत्वादन्यः अभ्यंतरग्रंथ इत्यर्थः। स कः। **विसयअहिलासो** विषयाभिलाषः विषयवांछा। केषां। **अक्खाण** अक्षाणां इंद्रियाणां परमार्थेन देह एव बाह्यग्रंथः सर्वैः प्रत्यक्षत्वात् परमार्थेनेंद्रियाणां विषयाभिलाष अभ्यन्तरग्रंथः अकायवाग्व्यापारे परेंद्रियैरप्रत्यक्षत्वात्

हे भगवन्! आपने सामान्य निर्ग्रन्थ के लक्षण का कथन किया। अब परमार्थ-निर्ग्रन्थ के स्वरूप को सुनने की इच्छा करने वाले मुझे परमार्थ-निर्ग्रन्थ का स्वरूप सुनाओ (समझाओ), ऐसा कहने वाले को आचार्य कहते हैं-

शरीर बाह्य परिग्रह है और इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा अभ्यन्तर परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाला क्षपक परमार्थ से निर्ग्रन्थ होता है॥३३॥

"ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला (ज्ञाता द्रष्टा), शाश्वत (नित्य निरंजन) एक मैं आत्मा हूँ। ज्ञान-दर्शन ही मेरा स्वरूप है। अन्य जितने भी भाव हैं वे पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं अतः मुझ से बाह्य हैं।" इस प्रकार विचार करके केवल निज आत्म द्रव्य को उपादान रूप से ग्रहण करता है- वही सर्व संग (सर्व परिग्रह) का त्यागी परमार्थ संन्यासी होता है।

वास्तव में, शरीर ही बाह्य परिग्रह है, क्योंकि क्षेत्र वास्तु आदि बाह्य परिग्रह के नहीं होने पर भी एकेन्द्रिय आदि जीव परिग्रहवान हैं। यह शरीर बाह्य इन्द्रिय-गोचर होने से सब के प्रत्यक्ष है अतः बाह्य है। स्पर्शन आदि पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषा है, पंचेन्द्रिय विषयों को ग्रहण करने की इच्छा है वह आभ्यन्तर परिग्रह है- क्योंकि वह अभिलाषा काय और वचन व्यापार से रहित है तथा दूसरों की इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है, दूसरों के द्वारा जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाला भव्यात्मा ही परमार्थ निर्ग्रन्थ होता है और वह परम निर्ग्रन्थ क्षपक ही स्वस्वरूप का आराधक

इत्युक्तलक्षणयोर्बाह्याभ्यंतरग्रंथयोस्त्यागे कृते सति परमार्थनिर्ग्रन्थो भवन् स्वस्वरूपाराधको भवतीत्यभिप्रायः ॥३३॥ एवं गाथाचतुष्टयेन संगत्यागो व्याख्यातः, अधुना क्रमायातायाः कषायसल्लेखनाया व्याख्यानं गाथाषट्केन कृत्वा आचार्यो निरूपयतीति समुदायपातनिका ॥३३॥

ननु कषायसल्लेखनाकारी क्षपको यः स कथंभूतो भवतीति वदंतं प्रत्याह-

इंदियमयं सरीरं णियणियविसएसु तेसु गमणिच्छा।
ताणुवरिं हयमोहो मंदकसाई हवइ खवओ ॥३४॥

इंद्रियमयं शरीरं निजनिजविषयेषु तेषु गमनेच्छम्।
तेषामुपरि हतमोहो मंदकषायो भवति क्षपकः ॥३४॥

हवइ भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपकः। किं भवति। **मंदकसाई** मंदकषायी। किं विशिष्टः। क्षपकः। **हतमोहो** हतमोहः हतो निराकृतो मोहो मूर्छा ममत्वपरिणामो येन स हतमोहः। क्व। **उवरिं** उपरि। केषां तेषां स्वस्वविषयाणां। तेषामुपरीति किं तदेवस्पष्टमाह। भवति तत् शरीरं। किं भवति। **गमणिच्छा** गमनेच्छं गमने इच्छा यस्य तत् गमनेच्छ जिगमिषु। क्व। **णियणियविसएसु** निजनिजविषयेषु स्वकीयस्वकीय स्पर्शरसगंधवर्णशब्दलक्षणेषु। विषयेषु इत्युक्ते शरीरादावतिन्याप्तिः तन्निरासार्थं **इंदियमयं**

होता है। अतः बाह्य में शरीर-धन-धान्य आदि का और अंतरंग में पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषाओं का त्याग करके हे क्षपक ! निज आत्मा की आराधना करो, निजात्मा का अनुभव करो, स्व-स्वरूप में रमण करने का प्रयत्न करो।

इस प्रकार समाधि की साधक 'अर्ह' 'संगत्याग' आदि सात कारणों में कथित **'संगत्याग'** का चार गाथाओं के द्वारा कथन किया। अब आचार्यदेव छह गाथाओं के द्वारा क्रम से प्राप्त **कषाय-सल्लेखना** का कथन करते हैं और उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं॥३३॥

कषाय-सल्लेखना करने वाला क्षपक कैसा होता है? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न करने पर आचार्यदेव कहते हैं-

यह शरीर इन्द्रियमय है, निज-निज विषयों में गमन (सेवन) करने की इच्छा (अभिलाषा) है। इन दोनों पर जो मोहरहित होता है, वह मन्दकषायी क्षपक कषाय-सल्लेखना वाला होता है॥३४॥

यह शरीर स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) रूप पाँच इन्द्रियों से निर्मित है, रचित है। इन्द्रियमय शरीर की जो पंचेन्द्रिय विषयभोग की अभिलाषा है, इच्छा है, यही संसार-परिभ्रमण का कारण है अर्थात् शरीर और पंचेन्द्रियों की अभिलाषा संसार का कारण है- कषाय-उत्पत्ति का हेतु है। जो क्षपक शरीर और इन्द्रियों की अभिलाषा का परित्याग करता है, शरीर और इन्द्रिय-विषयों के ममत्व परिणाम को, मूर्छा को छोड़ देता है वही मंद कषायी होता है।

स्पर्शनादिलक्षणैरिंद्रियैर्निर्वृत्तं इंद्रियकायं। तथा च मंदकषायी इत्यनेन संज्ञाशब्देन कल्पितः अन्यथा मंदाश्च ते कषायाश्चेति कर्मधारय-समासे कृते मत्यर्थीयसमासो न घटते "न कर्मधारयान्मत्वर्थीय" इति निषेधसूत्रदर्शनात्। तस्मात्कषायाणां तीव्रोदयाभावादनंतानुबंधिचतुष्टयस्य क्षयात् क्षयोपशमाद्वा मंदकषायत्वं संकेतितं। मंदकषायो अस्यास्तीति मंदकषायी। अथवा मंदाः कषाया यस्मिन् कर्मणि तत् मंदकषायं तदस्यास्तीति। य एव कषायान् मंदान् करोति स एव इंद्रियाणामुपरि हतमोहो भवति। एवं ज्ञात्वा कषायान् जित्वा शरीरेंद्रियविषयेषु हतमोहो भूत्वा परमात्मानमाराधयेत्यर्थः॥३४॥

ननु अजितकषायस्य बाह्ययोगेनैव शरीरस्यापि संन्यासं कुर्वाणस्य मुनेः या सल्लेखना सा किं विफला चेति वदंतं प्रत्याह-

सल्लेहणा सरीरे बाहिरजोएहि जा कया मुणिणा।
सयलावि सा णिरत्था जाम कसाए ण सल्लिहदि॥३५॥

सल्लेखना शरीरे बाह्ययोगैः या कृता मुनिना।
सकलापि सा निरर्था यावत्कषायान्न सल्लिखति॥३५॥

भवतीत्यध्याहार्यं व्याख्यायते। भवति। कासौ। **सा सल्लेहणा** सा सल्लेखना। किं भवति। **णिरत्था** निर्गतः सकलक्षयमोक्षलक्षणोर्थः प्रयोजनो यस्याः सा निरर्था निष्फला। कथंभूतापि। **सयलावि** सकलापि समस्तापि सेति का। या। का या। या कृता। केन। **मुणिणा** मुनिना महात्मना। कैः कारणभूतैः।

इस गाथा में जो मन्द कषायी शब्द है उसमें कर्मधारय समास नहीं होता है, अतः यहाँ पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों के क्षय और क्षयोपशम से होने वाले परिणाम को मन्दकषायी कहा है। जो मंदकषायी होता है वही भव्यात्मा शरीर और इन्द्रिय-विषयों के प्रति हतमोह होता है; इन्द्रिय-विषयों का त्याग कर सकता है। ऐसा जानकर कषायों को जीतकर और शरीर और इन्द्रिय विषयों में हतमोह होकर परमात्मा की आराधना करो। हे क्षपक ! शरीर का ममत्व और इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा कषाय-सल्लेखना की घातक हैं॥३४॥

जिन्होंने कषायों को नहीं जीता है अर्थात् जो कषायों के आधीन है, परन्तु इन्द्रिय-विषयों का परित्याग करके सल्लेखना करता है, तो क्या उसको कुछ भी फल नहीं मिलता, ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं-

जब तक कषायें स्खलित (मन्द) नहीं होती हैं तब तक मुनि के द्वारा बाह्य योग से की गई सारी शरीर-सल्लेखना विफल है, व्यर्थ है। ॥३५॥

इस गाथा में 'भवति' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

सम्पूर्ण कर्म-धर्म से उत्पन्न संसार-संताप के विनाश में कारणभूत, समता भाव में स्थित शुद्धपरमात्मा में संलीनता लक्षण मनोयोग है, उस मनोयोग से विलक्षण (मानसिक परिणति का आत्मस्वभाव में लीन होना) शीत, उष्ण वायु का सहना, सूर्य की तरफ मुख करके बैठना, अनेक प्रकार

बाहिरजोएहि बाह्ययोगैः अशेषकर्मधर्मजनितसंतापविनाशहेतुभूतसाम्यविराजमानशुद्धपरमात्मसंलीन-मनोयोगविलक्षणैः शीतातपवातोर्ध्वसंस्थानादेशदानादिकायवाग्व्यापारनिरोधलक्षणैर्बाह्ययोगैः। क्व। शरीरे। कियत्कालं निरर्था स्यादित्याह। **जाव ण सल्लिहइ** यावन्न सल्लिखति यावन्न परित्यजति। कान्। **कसाए** कषायान् कर्षंति विनाशयंति। चारित्रपरिणाममिति कषायास्तान् मुनिना बाह्ययोगेन सा सल्लेखना कृता अंतः कषायपरिणामसद्भावात् सकला विफला सा भवतीति मत्वा निष्कषायत्वं प्रपद्य परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यम्॥३५॥

ननु भगवन् कषायेषु का शक्तिः एते जगतः किं कुर्वन्तीति पृच्छंतं प्रत्याह-

अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहि तिहुअणं सयलं।
भमइ भमाडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे॥३६॥

अस्थि कषाया बलिनः सुदुर्जया यैस्त्रिभुवनं सकलम्।
भ्रमति भ्राम्यमानं चतुर्गतिभवसागरे भीमे॥३६॥

अत्थि संत्यर्थे वर्तते। के। **कसाया** कषायाः कथंभूताः। **बलिया** बलिनः अनादिकर्मबंधवशादनंतशक्तेरात्मनः स्ववशीकरणत्वात्, वीर्यवंत इत्यर्थः। पुनः कथंभूताः। सुदुर्जया चतुर्थगुणस्थानमारभ्योपशांतकषायगुणस्थानावधिवर्तमानावस्थारणभूमौ मुनिमल्लैश्चिरस्वेच्छा-

---

के शारीरिक कष्टों को सहन करना, दान-पूजा आदि करना ये बाह्य योग हैं। इन बाह्य योगों के द्वारा जो मुनि स्वकीय शरीर का शोषण करता है, पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग भी करता है, परन्तु आन्तरिक भावों से कषायों को कृश नहीं करता है, उसकी सल्लेखना सार्थक (सकल कर्मों का क्षय करने रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाली) नहीं होती। क्योंकि अंतरंग में चारित्र की घातक, आत्मशुद्धि की विनाशक कषायों का सद्भाव होने से शुद्धात्मा का अनुभव और परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती। इसलिए कषायों को कृश किये बिना बाह्य योग के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! निष्कषायत्व भाव को प्राप्त करके परमात्मा की आराधना करो॥३५॥

'हे भगवन् ! कषायों में कैसी शक्ति है और ये जगत् का क्या करती हैं?' इस प्रकार का प्रश्न करने वाले शिष्य को आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं-

हे शिष्य ! ये कषायें बहुत बलवान और दुर्जय हैं जिनके द्वारा भ्राम्यमान तीनों लोक भयंकर चार गति रूप संसार-सागर में भ्रमण कर रहे हैं॥३६॥

अनन्त शक्तियुक्त आत्मा को अनादि कर्मबंध के कारण अपने वश में करने वाली होने से कषायें बलवन्त हैं। अर्थात् अनन्त शक्ति वाला आत्मा अनादि काल से कषायों के वश हो रहा है।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशांत कषाय पर्यन्त गुणस्थान तक वर्तमान अवस्था रूप रणभूमि में मुनिराज रूपी महायोद्धा के द्वारा चिरकाल से स्वेच्छा से आचरण करने के अधीन होने से (अनादिकाल

चरणाधीनत्वान्निजविनाशशंकामगणयंतं प्रतिसमयं दृष्टश्रुतानुभूतपरपदार्थे प्रवर्तमानं परिणामं संकोच्य पुनःपुनः स्वस्वरूपस्थापनलक्षणेन दुःखेन जेतुं शक्या दुर्जयाः। तत्क्षणमनोविक्षेपकारित्वात् सुष्ठु अतिशयेन दुर्जयाः सुदुर्जयाः। नन्वादिमगुणस्थानत्रयं तत्र कषायसद्भावेपि किमर्थं परित्यक्तं श्रीमद्भिरितिचेत्। युक्तमुक्तं। परं तत्रादिमगुणस्थानत्रयेपि कषायान् जेतुमनलं त्रप्लवो जीवाः तद्दृढतराधारस्वरूपप्ररूपणनिपुणमिथ्यात्वैकातपत्रसाम्राज्यात् तत्पक्षक्षपणप्रतिपक्षतादक्षसम्यक्त्वदृढतरप्रौढेरभावाच्च। **जेहिं** यैः **कषायैः** **भमाडिज्जंतो** भ्राम्यमानं सन् **तिहुयणं** त्रिभुवनं विश्वं **सयलं** समस्तं **भमइ** भ्रमति पर्यटति। क्व। **चउगइ भवसागरे** चतुर्गतिभवसागरे देवनरतिर्यग्नरकगत्युपलक्षितसंसारसमुद्रे। कथंभूते। भीमे रौद्रे विविधकर्मग्राहजनितदुःखानुभवनत्वात् इति मत्वा क्षपकेण शुद्धपरमात्मानं सिषेविषुणा दुर्जयाः कषाया एव पूर्वं तिरस्करणीया इति तात्पर्यार्थः॥३६॥

से ये कषायें अपनी इच्छानुसार आचरण करने से) निज विनाश की शंका को नहीं गिनती (मानती) हुई प्रतिक्षण अनादि काल से दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पर-पदार्थों में प्रवर्तमान परिणामों को संकुचित (रोक) कर के पुनःपुनः स्वस्वरूप में स्थापन लक्षण से कठिनता से जीती जाती हैं।

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक बड़ी कठिनता से परपदार्थों में जाने वाले परिणामों को रोककर अपने स्वरूप में स्थापन करने पर ही कषायों पर यह जीव विजय प्राप्त कर सकता है, इसलिए ये कषायें दुर्जय हैं।

प्रतिक्षण मन को विक्षिप्त करने वाली होने से 'सु' अतिशय से जीतने योग्य होने से सुदुर्जय है।

शंका - प्रथम गुणस्थान से ही कषायों का सद्भाव है तो फिर तीन गुणस्थानों को छोड़कर चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशांत कषाय तक (चतुर्थ गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक) कषायों को जीतने वाला क्यों कहा गया है?

उत्तर - आदि के तीन गुणस्थानों में कषायों के दृढ़तर आधार के स्वरूप का निरूपण करने में चतुर मिथ्यात्व का एकछत्र राज्य होने से और कषायों के पक्ष का नाश करने में दक्ष सम्यग्दर्शन की दृढ़तर प्रौढ़ता का अभाव होने से यह जीव आदि के तीन गुणस्थानों में कषायों को जीतने में समर्थ नहीं होता है। अर्थात् आदि के तीन गुणस्थानों में कषायों के आधारभूत मिथ्यात्वरूपी राजा का एकछत्र राज्य है और कषायों के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन का अभाव है इसलिए इन तीन गुणस्थानों में कषायों को जीतने का सामर्थ्य नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान से ही कषायों को पछाड़ने का सामर्थ्य आता है। इन कषायों के वशीभूत हुआ यह सम्पूर्ण लोक (तीन लोकों में स्थित अनन्तानन्त प्राणी) विविध प्रकार के कर्मरूप नक्र-चक्रों से भयंकर चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण कर रहा है। जन्म-मरण के दुःखों को भोग रहा है। इसलिए निज शुद्ध परमात्मा की आराधना वा प्राप्ति के इच्छुक क्षपक को सर्वप्रथम दुर्जय कषायों का तिरस्कार करना चाहिए। उनको जीतने का प्रयत्न करना चाहिए॥३६॥

ननु यावत्कषायवान् क्षपकः कषायान्न हंति तावत्किं-किं न स्यादित्याह-

जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा॥३७॥

यावन्न हंति कषायान् स कषायी नैव संयमी भवति।
संयमरहितस्य गुणा न भवंति सर्वे विशुद्धिकराः॥३७॥

अत्रान्वयक्रमेण व्याख्यानं। **स कसाई** स पूर्वोक्तलक्षणः क्षपकः कषायीभूतः सन् **जाव** यावत्कालं **कसाए** कषायान् क्रोधादिलक्षणान् ण **हणइ** न हंति न निराकरोति तावदित्यध्याहारः 'यत्तदोर्नित्यसंबंधमितिवचनात्' **ताव** तावत्कालं संजमी संयमी संयमयुक्तः ण होइ न **भवत्येव** एवेत्यत्र निचयार्थे। कुतः **संजमरहियस्स** संयमरहितस्य पुरुषस्य **सव्वे गुणा** सर्वे गुणाः सम्यग्दर्शनादयो गुणा **विसुद्धियरा** विशुद्धिकराः परिणामशुद्धिकारिणो ण **हुंति** न भवंति अतः परिणामशुद्धये कषायविजयेन संयममंगीकृत्य परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम्॥३७॥

ननु भगवन् कषायेषु किं करणीयं भवति मुनिभिस्तत्कृते किं फलं स्यादिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह-

तम्हा णाणीहिं सया किसियरणं हवइ तेसु कायव्वं।
किसिएसु कसाएसु अ सवणो झाणे थिरो हवइ॥३८॥

'जब तक कषायवान क्षपक कषायों का नाश नहीं करता है तब तक क्या नहीं होता ?' इस शंका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं-

जब तक यह संसारी जीव कषायों का नाश नहीं करता, तब तक वह कषायी, संयमी नहीं हो सकता और संयमरहित के विशुद्धि करने वाले सारे गुण प्रगट नहीं होते हैं॥३७॥

जब तक यह क्षपक कषायों के वशीभूत है, क्रोधादि कषायों का निराकरण नहीं करता है तब तक संयमी नहीं बन सकता, क्योंकि कषायें संयम का घात करती हैं। जो संयम रहित है उसके परिणामों को विशुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शन आदि गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता अर्थात् वह क्षपक सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओं का आराधक नहीं हो सकता इसलिए क्षपक को कषायों का विजयी होकर संयम को स्वीकार करना चाहिए और विशुद्ध भावों से निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए॥३७॥

हे भगवन् ! मुनियों को कषाय कृश करने चाहिए परन्तु कषायों को कृश करने से क्या फल प्राप्त होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

ज्ञानीजनों को प्रयत्नपूर्वक कषायों को कृश करना चाहिए। क्योंकि कषायों के कृश होने पर ही मुनिराज ध्यान में स्थिर हो सकते हैं॥३८॥

तस्माद् ज्ञानिभिः सदा कृषीकरणं भवति तेषु कर्तव्यम्।
कृषितेषु कषायेषु च श्रमणो ध्याने स्थिरो भवति ॥३८॥

तम्हा तस्मात् कारणात् **णाणीहिं** ज्ञानिभिः विवेकिभिः **तेसु** तेषु कषायेषु **सया** सदा सर्वकालं **किसियरणं** कृषीकरणं स्वस्वरूपव्यवस्थापनेन परपदार्थप्रवर्तमानपरिणामपूरदूरीकरणं **कायव्वं** कर्तव्यं करणीयं **हवइ** भवति **किसिएसु** कृषितेषु संज्वलनतां गतेषु **कसाएसु** कषायेषु **अ** च सत्सु **झाणे** ध्याने परमात्मस्वरूपचिंतायां धर्मशुक्ललक्षणे **सवणो** श्रमणो भट्टारको महात्मा विवेकी **थिरो** स्थिरो निश्चलात्मा **हवइ** भवति कषायकृषीकरणेन ध्यानस्थिरतां विधाय परमात्मानं चिंतयेति तात्पर्यम् ॥३८॥

संन्यस्ताः कषायाः किं न कुर्वन्तीत्याह-

सल्लेहिया कसाया करंति मुणिणो ण चित्तसंखोहं।
चित्तक्खोहेण विणा पडिवज्जदि उत्तमं धम्मं ॥३९॥

सल्लेखिता कषायाः कुर्वन्ति मुनेर्न चित्तसंक्षोभम्।
चित्तक्षोभेन विना प्रतिपद्यते उत्तमं धर्मम् ॥३९॥

सल्लेहिया सल्लेखिताः सन्यस्ताः परित्यक्ताः **कसाया** कषायाः **मुणिणो** मुनेर्महात्मनः **चित्तसंखोहं** चित्तसंक्षोभं मनोविक्षेपं **ण करंति** न कुर्वन्ति **चित्तक्खोहेण विणा** चित्तक्षोभेण विना मनोविक्षेपरहितेन **उत्तमं**

विवेकी महात्माओं को स्वस्वरूप में स्थिरता लाने के लिए, आत्मध्यान के द्वारा निरन्तर परपदार्थों में प्रवर्तमान परिणामों को दूर करने के लिए, विभाव भावरूप कषायों को कृश करना चाहिए। क्योंकि कषायों के कृश होने पर वा संज्वलनता को प्राप्त होने पर श्रमण परमात्मा के स्वरूप के चिंतन रूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान में स्थिर होता है। अर्थात् वास्तव में, धर्मध्यान संज्वलन कषाय वाले के ही होता है, अन्य कषायवाले के नहीं।

हे क्षपक ! प्रयत्नपूर्वक कषायों को कृश करके ध्यान की स्थिरता को प्राप्तकर निज शुद्धात्मा का चिन्तन करो वा परमात्मा का ध्यान करो ॥३८॥

कृश हुई कषायें क्या नहीं करतीं, अर्थात् कषायों के कृश होने पर क्या फल प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न करने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं-

कृशित हुई कषायें मुनिराज (क्षपक) के चित्त को क्षोभित नहीं करती हैं और चित्त के क्षुभित न होने पर श्रमण उत्तम धर्म को प्राप्त होता है॥३९॥

जिसकी कषायें नष्ट हो गई हैं वा कृश होकर संज्वलन कषाय को प्राप्त हो गई हैं उस महात्मा का चित्त किसी भी कारण से क्षोभित नहीं होता है अर्थात् मन को विक्षिप्त करने वाली कषायों का अभाव हो जाने पर मन का क्षोभ नष्ट हो जाता है। तथा मन के क्षोभ का नाश हो जाने पर (मन के शांत हो जाने पर)

परमकोटिमारूढं **धम्मं** धर्मः स्वस्वरूपस्वभावं प्रतिपद्यते स कषायसंन्यासी मुनिः प्राप्नोति। स्वस्वरूपलाभाय **भव्यैः** कषायसंन्यासो विधेय इति रहस्यं॥३९॥ एवं कषायसल्लेखनानिर्देशस्वरूपकथनप्रपंचेन गाथाषट्कं।

गता कषायसल्लेखना। अधुना "सीयाई" इत्यादि गाथासप्तकेन क्रमायातं च चतुर्थस्थलगतं परीषहजयं कारयति इति समुदायपातनिका।

तत्रादौ कति संख्याः परीषहाः किंस्वरूपा निर्दिष्टाः किं ते केन कर्तव्या इत्याह-

सीयाई वावीसं परिसहसुहडा हवंति णायव्वा।
जेयव्वा ते मुणिणा वरउवसमणाणखग्गेण॥४०॥

शीतादयो द्वार्विंशतिः परीषहसुभटा भवंति ज्ञातव्याः।
जेतव्यास्ते मुनिना वरोपशमज्ञानखड्गेन॥४०॥

सीयाई शीतादयः शीत आदिर्येषां क्षुत्पिपासादीनां ते शीतादयः **वावीसं** द्वार्विंशतिः द्वार्विंशतिसंख्योपेताः **परिसहसुहडा** परीषहसुभटाः परीषहाः क्षुत्पिपासादिलक्षणाः त एव सुभटा रणरंगकुशलपुरुषविशेषाः शरीरपराभवकारणसामर्थ्यात्। ते किं कर्तव्या। **हवंति** भवंति **णायव्वा** ज्ञातव्याः स्वकीयावगमगोचरीकर्तव्या। कथमितिचेत्। भिक्षोः शुद्धाहारान्वेषिणः तदलाभे ईषल्लाभे च दुस्तरेयं वेदना महांश्च कालो दीर्घहेति विषादमकुर्वतोऽकाले देशे च भिक्षामगृह्णतः आवश्यकहानिं मनागप्यनिच्छतः स्वाध्यायध्यानरतस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि लाभादलाभमधिकं मन्यमानस्य क्षुदबाधाप्रत्ययचिंतनं **क्षुद्विजयः॥१॥**

मुनि परम कोटि को आरूढ (उत्तम) स्वस्वभाव रूप धर्म को प्राप्त होता है। अतः मुमुक्षु भव्यों को स्वस्वरूप की प्राप्ति अथवा स्वात्मोपलब्धि के लिए कषायों को कृश करने का प्रयत्न करना चाहिए॥३९॥

इस प्रकार कषाय कृश करने का निर्देश करने वाली छह गाथाएँ पूर्ण हुईं। इस समय क्रम से प्राप्त शीतादि बावीस परीषहजय का सात गाथाओं द्वारा कथन करते हैं-

ये शीतादि परीषह अति सुभट हैं, ऐसा जानकर मुनिराज को उत्कृष्ट उपशमभाव और ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा उनको जीतना चाहिए॥४०॥

ये शीत, क्षुत्-पिपासा आदि बावीस परीषह शरीर का पराभव करने में समर्थ होने से वा परीषह रूपी रणांगण में कुशल पुरुष के द्वारा जीतने योग्य होने से ये सुभट हैं, महायोद्धा हैं, कायर वा विषयाभिलाषी पुरुष इन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे परीषह रूपी भटों को जानना चाहिए, ज्ञानगोचर करना चाहिए।

निर्दोष आहार का अन्वेषण (खोज) करने वाले मुनिराज आहार नहीं मिलने पर, वा अल्प आहार मिलने पर, अकाल और अयोग्य देश में आहार ग्रहण करने की भावना नहीं करते हैं। मनाक् (थोड़ा सा) भी स्वकीय षड् आवश्यक क्रिया करने में आलस्य नहीं करते (षट् आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करते हैं।) आहार नहीं मिलने पर - 'अहो ! यह क्षुधा वेदना दुस्तर है, कालदीर्घ है' इस प्रकार विषाद (खेद) नहीं करते हुए स्वाध्याय और ध्यान में लीन होकर, लाभ से भी अलाभ को अधिक मानते हुए क्षुधा पर विजय प्राप्त करते हैं। भूखप्यास से आकुलित होकर स्वकीय क्रियाओं को नहीं छोड़ते हैं। उसको क्षुधापरीषह-विजयी कहते हैं॥१॥

अतीवोत्पन्नपिपासां प्रति प्रतीकारमकुर्वतो भिक्षाकालेऽपींगिताकारादिभिरपि योग्यमपि पानमप्रार्थयतो धैर्यप्रज्ञाबलेन **पिपासासहनं** ॥२॥ शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषस्य देहे **निर्ममस्य** पूर्वानुभूतोष्णमस्मरतो विषादरहितस्य संयमपालनार्थं **शीतक्षमा** ॥३॥ दाहप्रतीकाराकांक्षारहितस्य शीतद्रव्यप्रार्थनानुस्मरणोपेतस्य चारित्ररक्षणोद्युक्तस्य **उष्णसहनं** ॥४॥ देशमशकादिदुर्निवारक्षुद्राणस्वाचलितचेतसः कर्मविपाकं स्मरतो निवृत्तप्रतीकारस्य शस्त्रघातादिपरान्मुखस्य **दंशादिबाधासहनं** ॥५॥ दंशग्रहणेन सिद्धे मशकग्रहणं सर्वोपघातोपलक्षणार्थं। स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो यथाजातरूपमसंस्कृतविकारमभ्युपगतस्य वैराग्यमापन्नस्य **नग्नमुत्तमं** ॥६॥

कुतश्चिदुत्पन्नामरतिं निवार्य धृतिबलात्संयमरतिभावनस्य विषयसुखरतिं विषसमानं चिंतयतो दृष्टश्रुतानुभूतरतिस्मरणकथाश्रवणरहितस्यारतिपरीषहजयस्तेन चक्षुरादीनां सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरतिग्रहणम-

---

आहार करने के बाद अथवा उपवास आदि के कारण तीव्र प्यास उत्पन्न होने पर भी उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं करते हैं तथा आहार के समय भी योग्य पानक (जलादि) की प्रार्थना नहीं करते हैं अपितु संतोष रूपी जल के द्वारा वा ज्ञान रूपी जल के द्वारा पिपासा को शांत करते हैं उसको पिपासा परीषह विजयी कहते हैं॥२॥

शीत के कारण शीतल वायु आदि का सन्निधान होने पर उस शीत का प्रतिकार करने की अभिलाषा नहीं करने वाले, पूर्व में अनुभूत उष्ण वस्त्र आदि का स्मरण नहीं करने वाले और कितनी भी शीत की बाधा होने पर भी खेद-खिन्न नहीं होने वाले महामुनिराज के शीत परीषह विजयीपना प्राप्त होता है अर्थात् वे शीत परीषह विजयी होते हैं॥३॥

ग्रीष्म काल की प्रचण्ड गर्म वायु से जिसका शरीर झुलस रहा है, कण्ठ सूख रहा है और पित्त के द्वारा जिसके अंतरंग में दाह उत्पन्न हो रहा है, फिर भी जो गर्मी से बचने का विचार नहीं करते अपितु आत्म-ध्यान रूपी शीतल गृह में प्रवेश कर गर्मी की वेदना को शांतिपूर्वक सहन करते हैं, उनके उष्ण परीषह-जय होता है॥४॥

जो डाँस, मच्छर, चींटी, मक्खी, बिच्छू आदि के काटने से उत्पन्न वेदना को शांतिपूर्वक सहन करते हैं, उनके दंशमशक परीषह-जय होता है। दंशमशक यह उपलक्षण मात्र है। इससे इसके सदृश शरीर को बाधा देने वाले सभी जीवों को ग्रहण करना चाहिए॥५॥

स्त्रियों के रूप को नित्य अशुचि, बीभत्स और शव भाव से देखने वाले असंस्कारित यथाजात रूप को प्राप्त और संसार-शरीर एवं भोगों से अत्यन्त वैराग्य भाव को प्राप्त मुनिराज के नग्न परीषह विजयत्व प्राप्त होता है। अर्थात् जो मुनि नग्नता के प्रति अपने मन में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते वे नग्न परीषह विजयी होते हैं॥६॥

किसी कारण से उत्पन्न अरति को धैर्यबल से दूर करके, संयम में रति (अनुराग) भाव में तत्पर, विषयसुख को विष के समान चिन्तन करने वाले और देखे हुए, सुने हुए तथा अनुभूत विषयों के स्मरण,

युक्तं कदाचित्क्षुदाद्यभावेपि कर्मोदयात्संयमे **अरति**रुपजायते ॥७॥ स्त्रीदर्शनस्पर्शनालापाभिलाषादिनिरुत्सुकस्य तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारशृंगाराकाररूपगतिहासलीलाविजृंभितपीन्तेन्नतस्तनजननोरुमूलकक्षानाभिनिरीक्षणादिभिरविकृत चेतसस्त्यक्तवंशगीतादिश्रुतेः **स्त्रीपरीषहजयः** ॥८॥

देवादिवंदनाद्यर्थं गुरुणानुज्ञातगमनस्य संयमाविघातिमार्गेण गच्छतोऽटन्यादिषु सहायाननपेक्षस्य शर्करादिभिर्जातखेदस्यापि पूर्वोचितयानादिकमस्मरत**श्चर्यापरीषहजयः** ॥९॥ श्मशानादिस्थितस्य संकल्पितवीरासनाद्यन्यतमासनस्य प्रादुर्भूतोपसर्गस्यापि तत्प्रदेशाविचलतोऽकृतमंत्रविद्यादिप्रतीकारस्य अनुभूतमृद्वास्तरणादिकमस्मरतश्चित्तविका-ररहितस्य **निषद्यातितिक्षा** ॥१०॥ स्वाध्यायादिना खेदितस्य विषमादिशीतादिसु भूमिषु निद्रां मौहूर्तिकीमनुभवतः एकपार्श्वादिशायिनो ज्ञातबाधस्याप्यस्पंदिनो व्यंतरादिभिर्विशस्यमानस्यापि त्यक्तपरिवर्तनपलायनस्य शार्दूलादिसहितोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमः श्रेयान् कदा रात्र्यं विरमतीत्यकृतविषादस्य मृदुशयनमस्मरतः शयनादप्रच्यवतः **शय्या**सहनं ॥११॥ परं भस्मसात्

कथन और श्रवण से रहित मुनिराज के अरति परीषह-जय होता है। तथा चक्षु आदि के योग्य जितने भी पंचेन्द्रियजन्य विषय हैं वे अरति का कारण होने से उनको पृथक् अरति ग्रहण करना युक्त नहीं है क्योंकि कदाचित् क्षुधा आदि के अभाव में भी कर्मोदय के कारण संयम में अरति उत्पन्न हो सकती है। यहाँ पर पंचेन्द्रिय विषयसुखों की अरति का ग्रहण नहीं है अपितु संयम में अरति उत्पन्न नहीं होना ही अरति परीषहजय है॥७॥

स्त्रियों के भ्रूविलास, नेत्रकटाक्ष, शृंगार, आकार, रूप, गति, हास को; लीला से विजृंभित पीन (स्थूल) स्तन, जंघा, उरुमूल, काँख, नाभि आदि के देखने से जिनका चित्त विकृत नहीं है, स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना, वार्तालाप करना आदि अभिलाषाओं से जिनका चित्त निरुत्सुक है अर्थात् स्त्रियों को देखने आदि की अभिलाषा जिनके मन में नहीं है, जिनका मन संगीत आदि के सुनने से विरक्त है; जो कछुए के समान इन्द्रिय और मन का संयमन करते हैं उनके स्त्रीपरीषह-जय होता है॥८॥

देववन्दना, तीर्थयात्रादि के लिए गुरुजनों की आज्ञा से देशकाल के अनुसार गमनागमन करते समय कंकड़, काँटे आदि के द्वारा उत्पन्न बाधा को तत्त्व के चिन्तन रूप पदत्राण से शांतिपूर्वक सहन करते हैं। स्वकीय स्वभाव से च्युत होकर खेद-खिन्न नहीं होते हैं तथा पूर्व अवस्था में भोगे हुए वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं, उनके चर्या परीषह-जय होता है॥९॥

जो मुनि श्मसान, वन, पर्वत, कन्दरा आदि में निवास करते हैं और नियत काल पर्यन्त ध्यान के लिए निषद्या (आसन) को स्वीकार करते हैं, लेकिन देव, तिर्यंच, मनुष्य एवं अचेतन कृत उपसर्ग आने पर भी जो अपने आसन से च्युत नहीं होते हैं, न पूर्व में अनुभूत मृदु आसनादि का स्मरण करते हैं और न मंत्रादिक के द्वारा ही किसी प्रकार के प्रतिकार की इच्छा करते है, उनके निषद्या परीषह-जय होता है॥१०॥

मुनिराज ऊँची-नीची कंकड़ बालू आदि से युक्त कठोर भूमि पर एक करवट से लकड़ी या पत्थर के समान निश्चल एक मुहूर्त तक निद्रा का अनुभव करते हैं। पसवाड़े का परिवर्तन नहीं करते हैं, भूत-प्रेतादि-कृत उपसर्ग भी जिनके शरीर को चलायमान नहीं कर सकते तथा जो ऐसा विचार भी नहीं करते कि "यहाँ भूतप्रेतादि वा सिंहादि हिंसक प्राणी हैं, अतः यहाँ से शीघ्र चल देना चाहिए या यह रात्रि कब समाप्त होगी?" तथा पूर्व में अनुभूत मृदु शय्या का चिन्तन नहीं करते हुए शयन से च्युत नहीं होते। उनके शय्या परीषहजय होती है॥११॥

कर्तुं शक्तस्याप्यनिष्टवचनानि शृण्वतः परमार्थावहितचेतसः स्वकर्मणो दोषं प्रयच्छतोऽनिष्टवचनसहन**माक्रोशजयः**॥१२॥ चौरादिभिः क्रुद्धे शस्त्राग्न्यादिभिर्मार्यमाणस्याप्यनुत्पन्नवैरस्य मम पुराकृतकर्मफलमिदमिति इमे वराका किं कुर्वन्ति शरीरमिदं स्वयमेव विनश्वरं दुःखदमतैर्हन्यते न ज्ञानादिकर्म इति भावयतो **वधपरीषहक्षमा**॥१३॥ **क्षुदध्व-श्रमतपोरोगादिभिः** प्रच्यावितवीर्यस्यापि शरीरसंदर्शनमात्रव्यापारस्य प्राणान्त्ययेष्याहारवसतिभेषजादीनभिधानमुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचमानस्य **याचनसहनं**॥१४॥ एकभोजनस्य मूर्तिमात्रदर्शनपरस्यैकत्र ग्रामे अलब्ध्या ग्रामांतरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटपात्रस्य बहुदिवसेषु बहुषु च ग्रहेषु भिक्षामनवाप्यापि असंक्लिष्टचेतसो व्यपगतदातृविशेषपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परं तप इति संतुष्टस्य **अलाभविजयः**॥१५॥ स्वशरीरमन्यशरीरमिव मन्यमानस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणलेपवदाहारमाचरतो जल्लौषधाद्यनेकतपोविशेषर्धियोगेपि शरीरनिस्पृहत्वात्

दूसरों को भस्मसात करने में समर्थ होते हुए भी परमार्थ के चिन्तन में लीन चित्त वाले मुनिराज, स्वकीय कर्मों के फल का विचार करके दुष्ट एवं अज्ञानी जनों के द्वारा कथित असत्य, अनिष्ट वा कठोर वचनों को सुनकर हृदय में रंचमात्र भी कषाय नहीं करते हैं, खेद-खिन्न नहीं होते हैं। वे आक्रोश परीषह-जयी होते हैं॥१२॥

क्रुद्ध हुए चोरादि कृत तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के प्रहार को सहन करते हैं, प्रहार करने वाले शत्रु पर द्वेष नहीं करते हैं अपितु यह विचार करते हैं कि यह मेरे पूर्व कर्मों का फल है तथा शस्त्रों के द्वारा दुःखों के मूल कारण शरीर का विघात हो सकता है, ज्ञानपुंज अविनाशी आत्मा का विघात त्रिकाल में भी संभव नहीं है, उनके वध परीषहजय होती है॥१३॥

भूख-प्यास, मार्ग-गमन की थकावट, तपश्चरण, रोग आदि के द्वारा क्षीण शक्ति हो जाने पर भी तथा एक बार भोजन के समय शरीर को दृष्टिगोचर कराना ही जिनका व्यापार है ऐसे मुनिराज कितना ही कष्ट आने पर वा प्राण निकलते भी दीन वचन, मुख-वैवर्ण्य, अंगसंज्ञा (इशारा) आदि के द्वारा भोजन, वसतिका, औषध आदि की याचना नहीं करते हैं; वे याचना परीषह विजयी होते हैं॥१४॥

जो दिन में एक बार भोजन करते हैं, भिक्षा के लिए जाने पर केवल श्रावक को अपना शरीर मात्र दिखाते हैं (शीघ्र ही आगे चले जाते हैं), बहुत काल तक श्रावक के घर के सामने खड़े नहीं रहते हैं। एक ग्राम में आहार नहीं मिलने पर आहार के लिये ग्रामान्तर में जाने की इच्छा नहीं करते हैं तथा हाथ ही जिनके पात्र हैं; दाता धनाढ्य है या दरिद्री है, इसकी अपेक्षा नहीं करते हैं। अनेक दिनों तक वा अनेक घरों में भ्रमण करने पर भी यदि आहार का लाभ नहीं होता है तो स्वकीय मन में किसी प्रकार का खेद नहीं करते हैं और भिक्षा के लाभ की अपेक्षा अलाभ को तप का हेतु समझकर संतुष्ट होते हैं, आनन्द का अनुभव करते हैं, वे अलाभ परीषह विजयी कहलाते हैं॥१५॥

जो महात्मा स्व शरीर को अन्य के शरीर के समान समझते हैं। शरीर-यात्रा (शरीर की स्थिति) की प्रसिद्धि के लिए व्रण (घाव) पर लेप के समान आहार लेते हैं, आसक्तिपूर्वक नहीं और शरीर से अत्यन्त

व्याधिप्रतीकारानपेक्षिणः फलमिदमनेनोपायेनानृणी भवामीति चिंतयतो **रोगसहनं**॥१६॥ तृणग्रहणमुपलक्षणं तेन शुष्कतृणपत्रभूमिकंटकफलकशिलादिषु प्रासुकेष्वसंस्कृतेषु व्याधिमार्गशीतादिजनित- श्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य गमनमकुर्वतः शुष्कतृणपरुषशर्कराकंटकनिशितमृत्तिकादिबाधितमूर्तेरुत्पन्नकंडूविकारस्य दुःखं मनस्यचिंतयतस्**तृणस्पर्शसहनं**॥१७॥

रविकिरणजनितप्रस्वेदलवसंलग्नपांसुनिचयस्य सिध्माकच्छूदद्रूभृतकायत्वादुत्पन्नायामपि कंडूं कण्डूयनमर्दनादिर-हितस्य स्नानानुलेपनादिकमस्मरतः स्वमलापचये परमलोपचये च प्रणिहितमनसो **मलधारणं**॥१८॥

केशलुंचासंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽतर्भवतीति न पृथगुक्तं। सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः पुरस्कारः क्रियारंभादिष्वग्रतः करणं चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयज्ञस्य

निस्पृह होते हैं, शरीर मे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने पर भी रंचमात्र भी व्याकुल नहीं होते हैं तथा सर्वौषधि, जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होने पर भी शरीर से निर्मोही होने से रोग के प्रतिकार की इच्छा नहीं करते वे निरन्तर विचार करते हैं कि ''यह मेरे असाता कर्म का फल है, इस रोग के निमित्त से मैं कर्म के ऋण (कर्ज) से रहित हो रहा हूँ'' ऐसी भावना से जो व्याधि से उत्पन्न आकुलता के अधीन नहीं होते हैं, वे रोग परीषह विजयी कहलाते हैं॥१६॥

तृणस्पर्श परीषह में तृण शब्द उपलक्षण मात्र है, अतः तृण शब्द से शुष्क तृण, कंटक, शिला, कठोर मिट्टी आदि को ग्रहण करना चाहिए।

बिना संस्कार किये हुए शुष्क तृण, पत्र, कठोर भूमि, कंटक, फलक, शिलादि पर गमन करनेपर, और शीतादिजनित थकावट को दूर करने के लिए गमन नहीं करते हुए भी शयन वा बैठने रूप क्रिया करने पर शुष्क तृण, कठोर बालूरेत, तीक्ष्ण कंटक, मिट्टी आदि के द्वारा शरीर के बाधित होने पर, खुजली आदि के उत्पन्न होने पर भी जो मन में दुःख का अनुभव नहीं करते हैं उनको तृणस्पर्श सहन (तृणस्पर्श परीषह विजयी) कहते हैं॥१७॥

सूर्य की किरणों के लगने पर शरीर में उत्पन्न पसीने की बूंद में लगकर जमे हुए धूलि के समूह में दाद-खाज-खुजली के उत्पन्न होने पर भी खुजाल, मर्दन आदि नहीं करते हैं, पूर्व में अनुभूत स्नान अनुलेपन आदि का स्मरण नहीं करते हैं और अपने मल के अपचय में तथा दूसरे के मल के उपचयमें ध्यान नहीं देते हैं अर्थात् मेरे शरीर में कितना मैल लगा है- वह कैसे दूर हो, दूसरे का शरीर कितना स्वच्छ है, आदि विचार नहीं करते हैं, वे मल परीषह विजयी होते हैं॥१८॥

केशलोंच करने से और उनका संस्कार नहीं करने से उत्पन्न खेद को सहन करना मलसामान्य-सहन में अन्तर्भूत हो जाता है, अर्थात् केशलोंच करना, केशों में तैल आदि नहीं लगाने से खुजली आदि होती है उसको सहन करना ये मलपरीषहसहन में गर्भित हो जाते हैं अतः उनका पृथक् कथन नहीं किया है।

पूजा, प्रशंसा करने को सत्कार तथा किसी कार्य के आरम्भ में किसी को प्रधान बना देना पुरस्कार है। लोगों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न दिये जाने पर जो मुनि ऐसा विचार नहीं करते कि- मैं परम तपस्वी हूँ।

हितोपदेशकथामार्गकुशलस्य बहुतत्त्वपरवादिविजयिनः प्रणामभक्तिसंभ्रमासनप्रदानादीनि न मे कश्चित् करोति वरं मिथ्यादृशः स्वसमयगतमज्ञमपि सर्वज्ञसंभावनया सन्मान्य स्वसमयप्रभावनां कुर्वन्ति व्यंतरादयः पुरात्युग्रतपसां प्रत्युग्रपूजां निवर्तयंतीति यदि न मिथ्याश्रुतिस्तदा कस्मादस्मादृशां एते समयगता अनादरं कुर्वन्ति इति प्रणिधानरहितचित्तस्य मानापमानयोस्तुल्यस्य **सत्कारपुरस्कारपरिषहजयः** ॥१९॥ अंगपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य अनुत्तरवादिनो मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवन्नितरामवभासंते इति ज्ञानमदनिरासः **प्रज्ञापरीषहजयः** ॥२०॥ अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुसमः इत्याद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्य सततमध्ययनरतस्य निवृत्तनिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्य महोपवासाद्यनुष्ठायिनोद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इत्यनभिसंदधतो **अज्ञानपरीषहजयः** ॥२१॥ दुष्करतपोनुष्ठायिनो वैराग्यभावनापरस्य ज्ञातसकलतत्त्वस्य चिरंतनव्रतिनो अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपालनमित्येवमचिंतयतो **दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनम्** ॥२२॥

अनेक बार मैंने वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया है, चिरकाल से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हूँ, स्वसमय एवं परसमय का ज्ञाता हूँ और हित का उपदेश देने वाले कथामार्ग में कुशल हूँ, अर्थात् हित का उपदेश देने में कुशल हूँ फिर भी कोई मेरा आदर-सत्कार नहीं करते, मुझे प्रणाम नहीं करते, बैठने के लिये उच्चासनादि नहीं देते- "मुझ से अच्छे तो वे मिथ्यादृष्टि साधु हैं जिनकी मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञ की संभावना से सम्मान करके अपने धर्म की प्रभावना करते हैं। जो ऐसा कहा जाता है कि उग्र तपस्या करने वालों की व्यंतरादि देव पूजा करते हैं, यह सब झूठ है।" हमारे धर्मावलम्बी हमारा अनादर क्यों करते हैं ? जिनके मान-अपमान में तुल्य भाव है, जो कभी मान-सन्मान नहीं मिलने पर मलिनचित्त नहीं होते हैं, वे सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी कहलाते हैं॥१९॥

मैं अंगपूर्व और प्रकीर्णक का विशारद हूँ, अनुत्तरवादी भी मेरे सामने सूर्य की प्रभा से तिरस्कृत हुए खद्योत के समान प्रतिभासित होते हैं; इस प्रकार ज्ञान का मद नहीं करते हैं वे प्रज्ञापरीषह विजयी होते हैं॥२०॥ 'यह महामूर्ख है, कुछ भी नहीं जानता है, पशु के समान है', इत्यादि आक्षेप वचनों को सुनकर भी जो शांतभाव धारण करते हैं, निरन्तर ध्यानाध्ययन में लीन रहते हैं, जो अनिष्ट मन वचन कायकी चेष्टा से रहित हैं, मैं महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाला महातपस्वी हूँ फिर भी आज तक मुझे ज्ञान के अतिशयादि उत्पन्न नहीं हुए हैं; ऐसा विचार नहीं करते हैं वे अज्ञान परीषह विजयी होते हैं॥२१॥

'मैं दुष्कर तप का अनुष्ठान करने वाला हूँ, वैराग्य भावना में तत्पर हूँ, सकल तत्त्वों का ज्ञाता हूँ, चिरकाल से दीक्षित हूँ तथापि आज तक मुझे ज्ञानादि अतिशय उत्पन्न नहीं हुए हैं। शास्त्रों में कथन है कि महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वालों को प्रातिहार्य विशेष (महाऋद्धि आदि) उत्पन्न होते हैं। यह केवल प्रलाप मात्र है- वास्तविक नहीं है, यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतों का पालन करना निष्फल है।' दर्शनविशुद्धि के कारण इस प्रकार का चिंतन नहीं करने वाले साधु अदर्शन परीषह विजयी होते हैं॥२२॥ इस प्रकार इन बावीस परीषहों के स्वरूप को जानना चाहिए।

न केवल परीषहसुभटा ज्ञातव्या किंतु ते परीषहा **जेयव्वा** जेतव्याः। केन। **मुणिणा** मुनिना। केन करणभूतेन। **वरउवसमणाणखग्गेण** वरोपशमज्ञानखड्गेन वरोपशमज्ञान एव रागद्वेषाभाव एव खड्गस्तेन। एतेन परीषहान् सर्वान् जित्वा क्षपकः शुद्धात्मानं ध्यायतीति रहस्यं॥४०॥

संन्याससंग्रामांगणे परीषहसुभटैर्निराकृताः केचिद्धीनसत्त्वाः शरीरसुखं शरणं प्रविशंतीत्यादिशति-

परिसहसुहडेहिं जिया केई सण्णासआहवे भग्गा।
सरणं पइसंति पुणो सरीरपडियारसुक्खस्स॥४१॥

परीषहसुभटैर्जिता केचित् संन्यासाहवाद्भग्नाः।
शरणं प्रविशंति पुनः शरीरप्रतीकारसुखस्य॥४१॥

परिसहसुहडेहिं जिया परीषहसुभटैर्जिताः विनिर्जिताः केचित् चारित्रमोहोदयेन प्रच्छादितवृत्ता रुद्रादयो मुनयः **सण्णासाहवे** संन्यासाहवात् सर्वसंगपरित्यागलक्षणः संन्यासः चरित्रानुष्ठानं स एवाहवः संग्रामः ऋषभादिभिर्वीरपुरुषैः समाश्रितत्वात् तत्सहदीक्षितचतुःसहस्रनरेंद्रादिकातरपुरुषैः परित्यजनत्वात् सामान्यैः श्रवणमात्रत्रासोत्पादकत्वात् नानानशनरसपरित्यागादिव्रतानुष्ठानकांडाद्यस्त्रैः कायकदर्थनत्वात्, तस्मात्संन्याससंग्रामात् **भग्गा** भग्नाः पलायिताः परीषहान् सोढुमशक्ताश्चारित्ररणभूमिं परित्यज्य गता इत्यर्थः। ततो नष्टास्ते क्व गच्छंतीति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। **सरीरपडियारसुक्खस्स** शरीरप्रतीकारसुखस्य शरीरस्य निजदेहस्य प्रतीकारः प्रावरणभोजनादिविषयस्तदेव सुखं तस्य **सरणं** शरणमाश्रयं पुनः **पविसंति**

हे क्षपक ! इन बावीस परीषहों रूपी सुभटों को केवल जानना ही नहीं है, अपितु उत्कृष्ट उपशम भाव (रागद्वेष का अभाव) और सम्यग्ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा इन परीषह रूपी भटों को जीतना चाहिए।

हे महात्मन् ! इन परीषहों की तरफ लक्ष्य नहीं देकर स्वकीय शुद्धात्मा का ध्यान करो। स्वकीय स्वरूप में लीन होकर अपने स्वरूप में रमण करो॥४०॥

कोई हीन शक्ति वाले क्षपक संन्यास रूपी संग्रामांगण में परीषह रूपी सुभटों के द्वारा तिरस्कृत होकर(वा भयभीत) होकर शरीरसुख की शरण में जाते हैं उनको संबोधित करते हुए आचार्य आदेश देते हैं-

संन्यास रूप रणभूमि को छोड़कर रुद्रादि मुनि कहाँ गये थे? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं कि-शरीर का प्रतिकारक (उपकारक) वस्त्र-भोजनादि विषयसुख है, उस सुख की शरण में चले जाते हैं; सांसारिक सुख का आश्रय लेते हैं॥४१॥

पूर्व में कोई प्राणी किसी कारणवश वैराग्य को प्राप्त कर सम्पूर्ण शरीर, इन्द्रिय-विषयजन्य सुख और पुत्रमित्र कलत्र (स्त्री) आदि परिवार को छोड़कर ख्याति, पूजा, लाभ आदि इह लौकिक और स्वर्ग एवं मोक्ष रूप पारलौकिक कमनीय (मनोज्ञ) सुख सम्पदा को देने वाली जैनेश्वरी दीक्षा (दिगम्बर मुद्रा) को धारण करते हैं। तथा उस दीक्षा में कथित दुर्धर तप अनुष्ठान को देखकर भयभीत हो जाते हैं। अहो! हम इस दुर्धर तप का आचरण करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसा विचार कर वे देव, शास्त्र, गुरु और चतुर्विध संघ के समक्ष

प्रविशंति गच्छंति पूर्वं तावत्किंमपि वैराग्यमात्रं प्राप्य समस्तदेहेंद्रियविषयजन्यसुखपुत्रमित्रकलत्रं परित्यज्य ख्यातिपूजालाभाद्यैहलौकिकस्वर्गापवर्गरूपपारलौकिककमनीयसुखसंपत्तिदायिनीं जिनराजदीक्षां प्राप्ता ये तत्र दुर्धरतपोनुष्ठानं विलोकयंतो भीता वयमीदृशमाचरितुमक्षमाः पुनस्ते देवशास्त्रगुरुचतुर्विधसंघविद्यमानात्तप्रतिज्ञां परिहाय चतुर्गतिकसंसारकूपपतनभीतिमगणयंतः पुनरपि मनोवाक्कायकदर्थनसमर्थनानाविध-दुःखजलसंभारभरितकृषिवाणिज्यादिगृहव्यापारपारवारकल्लोलं दोलायमानाः क्वापि क्वापि पंचेंद्रियविषयजनितसुखजलगतस्थलेषु विश्रमंति पुनरपि तत्फलेनानंतसंसारं पर्यटन्ति। एवं चेतसि विज्ञाय संसारभीतिं चित्ते समारोप्य जिनराजदीक्षां नीत्वा देहममत्वपरिहारेण दुर्धरपरीषहजयं कृत्वा परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम्॥४१॥

ननु परिषहसुभटैः पराभूयमानो मुनिः केनोपायेन तान् जयतीति पृष्टः सन्निमां भावानां सद्धेतुमंतरंगकरे कारयति-

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाई परवसेण संसारे।
इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा॥४२॥

दुःखान्यनेकानि सोढानि परवशेन संसारे।
इदानीं स्ववशो विषहस्व आत्मस्वभावे मनः कृत्वा॥४२॥

ग्रहण की गई प्रतिज्ञा को छोड़कर चतुर्गति रूप संसार-कूपपतन के भय को नहीं गिनते (समझते) हुए पुनः मन वचन काय का कदर्थन करने में समर्थ, नाना प्रकार के दुःख रूपी जल के समूह से भरे हुए, खेती-व्यापार आदि गृहस्थारंभ रूपी समुद्र की कल्लोलों से तरंगित, कहीं-कहीं पंचेन्द्रियजन्य सुख रूप जलगत स्थल में विश्राम लेते हैं अर्थात् जैनेश्वरी दीक्षा छोड़कर गृहस्थारम्भ को स्वीकार करते हैं और उस सुख-स्वादन के फलस्वरूप अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं। हे क्षपक ! इन्द्रियसुख-स्वाद के कारण जीव संसार में भ्रमण करता है, ऐसा मन में विचार करके संसार से भयभीत हो, जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करके, देह से ममत्व को छोड़कर और दुर्धर परीषह रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके परमात्मा की आराधना करनी चाहिए॥४१॥

परीषह रूपी सुभटों के द्वारा पराजित वा तिरस्कृत हुए मुनि किस उपाय से उन परीषहों को जीतते हैं? ऐसा पूछने पर जिस भावना के बल से परीषहों को जीतते हैं उन भावनाओं को हेतु पूर्वक अंतरंग में कराते हैं अर्थात् उन भावनाओं का कथन करके अंतरंग में उतारने का प्रयत्न करते हैं-

हे क्षपक ! हे आत्मन् ! तूने परवश (कर्मों के वश) होकर इस संसार में अनेक दुःखों को सहन किया है। इस समय स्ववश हो आत्मस्वभाव में मन को स्थिर करके कष्टों को सहन कर॥४२॥

भो आत्मन्, अस्मिन् **संसारे** भवे जन्मजरामरणपरिवर्तने **परवसेण** निजचिरदुरार्जितकर्मविपाकत्वादन्याधीनतावस्थाविशेषेण **अणेयाइं** अनेकानि चतुर्गतिषु संभवत्वेन घोरासुरोदीरिततिलमात्रगात्रकर्तनतप्ततैलकटाहावर्तनासिपत्रवनांतरालवर्तनप्रज्वलितवालुकास्थलविहित-नर्तनपरस्परप्रक्षिप्तघातछेदनक्रकचविदारणातिभारारोपणबंधदाहशीतोष्णयातदारिद्रपुत्रशोकप्रियावियोगनृ-पराभवसुतविहितद्यूतक्रीडादिदुर्व्यसनसंभवपरपरमार्द्धि-दर्शनोद्भवमानसिकादिभेदात् अनेकभेदानि **दुक्खाइं** दुःखानि। किंकृतानि। **सहियाइं** सोढानि त्वया अनुभूतानि आस्वादितानि सेवितानीतियावत्। **इण्हं** इदानीं संप्रति तपश्चरणावस्थायां **सवसो** स्ववशः आत्माधीनःसन् **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे स्वस्वरूपे **मणो** मनश्चित्तं **किच्चा** कृत्वा **विसहसु** विषहस्व विशेषेण सहस्व भो आत्मन् त्वमिह तपोनुष्ठाने हठात्केनापि न नियुक्तस्त्वमेवं कुरु त्वं स्वयमेव संसारशरीरभोगेषु विरज्य तपसि परायणो जातोसि अतस्तावकीना स्वाधीना प्रवृत्तिः न पराधीनता क्वापीह। पूर्वं तावदेव योनिषु संसारे पराधीनतां गतेन स्वसामर्थ्याभावादनेकभेदानि दुःखानि भुक्तानि अधुना हठग्राहितचारित्वात् स्ववशः सन् शुद्धभावे मनो विधाय परीषहान् सहस्वेति भावः ॥४२॥

हे आत्मन् ! जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि से परिवर्तनशील इस संसार में स्वकीय परिणामों से चिरकाल से उपार्जित कर्म विपाक के आधीन होकर (परवश होकर) चारों गतियों में होने वाले अनेक दुःख सहन किये। अर्थात् नरक गति में असुरों के द्वारा उदीरित घोर दुःख-तिल-तिल के बराबर शरीर के टुकड़े करना, तप्तायमान तेल की कड़ाई में पकाना, गर्म कर लोहे की पुतली को चिपकाना, सेमर वृक्ष के पत्ते के गिरने से शरीर का विदारण, करोत से काटना आदि अनेक दुःख सहन किये। तिर्यंच गति में अतिभार का ढोना, भूख-प्यास, शीत-उष्ण के दुःख सहन किये हैं। मनुष्य गति में दरिद्रता, पुत्र कलत्र आदि प्रिय वस्तु के वियोगजन्य, राजा के द्वारा पराभव, जुआ आदि सप्तव्यसनी पुत्रजन्य आदि दुःख सहन किये। देव गति में अधिक वैभवशाली देवों को देखकर मानसिक दुःखों को सहन किया है। हे आत्मन् ! तूने इस प्रकार कर्माधीन होकर चार गति रूप चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके अनन्तानन्त दुःखों को सहन किया है। अब इस समय तपश्चरण काल में स्ववश होकर, अपने मन को आत्मस्वभाव में स्थिर करके इन कष्टों को सहन करो।

हे आत्मन् (हे क्षपक)! किसी ने जबरदस्ती तुझे तपो अनुष्ठान (तपश्चरण) में नियुक्त नहीं किया है। तुम स्वयमेव संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर तप में परायण (तत्पर) हुए हो। इसलिये तुम्हारी स्वाधीन वृत्ति है, किसी प्रकार की इसमें पराधीनता (जबरदस्ती) नहीं है।

हे आत्मन् ! अनादिकाल से इस संसार में चौरासी लाख योनियों में कर्मों की पराधीनता से, स्वसामर्थ्य के अभाव से शारीरिक मानसिक आदि अनेक प्रकार के दुःखों को भोगा है, सहन किया है। इस समय तुमने स्ववश होकर स्वकीय इच्छा से व्रत अनुष्ठान, सन्यास धारण किया है, सन्यास स्वीकार किया है। इसलिए इस समय आत्मस्वभाव में स्थिर होकर अपने मन को स्वमें लीन कर परमात्मा का ध्यान करो, आत्मस्वभाव का चिन्तन करो। किसी प्रकार से खेद-खिन्न नहीं होते हुए इन भूख आदि परीषहों को सहन करो ॥४२॥

तीव्रवेदनाक्रांतो यदि परमोपशमशालिनीं भावनां करोषि तदा कर्माणि हंतीत्याचष्टे-

अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।
जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण ॥४३॥

अतितीव्रवेदनाया आक्रान्तः करोषि भावनां सुसमां।
यदि तदा निहंसि कर्म अशुभं सर्वं क्षणार्धेन॥४३॥

अइतिव्ववेयणाए अतितीव्रवेदनया अतिशयेन तीव्रा कठोरा दुस्सहवेदना क्षुत्पिपासादिपरीषहसमुत्पन्न-मनोवाक्कायकदर्थनासातया **अक्कंतो** आक्रांतः पीडितः यदि त्वं भो क्षपकपुरुष **सुसमा** सुसमां सुष्ठु अतिशयेन समा विग्रहादिषु ममेदमस्याहमित्याग्रहासंग्रहीतपरिणामनिग्रहणेन ग्रंजरादिविकृतिर्न मेंजसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् मिलितेपि सति खेऽविकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिरित्यादिसूक्तिपरंपराविचारिनीरपूर्णरागद्वेषमोहसंभवसमस्तविभावपरिणामसंकल्पविकल्पलक्षण-जाज्वल्यमानाग्निनिःशेषेणोपशम्य चित्तस्य चिद्रूप शुद्धपरमात्मनिस्थितिलक्षणा या सुसमा तां सुसमां **भावणा** भावनां मुहुर्मुहुश्चेतसि अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिंतनलक्षणां **जइ कुणसि** यदि करोषि **तो** तदा काले **असुहं** अशुभं **सव्वं** सर्व **कम्मं** घातिकर्मचतुष्टयस्वरूपं सर्वमशुभं कर्म **खणद्धेण** क्षणार्धेन अंतर्मुहूर्तेन **णिहणसि** निहंसि

'यदि तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर भी परम उपशमशालिनी भावना करता है तो कर्मों का नाश करता है'- इसी बात को आचार्य कहते हैं-

हे आत्मन् ! यदि तुम तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर सुसम (स्वात्मचिंतन) भावना करते हो तो आधे क्षण में (बहुत कम काल में) अशुभ कर्मों का नाश करते हो अर्थात् शीघ्र तुम्हारे कर्मों का नाश होगा।।४३।।

हे क्षपक ! भूख-प्यास आदि परीषह से उत्पन्न, मन-वचन-काय को कदर्थन (पीड़ित) करने वाली तीव्र असाता वेदनीय कर्म से पीड़ित हुआ तू सम्यग् भावना कर और शरीरादिक पदार्थों में 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकार के विचारों से संगृहीत परिणामों का निग्रह कर। वास्तव में रोग बुढ़ापा आदि विकृति मेरी नहीं है, ये शरीर के विकार हैं, मैं शरीर रहित हूँ, शरीर से भिन्न हूँ। विकारी बादलों के द्वारा एकक्षेत्र अवगाही होने पर भी नभस्थल विकारी नहीं होता है; उसी प्रकार शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी यह शरीर आत्मा को विकृत नहीं कर सकता, आत्म स्वभाव का नाश नहीं कर सकता। इत्यादि विचार रूप जल से अनादिकालीन राग द्वेष मोह से उत्पन्न सारे विभाव परिणाम संकल्प, विकल्प लक्षण जाज्वल्य मान अग्नि को विशेष रूप से शांत करके चित्तको शुद्ध चिद्रूप परमात्मा में स्थिर कर। शुद्ध आत्मभावना में लीन हो।

हे क्षपक ! बार-बार अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करो। इस प्रकार के चिंतन से सर्व अशुभ घातिया कर्मों का अन्तर्मुहूर्त में नाश करेगा। अर्थात् शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग भावों में स्थिर हो जाने पर चार घातिया कर्मों का नाश कर शीघ्र ही केवलज्ञान का स्वामी होगा।

क्षपयसि यावदत्र रागद्वेषोत्पादकेष्विष्टानिष्टशुद्धपरमात्मपदार्थनिरंतरचिंतनानुरागबलेन सुसमां भावनां न करोषि तावत् कर्माणि क्षपयितुं परीषहजनिततीव्रवेदनां सोढुं च न शक्नोषि। एवं ज्ञात्वा परीषहदुःखेषूत्पद्यमानेष्वपि परमात्मनि भावना कर्तव्या इति ॥४३॥

ननु परीषहान् सोढुमशक्नुवा ये अनेकभवगहनदुःखनिर्घाटनसमर्थं ग्रहीतं चारित्रं परित्यजंति तेषामिह लोके परलोके च किं फलमिति तदाह-

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया ॥४४॥

परीषहभटेभ्यो भीताः पुरुषास्त्यजंति चरणरणभूमिम्।
भुवि उपहासं प्राप्ता दुःखानां भवंति ते निलयाः ॥४४॥

ये केचित् **परिसहभडाण** परिषहभटेभ्यः परीषहा एव भटाः शरीरेण शीतातपतापादिकठोरघातपातनकत्वात् तेभ्यो **भीया** भीताः स्वस्वभावादन्य-मनस्कतां नीताः **पुरिसा** पुरुषाः **चरणरणभूमी** चरणरणभूमिं चरणं चारित्रं तदेव रणभूमिः संग्रामभूमिः व्रतसमितिगुप्तिप्रभृतिसैन्यपरिग्रहप्रवर-विजृंभमाणप्रभुत्वेन स्वरूपावस्थानसाम्राज्यभाज्यात्मनृपेण निर्बाधभेदबोधासिना अनादिकामक्रोधमोहादिसैन्यशालिनां कर्मारीणां विध्वंसत्वात् तां रणभूमिं **छंडंति** परित्यजंति मुंचंति। ते कथंभूता भवंतीत्याह। भुवि इहलोके **उवहासं** उपहास्यं सज्जनानां म्लानीकरणकारणदुर्जनजन-नितधिक्कारांगुलिप्रसरपरस्परभ्रूविकाराविष्करणलक्षणं **पाविय** प्राप्ताः। परलोके च किंविशिष्टा। **हुंति** भवंति

हे क्षपक ! हे आत्मन् ! शुद्धात्मा के चिंतन के बल से रागद्वेष-उत्पादक इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में सुसमा भावना नहीं करता है, शरीर से भिन्न आत्मभावना नहीं करता है, तब तक कर्मों को क्षय करने के लिए और परीषह-जनित तीव्र वेदना को सहन करने में समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा जानकर परीषह दुःख के उत्पन्न होने पर आत्म भावना करनी चाहिए ॥४३॥

जो क्षपक परीषहों को सहन करने में समर्थ नहीं है और जो अनेक भव के गहन दुःखों को नाश करने में समर्थ ऐसे ग्रहण किये हुए चारित्र को छोड़ देते हैं, ऐसे क्षपक को इस लोक में और परलोक में क्या फल मिलता है? ऐसा पूछने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं-

"जो पुरुष परीषहरूपी भटों (योद्धाओं) से भयभीत होकर चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देते हैं वे इस भूमि पर (इस लोक में) हँसी के पात्र होते हैं और परलोक में दुःखों के पात्र बनते हैं ॥४४॥

शरीर के द्वारा शीत, उष्ण, भूख-प्यास आदि के घातक होने से, दुख देने वाले होने से परीषहों को भट (योद्धा) कहा है। जहाँ पर व्रत, समिति, गुप्ति आदि सैन्य के ग्रहण करने से जिसका प्रभुत्व बढ़ रहा है, ऐसा स्वस्वरूप में स्थिरतारूप साम्राज्य का भोक्ता आत्मा रूपी राजा, निर्बाध भेद विज्ञान रूपी तलवार के द्वारा अनादिकालीन काम, क्रोध, मोहादि सेना का स्वामी कर्म रूपी शत्रुओं का विध्वंस करता है इसलिए चारित्र को संग्रामभूमि कहा है।

इस गाथा में रूपक अलंकार है। इसमें परीषहों को योद्धाओं की उपमा दी है और चारित्र को संग्राम-भूमि कहा है। जिस प्रकार योद्धाओं से भयभीत होकर जो राजा रणभूमि छोड़कर भाग जाता है, वह हास्य का पात्र बनता है और दुःखों का स्थान होता है उसी प्रकार जो क्षपक परीषह रूपी योद्धाओं से भयभीत होकर

दु:क्खाणं दु:खानां अनंतसंसार-संभवसकलाकुलत्वोत्पादकत्वात्मकलक्षणानां **णिलया** निलया: स्थानानि तद्रूपवस्तुसमाश्रयत्वात् ते चारित्रभोक्तार: भवंति यस्मादेव तस्मादिहलोकफलहानिमवलोक्य मा चारित्रं त्यजंतु मुनय: परिणामपरावर्तनतया तत्क्षणविध्वंसत्वात् किं मे परीषहवराका: करिष्यंति इति दृढतरं चित्तं विधाय परीषहदु:खमवगणय्य शुद्धपरमात्मानं भावयेति तात्पर्यम् ॥४४॥

अथ गाथाया: पूर्वार्धेन यदि परीषहेभ्यो भीतस्तदा गुप्तित्रयमेव दुर्गमाश्रय अपरार्धेन च मोक्षगतं मनोवाणं विधेहीति शिक्षयति-

परिसहपरचक्कभिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।
ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं॥४५॥

परीषहपरचक्रभीतो यदि तदा प्रविश गुप्तित्रयगुप्तिम्।
स्थानं कुरुष्व स्वस्वभावे मोक्षगतं कुरुष्व मनोवाणम् ॥४५॥

चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देता है, चारित्र का नाश करता है, वह इस लोक में सज्जनों के मध्य उपहास का पात्र बनता है और दुर्जन जनों के द्वारा अंगुली उठाकर बताना, भ्रू विकार, अपशब्द और धिक्कार का पात्र होता है। अर्थात् इस लोक में मानव इसका तिरस्कार करते हैं, इसे अपशब्द कहते हैं और धिक्कार देते हैं। चारित्र का घात करने वाला परलोक में अनन्त संसार के कारणभूत आकुलता-उत्पादक अनन्त दु:खों का भोक्ता बनता है। चारित्र आत्मा का गुण है अत: चारित्रधारी मानव अनन्त सुख का भोक्ता बनता है। इसलिए चारित्र के घात से होने वाली 'इस लोक में अपयश और पर-लोक में अनन्त दु:खों की पात्रतारूप' हानि को देखकर मुनिगण चारित्र को नहीं छोड़ें। परिणाम के परिवर्तन से क्षणध्वंसी होने से यह परीषह मेरा क्या करेगी। अर्थात् परीषह का अनुभव उपयोग से होता है, उपयोग पलट जाने पर बेचारी परीषह कुछ नहीं कर सकती। ऐसा विचार कर अपने चित्त को दृढ़ कर के परीषह सम्बन्धी दु:खों की तरफ लक्ष्य न देकर शुद्ध परमात्मा की भावना भानी चाहिए, शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए। क्योंकि शुद्धात्मा का ध्यान ही संसार-दु:खों का नाशक है ॥४४॥

अथ-गाथा के पूर्वार्ध में कहा है कि यदि आत्मन् ! तू परीषह रूपी भटों (योद्धाओं) से भयभीत है तो तीन गुप्तिरूपी किले का आश्रय ले। अपर आधीगाथा से कहा है कि अपने मन रूपी बाण को मोक्षस्थान में कर, मोक्ष में लगा। ऐसी आचार्यदेव शिक्षा देते हैं-

हे क्षपक ! यदि तुम परीषह रूपी परचक्र से भयभीत (आकुलित) हो तो तीन गुप्ति रूपी दुर्ग (किले) में प्रवेश करो। तथा अपने निज स्वभाव में स्थान करो, स्थिरता करो और मन रूपी बाण को मोक्षगत करो। अर्थात् मन का लक्ष्य मोक्ष ही होना चाहिए॥४५॥

भो क्षपक **पइसेहि** प्रविश **तो तदा जइ परिसहपरचक्कभिओ** यदि परीषहपरचक्रभीतः कर्मनिर्जरार्थं मुनिभिः परितः सर्वप्रकारेण सह्यंत इति परीषहाः परीषहा एव परचक्रं शत्रुसैन्यं परीषहपरचक्रं तस्माद्भीतः साध्वसाक्रांतः परीषहपरचक्रभीतः यदि त्वं दुःसहपरीषहवैरिवीररजनित-भीतिचलितचित्तोसि तदा प्रविश। कं **गुत्तितयगुत्तिं** गुप्तित्रयगुप्तिं गोपनं गुप्तिः मनोवाक्कायानां सम्यग्निग्रहो गुप्तिः गुप्तीनां त्रयं गुप्तित्रयं गुप्तित्रयमेव गुप्तिः परीषहशत्रूणामगम्यं दुर्गं चिच्चमत्कारमात्रपरमब्रह्मलक्षणं। अत्र मनो-वचनकायगुप्तिकारणं परमसमयसारानुचिंतनमेव। यदुक्तं-

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चिंत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रन्न खलु-समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति॥

तथा **ठाणं कुण सुसहावे** पुनरपि कुरुष्व। किं तत्। स्थानमवस्थानं। कस्मिन्। स्वस्वभावे सहजशुद्धचिदानंदैकस्वभावे निजात्मनि। मुहुः शिक्षां यच्छन्नाह। **मोक्खगयं कुणसु माणवाणं** कुरुष्व। कं।

मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए महर्षियों के द्वारा जो सहन की जाती है, वह परीषह कहलाती है।

परीषह परचक्र (शत्रु का समूह) है। परीषह रूपी परचक्र से भयभीत हुए, हे क्षपक! तू तीन गुप्ति रूपी दुर्ग में प्रवेश कर। अर्थात् जो मानव परचक्र से भयभीत होकर दुर्ग का आश्रय लेता है वह शत्रु को जीत लेता है, वैसे ही परीषह से भयभीत को तीन गुप्ति रूपी दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए। जैसे किले का आश्रय लेकर जो अपने स्थान पर शत्रु का लक्ष्य लेकर बाण चलाता है, वह विजय को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्षपक! तुम भी तीन गुप्ति रूपी दुर्ग का आश्रय लेकर, स्वरूप में स्थिर होकर मन रूपी बाण को मोक्ष में लगाओ अर्थात् कर्मशत्रुओं का भेदन करो।

इस गाथा में रूपक अलंकार है और उपमा-उपमेय भाव है। परीषह को शत्रु की सेना कहा है। परीषह से मन चंचल होता है, जैसे शत्रुसेना को देखकर मानव भयभीत होता है और चारित्र रूपी संग्राम-भूमि को छोड़ना चाहता है। उन परीषह रूपी शत्रुओं से भयभीत क्षपक को सम्बोधित करते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू दुःसह परीषह रूपी शत्रुओं से भयभीत है तो परीषह रूपी शत्रुओं के द्वारा अगम्य मन, वचन, काय रूप तीनों योगों का सम्यक्प्रकार से निरोध करने रूप तीन गुप्ति रूपी किले में प्रवेश कर। वा चिच्चमत्कार मात्र परम ब्रह्म लक्षण तीन गुप्ति रूप दुर्ग का आश्रय ले। वा मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति-कारणभूत परम समयसार का चिन्तन कर। **सो ही समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है-**

अत्यधिक दुर्विकल्प के बोलने से क्या प्रयोजन है; अलं-अलं (उन विकल्पों की चिंता छोड़ो)। नित्य एक परमार्थ का ही चिन्तन करो। स्वकीय रस से परिपूर्ण ज्ञान से विस्फूर्त मात्र समयसार से अन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सर्व कल्याणकारी समयसार (परमशुद्ध चिन्मात्र चैतन्य) का चिन्तन ही सर्वोपरि है।

आचार्यदेव बारम्बार शिक्षा देते हुए कहते हैं कि हे आत्मन्! सहज शुद्ध चिदानन्द एक स्वभाव निज आत्मा में स्थान करो, रमण करो। अपने आपको स्थिर करो और स्वकीय मन रूपी बाण को, सकल

मनोवाणं। मनश्चित्तं तदेवातिचंचलत्वाद्बाण: शर: मनोवाणस्तं मनोवाणं। कीदृशं कुरुष्व। मोक्षगतं सकलकर्मविप्रमोक्षो मोक्षस्तत्र गत: स्थित: मोक्षगत: तं मोक्षगतं अनंतसुखपदप्रतिष्ठितं निजमनो विधेहि। परीषहादिवैरिव्रातजनितातंकं हित्वेति भावार्थ:। यथा कश्चिच्छूर: तनुत्राणेन तनुं परिवेष्य वै शाखादिस्थानं विरचयित्वा वाणं मोक्षगतं विसर्गगतं कुरुते तथा ॥४५॥

परीषहदवदहनतप्तो यदि ज्ञानसरोवरे प्रविशति जीवस्तदा किं लभते इत्यावेदयत्याचार्य:-

परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।
ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो ॥४६॥

परीषहदवाग्नितप्त: प्रविशति यदि ज्ञानसरोवरे जीव:।
स्वस्वभावजलप्रसिक्तो निर्वाणं लभते अविकल्प: ॥४६॥

परिसहदवग्गितत्तो परीषहदवाग्नितप्त: उक्तलक्षणा: परीषहास्त एव दवाग्नि: क्षुत्पिपासादिभि: शरीरसंतापजनकत्वात् तेन तप्त: सन् **जीवो** जीव: आत्मा **णाणसरवरे** ज्ञानसरोवरे अमीभि: परीषहैर्यद्बाध्यते तदहं न भवामि योऽहं स परीषहलेशैरपि स्पृष्टुमपि न शक्य:। शरीरात्मनोरत्यंतमंतरमिति लक्षितत्वादित्यादि **भेदज्ञानं** तदेव सरोवरं तत्तापापोहाय मोहापोहिभिरवगाहितत्वात् **जइ पविसइ** यदि प्रविशति यदि प्रवेशं करोति तदा। किं भवतीत्याह। **ससहावजलपसित्तो** स्वस्वभावजलप्रसिक्त: तत्र स्वस्वभाव:

कर्म से रहित एवं अनन्त सुख पद में स्थित मोक्ष पद में लगावो। अर्थात् परीषहों रूपी वैरियों के समूह से उत्पन्न आतंक (मनोविकार) को छोड़कर अपने मनको मोक्षमार्ग में स्थिर करो। जैसे कोई शूरवीर योद्धा तनुत्राण (कवच) से अपने शरीर की रक्षा करके (कवच को पहनकर) शत्रु पर बाण छोड़ता है और शत्रु के बाण को सहन करता है उसी प्रकार हे आत्मन्! तुम भी गुप्ति रूपी कवच को पहनकर परीषह रूपी शत्रुओं के बाणों को सहन करो और स्वकीय मन रूपी बाण को मोक्ष में स्थिर करो ॥४५॥

"यदि परीषह रूपी दावानल से संतप्त जीव ज्ञानरूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो उसको क्या प्राप्त होता है ?" ऐसा प्रश्न करने वाले शिष्य को आचार्य कहते हैं-

परीषह रूपी दावानल से संतप्त हुआ यह संसारी प्राणी यदि ज्ञान रूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो स्वस्वभाव रूपी जल से अभिषिक्त होने से निर्विकल्प होकर वेदना को भूलकर निर्वाण को प्राप्त करता है ॥४६॥

क्षुधा (भूख), प्यास, शीत, उष्ण आदि के द्वारा शरीर को संतापकारी होने से परीषह को अग्नि कहा है। उस परीषह रूपी अग्नि से संतप्त हुआ प्राणी (भव्यात्मा) "मैं शरीर से अत्यन्त भिन्न हूँ, इन परीषहों के द्वारा मैं बाध्यमान (दु:खी) नहीं हो सकता, ये मेरे निज स्वरूप को घात वा विकल करने में समर्थ नहीं हैं," इस प्रकार शरीर के मोह को दूर करने वाले और निज स्वरूप का अनुभव कराने वाले भेदविज्ञान रूपी सरोवर में प्रवेश करता है तो सहज शुद्ध चैतन्य निर्विकार परमात्मा स्वरूप मेघ (बादल) से उत्पन्न,

स्वकीयशुद्धपरमात्मनः स्वभावः परमानंदमयः स एव जलं पानीयं सहजशुद्धचैतन्यनिर्विकारमात्मस्वरूपमेघजन्यत्वात् तेन प्रसिक्तः अभिषिक्तः किं करोति। **अवियप्पो** अविकल्पो भूत्वा **णिव्वाणं** निर्वाणं परमाह्लादलक्षणं लभते प्राप्नोति। यथा कश्चन दावाग्निना दह्यमानः सन् सरोवरे प्रविशति तत्र जलेन प्रसेव्यमानः शैत्यं प्राप्नोति तथासौ परीषहदावाग्निना दह्यमानो ज्ञानसरोवरमवगाह्य निर्वाणं प्राप्नोतीति तात्पर्यं॥४६॥ एतेन परीषहजयं व्याख्यायाधुना क्रमायातमुपसर्गसहनमितीदं पंचमस्थलं षड्भिः गाथाभिः प्रथयति।

तत्र यदि कथमपि मुनेर्दुःखजनका उपसर्गा भवंति तदा तेन ते किं कर्तव्याः भवंतीत्याह-

जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दुहजणया।
ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण॥४७॥

यदि भवंति कथमपि यतेरुपसर्गा बहुविधा खलु दुःखजनकाः।
ते सोढव्या नूनं समभावनाज्ञानचित्तेन॥४७॥

जइणो यतेर्मुनीश्वरस्य **कहवि** कथमपि पुरा दुरर्जितकर्मोदयेन **बहुविहा** बहुविधाः सचेतनाचेतनप्रभवाः **दुहजणया** दुःखजनका दुःखोत्पादका **उवसग्गा** उपसर्गा उपद्रवलक्षणा **जइ हुंति** यदि भवंति हु खलु। ते उपसर्गाः। किं कर्तव्याः। **सोढव्वा** सोढव्या नूनं अंगीकर्तव्याः। केन। मुनिना। किं

परमानन्दमय, स्वकीय शुद्ध परमात्म स्वभाव रूप जल से अभिषिक्त (सिंचित) होने से निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है- स्वकीय स्वभाव में स्थिर हो परम शांति का अनुभव करता है और सम्पूर्ण कर्मराशि का नाश कर परम आह्लाद (आनन्द) मय निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

जैसे दावाग्नि से संतप्त कोई प्राणी सरोवर में प्रवेश करता है और उस में शीतल जल से अभिषिक्त होने से शीतलता (दावानल के दाह-शांति) का अनुभव करता है, वैसे ही परीषह रूपी दावानल से संतप्त हुआ कोई भव्य प्राणी, निज स्वभाव रूप ज्ञान सरोवर में प्रवेश करता है, तो निजात्मानुभव रूप जल से सिंचित होने से परम शांति का अनुभव करता है और परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इसलिए हे क्षपक! परीषह से उत्पन्न दुःख दावानल को शांत करने के लिए निज स्वभाव के चिन्तनरूप ज्ञान-सरोवर में प्रवेश करो॥४६॥

इस प्रकार परीषह-जय का व्याख्यान करके अब उपसर्ग सहन करने के लिए सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव छह गाथाओं के द्वारा पंचम स्थल को कहते हैं-

हे क्षपक ! यदि मुनिराज को किसी प्रकार से बहुविध दुःखों के जनक उपसर्ग आते हैं तो समभावना से युक्त चित्त से उन्हें सहन करना चाहिए॥४७॥

किसी भी प्रकार से बहुत प्रकार के दुःखजनक उपसर्ग आते हैं तो मुनिराजों को समभावना ज्ञान चित्तके द्वारा उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

विशिष्टेन। **समभावणणाणचित्तेण** समभावनज्ञानचित्तेन दुःखे सुखेऽमित्रे मित्रे वने भवनेऽलाभे काचे सुवर्णे समाना भावना समभावना प्रोच्यते। कस्मात्। तदवस्थायां रागद्वेषयोरभावात्। समभावनायां यत्स्वसंवेदनज्ञानं समभावनज्ञानं चित्ते यस्यासौ समभावनज्ञानचित्तः तेन समभावनज्ञानचित्तेन। तथा चोक्तं ज्ञानार्णवे-

सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा,
पल्यंके कंटकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्म चीर्णांशुकेषु।
शीर्णांगे दिव्यनार्यामशमनमवशा स्वस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥

ततो नानाविधेषु घोरोपसर्गेषु उपढौकितेषु सत्स्वपि मुमुक्षुणा मुनिना निजचिरदुरर्जितकर्मविपाकं बुद्धा निरुपद्रवशुद्धपरमात्मस्वसंवेदनज्ञानभावनाबलेन शरीरे ममतां परिहाय समतामवलंब्य स्थातव्यमिति-तात्पर्यम्॥४७॥

णाणमयभावणाए भावियचित्तेहिं पुरिससीहेहिं।
सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥४८॥

ज्ञानमयभावनया भावितचित्तैः पुरुषसिंहैः।
सोढा महोपसर्गा अचेतनादिकाः चतुर्भेदाः॥४८॥

पूर्व में उपार्जन किये हुए कर्मों के उदय से सचेतन, अचेतन आदि अनेक प्रकार के दुःखजनक उपसर्ग आते हैं तो मुनीश्वरों को शत्रु में, मित्र में, सुख में, दुःख में, वन में, भवन में, लाभ में, अलाभ में, काच में और सुवर्ण में समभावना (समान भावना) ज्ञान वा स्वसंवेदन ज्ञान से अनुरंजित चित्त से (वा) रागद्वेष के अभाव से उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए। सोही **ज्ञानार्णव** में कहा है-

ऊँचे-ऊँचे महल और मसान में, स्तुति करने पर और गाली देने पर, कीचड़ में और केशर में, पलंग में और कंटक के अग्र भाग में, पत्थर में और चन्द्रकान्त मणि में, चर्म वस्त्र में और रेशमी वस्त्र में, जीर्ण शीर्ण शरीर वाली स्त्री में और दिव्य देवांगना सम सर्वांग सुन्दरी में समता के अभाव में चित्त अनेक प्रकार के विकल्पों से आलीढ़ नहीं हुआ है। अर्थात् जिस प्राणी का मन समता रस से अभिषिक्त है; सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि विकल्पों से रहित है, वही एक कुशल क्षपक ज्ञानी महापुरुष साम्यभाव की लीला के विलास को प्राप्त कर सकता है और उपसर्गों को सहन कर सकता है, उपसर्ग विजयी हो सकता है।

इसलिए नाना प्रकार के घोरोपसर्ग आने पर भी मुमुक्षु मुनिराज को 'ये उपसर्ग मेरे पूर्वोपार्जित दुष्कर्मोंका विपाक हैं' ऐसा समझकर निरुपद्रव शुद्ध परमात्म स्वसंवेदन ज्ञान भावना के बल से, शरीर की ममता का परित्याग करके और समता का अवलम्बन लेकर सहज शुद्ध आत्मस्वभाव में लीन होना चाहिए।

'ज्ञान भावना से क्या करना चाहिए' ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं-

''ज्ञानमय भावना से भावित (अनुरंजित) चित्त वाले पुरुषसिंह (श्रेष्ठ पुरुष) के द्वारा अचेतन आदि चार भेद वाले महा उपसर्गों (उपद्रवों) को सहन करना चाहिए॥४८॥

णाणमयभावणाए ज्ञानमयभावनया ज्ञानेन निर्वृत्ता यासौ भावना वासना सा ज्ञानमयभावना तया ज्ञानमयभावनया **भावियचित्तेहिं** भावितचित्तैर्वासितांतरंगै: **पुरिससीहेहि** पुरुषसिंहै: पुरुषप्रधानै:। अत्र प्रशस्यवाची पुरुषदस्यांते सिंहशब्द: अमरकोशाद्यभिधानेषूक्तवान्। **अचेयणादीय** अचेतनादिका **चउभेया** चतुर्भेदाश्चतु:प्रकारा: **महोवसग्गा** महोपसर्गा: महांतश्चते उपसर्गाश्च **महोपसर्गा:**। महांतश्चेति विशेषणे कृते कोर्थ:। **तैरपि** पुरुषसिंहैर्मनागपि मनोविक्षेपकरैः क्षोभं नावश्यं नान्यै: सामान्यै: कानरत्वेनासहमानत्वादित्यर्थ: **सहिया सोढा:** 'षह मर्षणे' क्षमिता योगधैर्याविर्भावहेतुभूतायां बाधायां सत्यामपि मनसि मनसा वा येषां सहनं न सर्वो भवतीति किंतु निर्जरार्थं तेषामपि सहनमेवेत्यर्थ: ॥४८॥

ननु चेतनादयश्चतुर्भेदा उपसर्गा निर्दिष्टास्ते के कैश्च ते सोढा इति प्रश्ने कृते गाथापूर्वार्धेनाचेतनाकृतोपसर्गा अपरार्धेन तिर्यक्कृतश्च अचेतनकृतोपसर्गसोढारं शिवभूतिनामादिं कृत्वा प्रथयति-

सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु चेयणारहिओ।
सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥४९॥

सिंह शब्द प्रशंसनीय वा प्रधानवाची है। **अमरकोश** में लिखा है कि सिंह, वृषभ, गज आदि शब्द श्रेष्ठ अर्थ में होता है जैसे पुरुषसिंह, मुनिपुंगव, मुनिकुंजर इत्यादि।

सामान्य से उपसर्ग **एक** प्रकार का है, चेतन-अचेतन के भेद से **दो** प्रकार का है। चेतन उपसर्ग तिर्यंचकृत, देवकृत और मनुष्यकृत के भेद से तीन प्रकार का है। तथा अचेतनकृत, देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंच कृत के भेद से **चार** प्रकार का है।

कातर पुरुष उपसर्ग सहन नहीं कर सकते हैं अत: पुरुषसिंह कहा है।

ज्ञानमय भावना के द्वारा महान् पुरुषों को अचेतन आदि चार प्रकार के उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

कायर पुरुष तथा मनाक् भी मन विक्षिप्त वाले पुरुष उपसर्ग सहन नहीं कर सकते।

षह् धातु मर्षण अर्थ वा क्षमा अर्थ में है। किसी सांसारिक कारणवश कष्टों को सहन करना सरल है। परन्तु निर्जरा और आत्मविशुद्धि की प्राप्ति के लिए कितने ही प्रकार की बाधा आने पर भी योग, धैर्य के द्वारा वा आत्मचिन्तन के द्वारा मानसिक भावनाओं से महोपसर्गों को सहन करना कठिन है। अत: सांसारिक भोग-वाञ्छाओं से रहित होकर कर्मनिर्जरार्थ उपसर्ग सहन करना चाहिए ॥४८॥

चेतनादि चार प्रकार के उपसर्गों का निर्देश किया है। वे उपसर्ग किन्होंने सहन किये हैं? ऐसा पूछने पर आचार्य-देव गाथा के पूर्वार्ध में अचेतन कृत उपसर्ग सहन करने वालोंका और गाथा के अपरार्ध द्वारा तिर्यञ्चकृत उपसर्ग सहन करने वाले शिवभूति आदि के नाम मात्र का कथन करते हैं-

शिवभूति नामक मुनिराज ने अचेतनकृत महा-उपसर्ग सहन किया था और सुकुमाल और सुकोशल मुनिराज ने तिर्यंचकृत महा भयंकर उपसर्ग सहन किया था ॥४९॥

शिवभूतिना विसोढो महोपसर्गः खलु चेतनारहितः।
सुकुमालकोसलाभ्यां च तिर्यक्कृतो महाभीमः॥४९॥

विसहिओ विसोढः विशेषेण चिदानन्दोत्थपरमसुखामृतरसास्वादबलेन षोढः। कोसौ **महोवसग्गो** महोपसर्गः महांश्चासौ उपसर्गश्च महोपसर्गः छेदनभेदनमारणादिरूपः। केन विषोढः। **सिवभूइणा** शिवभूतिना। शिवभूतिर्नाम कश्चिद्राजकुमारस्तेन शिवभूतिना। कीदृशः उपसर्गः।

चेयणारहिओ चेतनारहितः अचेतनैरग्निजलपाषाणशिलापातादिभिः कृतत्वादुपसर्गोप्यचेतनः शिवभूतिना अचेतनमहोपसर्गो यथा सोढास्तत्कथामाख्याति-

चंपापुर्यामभूद्भूपो विक्रमः स्मेरविक्रमः।
शिवभूतिः सुतस्तस्य शिववद्भूतिभूपतिः॥

तदात्वोद्भूतवात्याभिः खंडशः कृतमंबरे।
वीक्ष्यान्यदा स सांद्राभ्रं मनसीति विचिंतयत्॥

थिग् धिग् भवमिमं यत्र सुखं नैवात्र किंचन।
तथापि नैव बुध्यंते महामोहा हहांगिनः॥

क्षणप्रध्वंसिनो दुष्टकायस्यास्य कृते कथम्।
बह्वारंभा विधीयंते मोहेनांधं भविष्णुभिः॥

चिदानन्द के रसास्वाद से उत्पन्न परम सुखामृत रस के आस्वादी शिवभूति नामक राजकुमार मुनिराज ने अचेतन अग्नि जल, षाषाण, शिलादि के पतन से उत्पन्न अचेतनकृत महा-उपसर्ग सहन किया था।

चम्पापुरी नगरी में महापराक्रमी विक्रम नामक राजा हुआ था। उस राजा के शिव के समान विभूति वाला शिवभूति नामका पुत्र था। एक दिन वह शिवभूति राजपुत्र अपने महल की छत पर बैठकर आकाश की प्राकृतिक शोभा देख रहा था। उस निर्मल अकाश में मेघों से बने हुए अति रमणीय मन्दिर को एक क्षण में वायु के झकोरों से विघटित होते हुए देखकर मन में चिंतन करने लगा, "अहो! ये सांसारिक सुख, इन्द्रियभोग, वैभव बादल वा बिजली के समान क्षणभंगुर हैं, नाशवंत हैं, संसार में क्षण मात्र वा लेश मात्र भी सुख नहीं है, यह दुःखों से भरा हुआ है। हा! हा! संसार को धिक्कार हो। तथापि ये महामोही प्राणी संसार की अवस्था को नहीं जानते हैं। अहो ! ये मोह से अंधे हुए प्राणी क्षणध्वंसी अपवित्र मल-मूत्र की खान दुष्ट काय के लिए बहु आरम्भ करते हैं। पंचेन्द्रिय-विषय-भोगों के लिए हिंसादि पापों का आचरण करके नरकादि दुर्गतियों में गिरते हैं और महा दुःखों को भोगते हैं। परन्तु आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं।" ऐसा विचार करके शिवभूति राजकुमार ने संसार और शरीर से विरक्त होकर मुनिराज के चरण-कमलों में जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करली।

इति वैराग्यरंगेन रंगितात्मा स तत्क्षणात्।
भोगांस्त्यक्त्वा तृणानीव जैनीं दीक्षामश्रियत्॥
अभ्यस्यन् स ततो योगं तपस्यन् दुस्तपं तपः।
वनेऽन्यदा प्रतिमया तस्थौ क्वापि तरोस्तले॥
तदा ज्वलन्मिथो वंशघर्षणोत्थदवानलः।
ज्वलद्दारुस्फुटद्वंशत्रुटच्छब्दभयंकरः॥
अविशेषतया सर्वं ज्वालयन्स दवानलः।
अपीडयत मुनिमपि क्व विवेको ह्यचेतने॥
तस्थौ तरोस्तले यस्य ज्वलतो वह्निना तनोः।
निपेदवद्भिरालातैः प्रत्यंगं स कदर्थितः॥
एवं दावानलेनोच्चैरालीढोप्येष सर्वतः।
मनागप्यचलद्ध्यानान्नारिरद् दृढता सताम्॥

उक्तं च समयसारे-

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेपि पतंत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥

भोग और संसार के वैभव जीर्णतृण के समान हैं, नाशवंत हैं, ऐसा समझकर और शरीर से ममत्व का परिहार कर वे घोर तपश्चरण करने लगे। एक दिन शिवभूति मुनिराज वृक्ष के नीचे प्रतिमा योग से बैठकर आत्मा का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय दो बाँसों के परस्पर संघर्षण से भयंकर दावानल उत्पन्न हुई। चारों तरफ से वृक्षों के टूटने से घोर आवाज हो रही थी। पशुओं का चीत्कार मानव-हृदय को विदार रहा था। महाभयंकर राक्षस के समान दावानल ने सारे वनको जलाते हुए मुनिराज को भी अपना ग्रास बना लिया। ठीक ही है, अचेतन को विवेक कहाँ होता है! वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुनिराज के प्रत्येक अंग कदर्थित हो रहे थे। लकड़ी के समान सारा शरीर जल रहा था। दावानल की ऊँची-ऊँची ज्वाला से मुनिराज का सारा शरीर व्याप्त हो गया था। परन्तु शुद्धात्म ध्यान में लीन मुनिराज अपने ध्यान से च्युत नहीं हुए। ठीक ही है- सज्जन पुरुषों की दृढ़ता अलौकिक होती है।

सो ही **समयसार कलश** में **अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है- "सम्यग्दृष्टि महापुरुष ही इस प्रकार का साहस करने में समर्थ होते हैं। भय से चलायमान होकर तीन लोक के प्राणी सन्मार्ग को छोड़ देते हैं, ऐसे वज्रपात के होने पर भी ये महामुनि स्वाभाविक निर्भयता से सारी शंका (भय) को छोड़कर अबध्य (निर्घात) ज्ञानमय शरीर वाले स्व को जानकर निज ज्ञान से च्युत नहीं होते हैं। अर्थात् मैं अखण्ड, अबाध, नित्य, अविनाशी ज्ञानमय शरीर वाला हूँ। मेरा किसी भी कारणों से नाश नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर के महामुनि घोरोपसर्ग आने पर भी स्वकीय ज्ञान-ध्यान से कभी च्युत नहीं होते।

भावयन् स पर ब्रह्म छित्वा दुःकर्मसंचयम्।
केवलज्ञानमासाद्य बभूवे मोक्षमक्षयम् ॥

इति शिवभूतिकथा। अथ तिर्यक्कृत उपसर्ग उभाभ्यां सोढस्तमाख्याति।

तिरियंचकओ तिर्यक्कृतः तिर्यग्भिः व्याघ्रसिंहशूकरसर्पसैरिभसौरभेयशृगालादिभिः कृत उपसर्गः तिर्यक्कृतः सोढः। काभ्यां **सुकुमाल-कोसलेहि** सुकुमालकोशलाभ्यां सुकुमालश्च कौशलश्च सुकुमालकोशलौ ताभ्यां सुकुमालकोशलाभ्यां। कथंभूत उपसर्गः। महाभीमः अतिशयेन भयानकः। सुकुमालकोशलाभ्यां तिर्यक्कृत उपसर्गः सोढः। कथं सोढस्तदनयोः कथा। अथ जंबूद्वीपस्य भारते कौशांबीनगर्यां विनमन्नरपालमौलि-मालाशोणमणिकिरणकाश्मीरपूरातुरंगजितचरणकमलोऽतिबलो नाम राजाभूत्। तत्पुरोधाः राजसदसि प्राप्तप्रतिष्ठश्चतुर्वेदाभिज्ञः व्याकरणप्रमाणकवितारत्नरत्नाकरः विष्णुभक्तितत्परः प्रतिदिनमाचरितषट्कर्मा सोमशर्मा नाम तत्पत्नी काश्यपी तत्पुत्रावुभौ अग्निभूतिमरुभूतिनामानौ। अथैकदा द्विजन्मा पुत्रद्वयं प्रत्याह, रे सुतौ श्रुताभ्यासं भवंतौ तनुतं। यदुक्तम्-

---

शिवभूति महामुनि अनन्त ज्ञानमय अखण्ड अविनाशी शुद्धात्मा की भावना से दुष्कर्मों के संचय का नाश कर अविनाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो गये। अचेतन कृत उपसर्ग को सहन करने वाले शिवभूति मुनिराज की कथा समाप्त हुई।

हे क्षपक ! इस प्रकार शिवभूति मुनिराज का चिंतन कर धैर्यशाली बनो। घोरोपसर्ग आने पर भी निज स्वभाव से च्युत मत होवो? स्वकीय निजानन्द रस का पान कर अनन्त सुख का अनुभव करो।

व्याघ्र, सिंह, शूकर, सर्प, कुत्ता, बैल, शृगाल आदि द्वारा किया हुआ उपसर्ग तिर्यंचकृत उपसर्ग कहलाता है। तिर्यंचकृत उपसर्ग को सहन करने वाले मुनि सुकुमाल और सुकोशल की कथा कहते हैं-

सुकुमाल और सुकोशल मुनिराज ने तिर्यञ्चकृत घोर उपसर्ग सहन किया। आत्मध्यान में लीन होकर घोर दुःख आने पर भी वे अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए।

※ सुकुमाल की कथा ※

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की कौशाम्बी नगरी में एक अतिबल नामक राजा राज्य करता था, जो पराक्रमी था, बड़े-बड़े राजा जिसके चरणों में झुके रहते थे। हाथी-घोड़ों आदि की विशाल सेना उसके चरणों की सेवा करती थी।

उस राजा की राजसभा में चारों वेदों का ज्ञाता, व्याकरण-छन्द-कविता का सागर, विष्णुभक्ति में तत्पर प्रतिदिन षट्कर्म का आचरण करने वाला और महान् प्रतिष्ठाप्राप्त सोमशर्मा नामक राजपुरोहित रहता था। उसके काश्यपी नामक पत्नी थी और अग्निभूति एवं मरुभूति (वायुभूति) नामक दो पुत्र थे।

एक दिन राजपुरोहित ने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर कहा- हे पुत्रो ! आप दोनों श्रुत का अभ्यास करो। सो ही कहा है-

भवति ह्यपि समूलोन्मूलने मत्तदंती
जडमतिभिरनाशे पद्मिनीप्राणनाथः।
नयनमपरमेतद्विश्वविश्वप्रकाशे
करणहरिणबंधे वागुराज्ञानमेतत्॥

अधीतशास्त्रः प्रज्ञावानपि भवति सर्वेषां गोचरः अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं पुरुषाणां तृतीयं लोचनं अनधीतशास्त्रः चक्षुष्मानपि पुमानंध एव इति प्रतिबोधितावपि तौ नाधीयाते प्रत्युत पितरं क्लेशं नयतः। यदुक्तं-

प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्।
निर्लूननासिकस्यैव विशुद्धादर्शदर्शनम्॥

तद्दुष्टचेष्टौ पश्यन् विषयभोगयोगादुत्पन्नरोगो विप्रोऽकांडेपि मृतः। अथ कियत्सु वासरेष्वतीतेषु राज्ञा तौ पुरोहितसुतावाहूय स्मृत्यर्थं पृष्टौ। देव न जानीवहे इत्युत्तरं चक्रतुः। भूपेन अनध्ययनो ब्राह्मणोऽयाजनो देवानामिति विमृश्य तौ पुरोहितपदान्निराकृतौ। ततः पुरोहितभार्या अत्यर्थं दुःखिता सती उपभूपं गत्वा

सारे वृक्षों को उखाड़ने में समर्थ मदोन्मत्त हाथी जड़मति होने से सूर्य का नाश करने में समर्थ नहीं है। विश्व को प्रकाशित करने में यह ज्ञान ही अपर (अद्वितीय) नेत्र है। यह ज्ञान ही इन्द्रिय रूपी हरिण को बाँधने के लिये नाल है।

"शास्त्रज्ञ, प्रज्ञावान पुरुष सबके गोचर होता है अर्थात् वह सर्वके द्वारा पूजनीय होता है। उस पुरुष को लोचन के अगोचर पदार्थ भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं। शास्त्र पुरुषोंका तीसरा लोचन (नेत्र) है। जिसने ज्ञानार्जन नहीं किया है वह पुरुष चक्षुवाला होते हुए भी अंधा ही है।" इस प्रकार पिता के द्वारा समझाने पर भी उन दोनों ने विद्या उपार्जन करने में प्रयत्न नहीं किया अपितु क्रोधी होकर माता-पिता को कष्ट देने का प्रयत्न किया। सो ही कहा है-

"प्रायः करके मूर्ख को सन्मार्ग का उपदेश देना क्रोध के लिए होता है, जैसे-नाक कटे मनुष्य को विशुद्ध (निर्मल) दर्पण दिखाना क्रोध के लिए ही होता है।"

उन दोनों दुष्ट पुत्रों की चेष्टाएँ देखकर तथा विषयभोग के योग से उत्पन्न रोग से राजपुरोहित अकाल में ही मरण को प्राप्त हो गया। अर्थात् मानसिक रोग और शारीरिक रोग के कारण वह अकाल में ही मृत्यु का ग्रास बन गया।

कुछ दिन बीतने के बाद राजा ने राजपुरोहित के दोनों पुत्रों को बुलाकर स्मरण कराते हुए कुछ प्रश्न पूछे। राजपुरोहित के पुत्रों ने कहा- राजन्! हम कुछ नहीं जानते। राजा ने उन मूर्खों को राजपुरोहित पद के अयोग्य समझ कर पुरोहित पद से च्युत कर दिया और उनकी आजीविका छीन ली। वे दोनों पुरोहित-पुत्र अपनी माता के पास गये और राजा के द्वारा किये गए व्यवहार को माता को सुनाया; जिसको सुनकर माता अति दुःखित होकर राजा के समीप आकर कहने लगी-"हे राजन्! आपने मेरे पुत्रों की आजीविका क्यों छीन ली और उनको पिता का पद क्यों नहीं दिया?"

जजल्प। भो महीमहेंद्र किमिति मत्तनयौ हतवृत्ती विहितौ। राजा जगाद। तवात्मजौ निरक्षरशिरोमणी अतोंत:सभं कामप्यभीष्यां न लभेते। यदुक्तं-

विद्वज्जनानां खलु मंडलीषु मूर्खो मनुष्यो लभते न शोभाम्।
श्रेणीषु किं नाम सितच्छदानां काको वराक: श्रियमातनोति॥

अथ तनयावाहूय ब्राह्मणी प्रोवाच। रे मद्यौवनवनच्छेदे कुठारौ नृपसदसि प्राप्तमानखंडनयोर्युवयो: मरणमेव शरणं। यदुक्तं-

मा जीवन् य: परावज्ञादु:खदग्धोपि जीवति।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिण:॥

अथ सुतावूचतु:। मातर्जहीहि कोपं देहि शिक्षामत: परं कथमावयो: शास्त्रपाठलाभ:। साह। राजगृहे नगरे भावत्क: पितृव्यो विदितव्याकरणोऽधीततर्कशास्त्रो न्यायशास्त्रपाथोधिपारीण: परवादिशिर:करोटीकुट्टक: सूर्यमित्र: सांप्रतं नि:शेषमनीषिशिरोमणिर्वरीवर्ति तदितस्त्वरितं गत्वा तमाराध्य विद्याभ्यासं युवामाचरतां। तौ च तन्मातृवचनं निशम्य राजगृहनगरं त्वरितमगमतां। तत्र सूर्यमित्रसदनं सद्य: प्रविश्य उपाध्यायं च नमस्कृत्य

पुरोहित-भार्या की बात सुनकर राजा ने अत्यन्त खेद-खिन्न होते हुए कहा- "हे माता! तेरे पुत्र निरक्षर शिरोमणि हैं (अज्ञानी हैं) अत: राजसभा में बैठने योग्य नहीं हैं तथा किसी भी पद के योग्य नहीं हैं।" सो ही कहा है-

"विद्वानों की सभा में मूर्ख मानव शोभा को प्राप्त नहीं होता। हंसों की श्रेणी में क्या बेचारा कौआ शोभा को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं।" पुत्रों को बुलाकर कहा- "हे मेरे यौवन को छेदने के लिए कुठार! राजा की सभा में मानखण्ड को प्राप्त हुए तुम दोनों के मरण ही शरण है अर्थात् अपमान से जीवित रहने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है। कहा भी है- "दूसरों के तिरस्कार रूपी अग्नि से (दूसरे के अपमानजनक वचन सुनकर) जलकर जीवित रहने की अपेक्षा तो जननी को (माता को) क्लेशकारी पुत्रों का मरण ही अच्छा है।

दोनों पुत्रों ने कहा-"माता! कोप छोड़ो, हम दोनों को शिक्षा दो कि हम दोनों को शास्त्रपठन का लाभ कैसे हो? हम ज्ञानी कैसे बनें?"

पुत्रों की बात सुनकर माता ने कहा- "हे पुत्रो! राजगृह नगर में व्याकरण, तर्कशास्त्र और न्यायशास्त्र रूपी सागर का पारगामी, परवादियों की शिर रूपी करोटी को कूटने वाला अर्थात् परवादियों को वाद-विवाद में जीतने वाला और सम्पूर्ण भूमण्डल के विद्वानों में शिरोमणि सूर्यमित्र नामक तुम्हारा चाचा रहता है। तुम दोनों यहाँ से शीघ्र ही उसके पास जाकर, उसके चरणों की आराधना कर विद्याध्यास करो।

माता के वचन सुनकर वे दोनों शीघ्र ही राजगृहनगर में आये और सूर्यमित्र के घर में प्रवेश कर तथा उपाध्याय को नमस्कार कर उसके सामने भूमि पर बैठ गये। सूर्यमित्र उपाध्याय ने उस अपूर्व युगल

तत्पुरो भूमावुपविष्टौ। सूर्यमित्रोपि तद्युगलमपूर्वमालोक्य विस्मयवांतचेता: अपृच्छत्। कौ युवां कस्मादागतौ कस्यात्मजौ किमिह करणीयं चेति। तावूचतु:। कौशाम्ब्या आगतौ सोमशर्मात्मजौ अग्निभूतिमरुद्भूतिनामानौ त्वमाराध्यावां शास्त्राभ्यासं चिकीर्षाव:। सूर्यमित्रोपि मदीयज्येष्ठभ्रातृपुत्राविमाविति संबंधं जानन्नपि जुगोप। यदि विद्यां जिघृक्षू युवां तदा व्यसनानि त्यजतां यतो व्यसनिनो विद्यासिद्धिर्न भवति॥ यदुक्तं-

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्म:।
विद्याफलं व्यसनिन: कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रणष्टसचिवस्य नराधिपस्य॥

भिक्षाया निजोदरपूरणं गुरुशुश्रूषणं भूमिशयनं च वितन्वतोर्भवतो: श्रुतावधारणशक्ति:। अथ तच्छिष्यद्वयं स उपाध्याय: सभाष्यं व्याकरणमपीपठत् वेदांश्च सांगानध्यजीग्यपत् प्रमाणशास्त्राण्यबूबुधत्। अथ सुप्रसन्ने गुरौ। शिष्योऽवश्यमचिरेणैव विद्यांबुधिपारदृश्वा भवत्येव॥ यदुक्तं-

---

को आश्चर्य के वशीभूत न होकर सम भावों से पूछा, "तुम दोनों कौन हो? कहाँ से आये हो? किसके पुत्र हो? यहाँ पर किस लिए आये हो?।"

उन दोनों ने कहा- "हम दोनों कौशाम्बी नगरी से आये हैं। सोमशर्मा नामक राजपुरोहित के पुत्र हैं। हमारा नाम अग्निभूति और मरुभूति है। हम दोनों आपकी आराधना करके शास्त्राभ्यास करना चाहते हैं।"

सूर्यमित्र ने भी "ये दोनों मेरे भाई के पुत्र हैं" ऐसे सम्बन्ध को जानते हुए भी अपने सम्बन्ध को प्रगट नहीं किया, छिपाकर रखा क्योंकि यदि इनको अपना सम्बन्ध बता देंगे तो ये विद्या प्राप्त नहीं कर सकेंगे। सूर्यमित्र ने कहा-"यदि तुम दोनों विद्या के इच्छुक हो तो सर्व प्रथम विद्या के घातक सप्त[१] व्यसनों का त्याग करो। क्योंकि व्यसन वाले मानव को विद्या की सिद्धि नहीं होती।" कहा भी है-

"स्तब्ध (आलसी) का यश, मन वचन काय की कुटिलता वाले की मैत्री, क्रियाहीन की कुल-परम्परा, धन के इच्छुक का धर्म, व्यसनी के विद्या का फल, कंजूस का सुख और मंत्रीरहित राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।"

"हे शिष्यो! आप दोनों भिक्षा से उदर पूर्ण करो। (भिक्षावृत्ति से भोजन करो)। गुरु की सेवा करो और भूमि पर शयन करो जिससे शीघ्र ही तुम्हारी श्रुतावधारण शक्ति वृद्धिंगत होगी। अर्थात् शीघ्र ही तुम शास्त्र के पारगामी हो जावोगे।"

इस प्रकार उस उपाध्याय ने दोनों शिष्यों के साथ वार्त्तालाप करके शिष्यों को व्याकरण पढ़ाया। अंग सहित वेदों का अध्ययन कराया और प्रमाणशास्त्र समझाया। वे वेद, व्याकरण आदि शास्त्रों के शीघ्र ही पारगामी हो गये। ठीक ही है, गुरु की प्रसन्नता होने पर शिष्य शीघ्र ही विद्यासमुद्र के पारगामी हो जाते हैं। कहा भी है-

---

१. शिकार खेलना, जुआ खेलना, मदिरापान करना, परस्त्रीसेवन, वेश्यासेवन, मांस खाना, चोरी करना ये सात व्यसन हैं।

गुरोः प्रसादाद्धि सदा सुखेन प्रागल्भमायाति विनेयबुद्धिः।
माधुर्यमाम्रोद्भवमंजराणीमास्वादनात्कोकिलवागिवाशु॥

ततः सूर्यमित्रेण तौ सद्वस्त्राभरणैः संमान्य मम भ्रातृपुत्रौ युवामिति संबंधं प्रकाश्य आत्मपुरं व्रजतमित्युदीर्य च प्रेषितौ। तौ च निजनगरं प्राप्य महीपालं विद्वत्तयानुरज्य स्वपदं लेभाते सुखेन च तस्थतुः। इतश्च राजगृहे जलांजलिं सूर्याय ददतः सूर्यमित्रस्य करान्नृपदत्ता मुद्रिकान्तःकमलं पपात। अथ गृहं गतः सूर्यमित्रो मुद्रिकां हस्तांगुलावपश्यन् किं नृपस्योत्तरं दास्यामीति व्याकुली बभूव। ततः सुधर्ममुनिमष्टांगनिमित्तकोविदं गत्वा च पर्यनुयोगं चकार। यतिरुवाच। भो द्विज मास्म दुःखं कार्षीः यत्र त्वया जलांजलिः क्षिप्ता तत्र करान्निसृत्य पद्मकोशे निपतिता। प्रातः सत्वरं गत्वा गृह्णीथाः। सोपि नान्यथा यतिवचनमिति कृतनिश्चयो निजनिलयमीयिवान्। निशावसाने अंगुलीयकं नलिनांतर्लब्धवान्। अहो दिगंबरा एव नितरां यदभूत् यद्भविष्यति यच्च वर्तते तत्सर्वं सर्वतो विदंति तदहमेतानुपास्य त्रिकालवेदी भविष्यामि इति विमृश्य मतिश्रुतावधिज्ञानलोचनं यतीशं गत्वा कपटेन ववंदे। उवाच च-

"गुरु के प्रसाद से शिष्य की बुद्धि सुख पूर्वक प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाती है। शीघ्र ही विकसित हो जाती है। जैसे आम्रों से उत्पन्न मंजरी (आम्रमंजरी) का आस्वादन करने से कोकिल (कोयल) के वचन शीघ्र ही माधुर्य को प्राप्त हो जाते हैं।"

इसके बाद इन दोनों को विद्या के पारगामी जानकर सूर्यमित्र ने वस्त्राभूषण से उनका सत्कार करके और तुम मेरे ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र हो, ऐसा सम्बन्ध प्रकट कर 'तुम दोनों अपने नगर में जाओ।' ऐसा कहकर उनको अपने नगर को भेज दिया। वे दोनों स्वकीय नगर में जाकर अपनी विद्वत्ता से राजा को अनुरंजित कर राजपुरोहित पद प्राप्त कर सुख से रहने लगे।

एक दिन राजगृहनगर में सूर्य के लिए जलांजलि देते समय सूर्यमित्र के हाथ की अंगुली से निकलकर राजा के द्वारा दी हुई मुद्रिका कमल के भीतर गिर गई।

घर जाकर सूर्यमित्र ने देखा कि उसकी अंगुली में अंगूठी नहीं है। अहो "मैं राजा को क्या कहूँगा" ऐसा विचार कर सूर्यमित्र आकुल-व्याकुल हो गया। दिन भर सर्वत्र खोज करने पर भी जब अंगूठी नहीं मिली तब संध्या काल के समय अष्टाँग निमित्त को जानने वाले सुधर्म नामक मुनिराज के समीप जाकर उसने पूछा कि मेरी अंगूठी मिलेगी कि नहीं? मुनिराज ने कहा कि "हे द्विज (ब्राह्मण) दुःख मत करो, सूर्य को जलांजलि देते समय तुम्हारी मुद्रिका अंगुली से निकलकर कमलकोश में गिर गई है। प्रातःकाल शीघ्र ही जाकर तुम उसे ग्रहण कर लेना।"

सूर्यमित्र भी "मुनिराज के वचन असत्य नहीं होते" ऐसा निश्चय करके अपने घर चला गया।

प्रातःकाल उठकर तालाब के समीप गया और पद्मकोश में अंगूठी प्राप्त कर अत्यन्त आनन्दित हुआ। वह मन में विचारने लगा-"अहो! दिगम्बर साधु ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में होने वाले पदार्थ और उनकी सारी पर्यायों को जानने में समर्थ हैं। मैं इनकी उपासना करके त्रिकाल का ज्ञाता बनूंगा।" ऐसा विचार करके उसने मति, श्रुत और अवधि ज्ञान रूपी लोचन के धारी सुधर्म नामक मुनिराज के पास

रोहणं सूक्तिरत्नानां वंदे वृंदं विपश्चिताम्।
यन्मध्यं पतितो नीचकाचोप्युच्चैर्मणीयते॥

तदहमपि त्वत्पादप्रसादेन त्वमिव ज्ञानी बुभूषामि। मुनिरपि तं सूर्यमित्रमासन्नभव्यं विज्ञाय व्याजहार। भो अहमिव यदि त्वं दिगंबरः स्याः तदा ज्ञानी भवेः। सोपि "दिगंबरो भूत्वा कलां गृहीत्वा पुनः स्वगृहं यास्यामीति विचार्य" जगाद। स्वामिन्मां दीक्षादानेन लघु प्रसादय। मुनिनापि स तपश्चरणं ग्राहितः। सोपि श्रुतपदानि पठन् सद्यः सम्यग्दृष्टिः दृढव्रतश्चाभूत्। यदुक्तं-

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।
अंगारवत् खलो दीप्तोऽमली वा भस्मना भवेत्॥

गुरुमापृच्छ्य तीव्रतपश्चरणं चरन् कौशांबीनगरीं गतवान्। तत्र कांश्चिदुपवासान् कृत्वा पारणार्थमग्निभूतिमरुद्भूतिमंदिरं प्रविशन्। अग्निभूतिरपि सप्तगुणसमन्वितः तस्मै मुनये नवकोटिविशुद्ध्याहारं दत्तवान्, ततो मुनिर्गृहीताहारस्तद्गृहे क्षणं तस्थिवान्। सर्वैरपि द्विजात्मजैर्यतिर्नमस्कृतः। अग्निभूतिना प्रेरितोपि

जाकर कपट से वन्दना की। वह बोला "सूक्ति रूपी रत्नों के सोपान विद्वानों के समूह को मैं नमस्कार करता हूँ, जिनके मध्य में गिरा हुआ नीच काच का टुकड़ा भी उत्तम मणि के समान आचरण करता है। अर्थात् आपका सान्निध्य पाकर मेरे जैसे अज्ञ प्राणी भी विद्वान् बन सकते हैं। हे गुरुदेव ! मैं भी आपके प्रसाद से आपके समान ज्ञानी बनना चाहता हूँ।"

मुनिराज ने भी सूर्यमित्र को आसन्नभव्य समझकर कहा, "भो द्विज! यदि तुम मेरे समान दिगम्बर मुद्रा धारण करो तो मेरे समान ज्ञानी बन सकते हो, अन्यथा नहीं। वह सूर्यमित्र भी "दिगम्बर होकर इनसे त्रिकाल को जानने वाले ज्ञान को ग्रहण कर पुनः घर चला जाऊँगा।" ऐसा विचार कर बोला, "स्वामिन्! इस दीक्षा को प्रदान करने की मुझ पर कृपा करो?" मुनिराज ने भी उसको दैगम्बरी दीक्षा प्रदान की। वह सूर्यमित्र भी श्रुतपदों को पढ़कर शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि और दृढ़ व्रती हो गया। आत्मानुशासन में कहा है-

"भव्य प्राणी शास्त्र रूपी अग्नि में मणि के समान विशुद्ध होकर निर्वाण पद को प्राप्त होता है, और दुष्ट प्राणी अंगार के समान देदीप्यमान होकर भी अन्त में भस्म होकर नष्ट हो जाता है अर्थात् भव्य सम्यग्दृष्टि प्राणी शास्त्रज्ञान को प्राप्त कर निर्मल बनता है, कर्म कालिमा का नाशकर उत्तम पद को प्राप्त करता है और अभव्य ११ (ग्यारह) अंग का पाठी होकर भी आत्मकल्याण नहीं कर सकता। सूर्यमित्र भी शास्त्रज्ञान से सम्यग्दृष्टि होकर भावलिंगी मुनि बन गया।

एक दिन सूर्यमित्र गुरु को पूछकर उनकी अनुमति से घोर तपश्चरण करते हुए कौशाम्बी नगरी में आये। उस नगरी में उपवास के पारणे के लिए उन्होंने अग्निभूति और मरुभूति के घर में प्रवेश किया।

मुनिराज को अपने द्वार पर आये देखकर अग्निभूति का मनमयूर नाच उठा। हर्ष से उसका सारा शरीर रोमांचित हो गया। आनन्दाश्रुसे मुख प्रक्षालित हो गया। उसने सम्मुख जाकर हाथ जोड़कर गद्गद वाणी से "हे भगवन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है," ऐसा उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा देकर पड़गाहन किया। मन-वचन काय शुद्ध है। हे गुरुदेव! घर में प्रवेश करो" ऐसा कहकर घर में लाये, उच्चासन दिया, पाद प्रक्षालन किया, नमस्कार किया और "गुरु देव मन वचन काय शुद्ध है, अन्न जल शुद्ध है, गुरुदेव! भोजन ग्रहण करो।" ऐसे नवधा भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहार दिया।

वायुभूतिर्मुनींद्रं न नमति केवलं जुगुप्सते। पुनरग्निभूतिः प्राह। रे त्वमनेन पाठितः एतादृशं महिमानं च प्रापितस्तत्किमेनं न नौषि। यदुक्तं-

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य च।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम्॥

मरुद्भूतिः ब्रूतेस्म। अनेन दुरात्मनाहं भूमौ शायितः भिक्षान्नेन भोजितः अत्यर्थं क्लेशितः तदेनं वचनेनापि न संभावयामि किं पुनर्नमस्कारेण इति ब्रुवाणो दोषानेव गृह्णाति। यदुक्तं-

गुणानगृह्णान् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः।
चिरंतनाभ्यासनिबंधनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः॥

आहार देते समय श्रावक के सात गुण होते हैं। श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और त्याग। गुणधारी अग्निभूति के द्वारा दिये हुए आहार को मुनिराज ने ग्रहण किया।

आहारदान के आनन्द के अनुभव से गद्गद हुए अग्निभूति ने आहार के पश्चात् धर्मोपदेश के लिए मुनिराज को विनयपूर्वक आँगन में उच्चासन पर बिठाया। सर्व द्विजपुत्रों ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरण कमलों की वन्दना की। परन्तु मरुभूति ने मुनिराज को नमस्कार नहीं किया। अग्निभूति ने मरुभूति को समझाया परन्तु मरुभूति नमस्कार न करके प्रत्युत् निन्दा करने लगा।

अग्निभूति ने कहा, "रे नीच मरुभूति! तुम को इन्होंने पढ़ाया, इस महान् पद पर स्थापित किया। अर्थात् इनके प्रसाद से तूने ज्ञानी होकर मंत्री पद प्राप्त किया है। उनको तू नमस्कार नहीं करता? तेरे समान कोई पापी नहीं है।" कहा भी है-

"जो एक अक्षर, एक पद, एक पदार्थ के ज्ञान-दाता को भूल जाता है, उसका सत्कार नहीं करता वह पापी है, परन्तु जो धर्मदेशना देने वाले को भूल जाता है उसके पाप का तो कहना ही क्या? वह तो महा पापी है।"

अग्निभूति के समझाने पर क्रोधित होकर मरुभूति ने कहा, "इस दुरात्मा ने मुझे भूमि पर शयन कराया, भिक्षा माँगकर उदरपूर्ति कराई अर्थात् भिक्षावृत्ति से भोजन कराया और अति क्लेश (दुःख) दिया। इसलिए इस दुरात्मा के साथ बोलना भी नहीं चाहता, इसका मुख देखना भी पाप समझता हूँ, नमस्कार करना तो बहुत दूर है अर्थात् नमस्कार करना तो संभव ही नहीं है।" सत्य ही है- दुर्जन दोषों को ही ग्रहण करते हैं। कहा भी है-

"सज्जन पुरुष गुणों को ग्रहण किये बिना संतोष को प्राप्त नहीं होते और दुर्जन दोषों का कथन एवं ग्रहण किये बिना संतोष को प्राप्त नहीं होते। क्योंकि चिरंतन अभ्यास से प्रेरित हुई बुद्धि गुण और दोषों में प्रवृत्त होती है। अर्थात् गुण और दोषों को ग्रहण करने वाली बुद्धि का भी अनादिकालीन संस्कार है।"

मुनिरपि स्तुतौ निंदायां समधीरग्निभूतिना सह तपोवनं जगाम। अग्निभूतिरपि यत्र लघुरप्याज्ञाभंगमाचरति कथितं न पुनः कुरुते तत्र स्थातुं नोचितमिति ज्ञातवैराग्यो दीक्षां गृहीतवान्। अथाग्निभूतिपत्न्या वायुभूति-समीपं निजगदे, रे यत्त्वया मुनिर्न नमस्कृतस्तेनैव निर्विण्णो भवदीयो बांधवो मुक्तगृहबंधनः प्राव्राजीत्। रे दुरात्मन् शृंगपुच्छविरहितो द्विपदः पशुस्त्वमेतादृशीं लोकवंदितां पदवीं प्रापितः तस्यावमाननां विदधानः कां गतिं यास्यसि। एवं दूषितो वायुभूतिरुत्थाय तां कोलताप्रहारेणाताडयत्।

सा विकटामर्षप्रकर्षान्वितस्वांता निदानमिति बबंध येन क्रमेणाहं त्वया हता तमेव क्रममादिं कृत्वा तैरश्चमप्याश्रित्य त्वां पापिनं भक्षितुमिच्छामि।

इतश्च वायुभूतिः कुष्टीभूत्वा मृतस्तदनु खरीशूकरीकुक्कुर्यादिभवान् लब्ध्वा चांडालपुत्री दुर्गंधा समजनि। अग्निभूतिमुनिना सा दृष्टा संबोधिता। मकारत्रयनिर्वृत्तिं कारिता अणुव्रतं ग्राहिता च। तस्य व्रतस्य माहात्म्येन सा मृत्वा ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा बभूव। अथ सूर्यमित्राग्निभूतिमुनिभ्यां संबोधिता पाठिता च।

निन्दा और स्तुति में समभाव रखने वाले सूर्यमित्र मुनिराज अग्निभूति के साथ तपोवन को चले गए।

वहाँ पर जाकर अग्निभूति ने "अहो! जहाँ पर छोटा भाई आज्ञा भंग करता है, ज्ञानदाता गुरु की अवज्ञा करता है, मेरा कहना नहीं मानता है वहाँ रहना उचित नहीं है" ऐसा विचार कर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

तत्पश्चात् अग्निभूति की पत्नी ने मरुभूति के समीप जाकर कहा-"रे दुरात्मन्! तूने मुनिराज की अवज्ञा की, उनको नमस्कार नहीं किया-इसलिए तुम्हारे भ्राता ने संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर गृहवास के बंधन को तोड़कर जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की है। हे पापी, सींग-पूंछ रहित पशु सदृश तुझको जिसने ज्ञानदान देकर ऐसा महान् बनाया, लोकपूज्य बनाया उनकी वन्दना न करके तू उनका अपमान करता है, निन्दा करता है, तेरे समान दूसरा कोई कृतघ्न और पापी नहीं है। ऐसा करने वाला तू दुर्गति में जायेगा।"

इस प्रकार अग्निभूति की पत्नी (भाभी) के समझानेपर अत्यन्त क्रोधित होकर मरुभूति उठा और उसने स्वकीय पादप्रहार से अग्निभूति की पत्नी को जोर से मारा, जिससे मरणान्त पीड़ा का अनुभव करती हुई उसने अपने मन में निदान बंध किया-"कि जिस पैर से तूने मुझे मारा है, तेरे उस पैर को मैं तिर्यञ्चनी होकर खाना चाहती हूँ अर्थात् जब तक तुम्हारे पैर को भक्षण नहीं करूँगी तब तक शान्ति नहीं है।"

तत्पश्चात् मुनिनिन्दाजन्य पाप के उदय से मरुभूति कुष्ठ रोगी होकर आर्त्तध्यान से मरा और उसका जीव गधी, शूकरी, कुक्करी (कुत्ती) आदि अनेक योनियों में भ्रमणकर तथा भूख-प्यासादि कष्टों को सहन कर कर्मों के कुछ लघु विपाक से चाण्डाल के घर में पुत्री हुआ। उसके शरीर में अत्यन्त दुर्गन्ध आती थी जिसके कारण कोई भी बन्धु उसके समीप बैठना नहीं चाहता था।

एक दिन अग्निभूति मुनिराज ने उसे देखा और अनुकम्पा और पूर्वभव के संस्कार के अनुराग से उसको सम्बोधित किया, धर्म का उपदेश देकर मधु, मांस, मद्य का त्याग कराया और अणुव्रत ग्रहण कराये। व्रत के माहात्म्य से वह मरकर नागश्री नामक ब्राह्मणपुत्री हुई।

सा च विज्ञातश्रुतरहस्या तौ नमस्कृत्य दीक्षां जग्राह। अनेकधा तपश्चरणं कृत्वा प्रांते चतुर्विधाहारपरिहारं च विधाय स्त्रीलिंगं च छित्वा षोडशे स्वर्गेऽच्युतेंद्रोऽजनि। यदुक्तं-

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥

इतश्चावंतीविषये उज्जयिन्यां सोच्युतेंद्रोऽवतीर्य श्रेष्ठितनूजः सुकुमालनामा बभूव। स पूर्वोपार्जितशुभकर्मणा बहुधा राज्यादिकं प्राप्तवान्। यदुक्तं-

राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः॥

पूर्व भव के संस्कार के कारण वह सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज के समीप गई। मुनिराज ने उसको सम्बोधित किया, जिससे उसको जातिस्मरण हो गया। उसने अपने सातभव पूर्व की बात प्रत्यक्ष जान ली। पश्चात्ताप से उसका हृदय दहल उठा। यह संसारी जीव कर्म बाँधते समय हंसता है परन्तु जब उसका फल आता है तब रुदन करता है, यह नहीं सोचता कि पूर्व बाँधे हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। मैंने मुनिराज की निन्दा की जिससे कितने दुःख भोगे हैं, अब भी सचेत नहीं हैं।

संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर श्रुत के रहस्य को जानने वाली नागश्री ने मुनिराज को नमस्कार करके दीक्षा ग्रहण की। अर्थात् आर्यिका पद को स्वीकार किया। मुनिराज के समीप तत्त्वों का पठन-पाठन-मनन किया। अनेक प्रकार से तप-नियम-व्रतों का आचरण कर अन्त में चार प्रकार के आहार का त्याग कर सल्लेखनायुत मरण किया और स्त्रीलिंग को छेद कर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र पद को प्राप्त किया।

उसकी आयु वहाँ बाईस सागर की थी। कहा भी है-

"जो दूर है, कठिनता से साध्य है और दूरतर व्यवस्थित है वे सब कार्य तप से सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये तप ही दुरतिक्रम है अर्थात् तप ही सर्वोत्कृष्ट है।"

सोलहवें स्वर्ग में २२ सागर तक उत्तमोत्तम संसार के भोगों को भोग कर वह आयु समाप्त होने पर स्वर्ग से च्युत होकर अवन्ति देश में स्थित उज्जयिनी नगरी में सुकुमाल नामक श्रेष्ठ पुत्र हुआ। पूर्वोपार्जित शुभ कर्म के उदय से बहुत प्रकार की धनसम्पदा राजकीय भोग प्राप्त किये। ठीक ही है-

"राज्य, सम्पदा, पंचेन्द्रियजन्य भोग, उच्च कुल में जन्म, सौन्दर्य, पाण्डित्य और आरोग्य का प्राप्त होना यह सब धर्म का फल है, ऐसा समझना चाहिए।"

अथ तन्मातुलेन गुणधराचार्येण सुकुमालसदनस्य पश्चिमायां दिशि वर्तमाने क्रीडोद्याने समागत्य स्थितं। सुकुमालो मुनिदर्शनेनैव दीक्षां स्वीकरिष्यतीति मत्त्वा गृहमध्य एव स्थाप्यते न बहिर्निष्कास्यते कदाचित्। अथ सुकुमालमात्रा मुनिरागत्य प्रोक्तस्त्वया अत्र न स्थातव्यं। तद्वचनं श्रुत्वा मुनिमौनमाश्रित्य स्थितः। अथ प्रभातकरणायां निशि ऊर्ध्वलोकप्रज्ञप्तिं पठन् मुनिः सुकुमालेनाश्रावि, अहमच्युतेंद्रोऽच्युते एतादृशानि सुखान्यालप्सि इति जगाद सुकुमालः। ततस्तज्जातिस्मरः श्रुतस्ववृत्तांतो मुनिसमीपमीयिवान्। यतिरपि तं धर्मोपदेशामृतेन संतोष्य न्यगदीत्। वत्स तवायुर्दिनत्रयमेव तत्त्वं परलोकसाधनोपायमाचर।

एक ज्योतिषी वा निमित्तज्ञानी मुनिराज ने उसकी माता से कहा था कि "पुत्र का मुख देखकर पिता दीक्षा ग्रहण करेगा और मुनिराज के दर्शन करके सुकुमाल दिगम्बर मुद्रा को धारण करेगा।" मुनिराज के कथनानुसार सुकुमाल के पिता गृहस्थावस्था का त्यागकर मुनिमुद्रा को ग्रहण कर वन में जाकर घोर तपश्चरण करने लगे।

पति के दीक्षा ग्रहण कर घर छोड़ तपोवन स्वीकार कर लेने पर सेठानी का हृदय दहल गया और भविष्य में पुत्र भी मुनिराज के मुख का अवलोकन कर मुनिपद को स्वीकार करेगा, ऐसा चिंतन कर वह पुत्र (सुकुमाल) को घर के मध्य में ही रखती थी, कभी भी घर के बाहर नहीं जाने देती थी तथा घर में कभी मुनिराज का प्रवेश नहीं होने देती थी। ठीक ही है- मोही प्राणी क्या नहीं करता!

सेठानी ने सप्त खण्ड का महल बनवाया, ३२ सुन्दर कन्याओं के साथ सुकुमाल का विवाह किया और निरंतर विचार करती कि मेरा पुत्र घर-परिवार को छोड़कर मुनि न बनजाय। परन्तु विचार करने मात्र से कुछ नहीं होता, कालादि लब्धि पाकर जो कार्य होता है, वह होता ही है।

विहार करते हुए सुकुमाल के मामा गुणधर आचार्य अपने दिव्य ज्ञान से 'सुकुमाल की आयु बहुत कम है' ऐसा जान कर उज्जयिनी नगरी में आये और सुकुमाल के महल की पश्चिम दिशा में स्थित जिन-मन्दिर के उद्यान में उन्होंने चातुर्मास-स्थापन किया।

जब सुकुमाल की माता को यह ज्ञात हुआ कि मेरे भाई गुणधर आचार्य यहाँ आकर ठहरे हुए हैं तो उसने शीघ्र ही उनके पास जाकर अनुनय-विनय से उनको वहाँ ठहरने के लिये मना किया परन्तु मुनिराज मौन धारण करके बैठ गये। वे अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

चातुर्मास की समाप्ति के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मुनिराज ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति का पाठ करना प्रारम्भ किया-जिसमें तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोक में इस जीवने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया और किस प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव किया, उसका कथन था।

उस समय सुकुमाल की निद्रा भंग हुई। उसने सारा कथन सुना, उसे स्मरण हुआ कि मैंने पूर्व भव में १६वें स्वर्ग में बावीस सागर तक पंचेन्द्रिय सुखों का अनुभव किया, उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई- अब मानव पर्याय के भोगों से तृप्ति कैसे हो सकती है?

तत्त्वविचार से उत्पन्न वैराग्य के कारण सूर्य उदय होते ही रस्सी के सहारे सात खण्ड के महल से नीचे उतर कर सुकुमाल मुनिराज के समीप आया। मुनिराज ने धर्मोपदेश रूपी अमृत के पान से इसे संतुष्ट किया और कहा-"वत्स ! तेरी आयु तीन दिन शेष है। इस समय तुझे परलोक-साधन के उपाय का आचरण करना चाहिए।"

सुकुमालोप्यासन्नभव्यत्वात्तत्क्षणसंजातवैराग्यो मुनिमानम्य दीक्षां जग्राह। ततो नगराद्बहिरुद्याने सुकुमालो मुनिर्दिनत्रयं यावत् गृहीतसंन्यासो योगमास्थाय तस्थिवान् तत्रैव वने सा अग्निभूतिभार्या बहूनि भवांतराणि पर्यट्य शृगाली बभूव। अथ तं मुनिमालोक्य भववैरसंबंधेन संस्मृतभवांतरचरित्रा तत्क्षणसमुद्भूतामर्षा सा शृगाली तमारभ्य खादितुं प्रवृत्ता। सुकुमालो मुनिरपि परमसाम्यमारूढः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राविनाभूतचिदानंदध्यानसामर्थ्येन सर्वार्थसिद्धिं जगाम ॥१॥ अथायोध्यापुर्यां सिद्धधर्मार्थः। सिद्धार्थो नाम श्रेष्ठी तस्य मनोवल्लभा वल्लभा जयावती। तयोः पुनः कलाकुशलः सुकोशलोऽजनि। यदुक्तम्-

किं तेन जातु जातेन मातृयौवनहारिणा।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

प्रसादसदनं नंदनस्य वदनमालोक्य सम्यग्दृष्टिः स श्रेष्ठी समाधिगुप्तनाम्नो मुनेः पादांते प्राव्राजीत्। यदुक्तं-

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
भीतः संसारतो भव्यस्तपश्चरति दुश्चरम्॥

जिसने जाति-स्मरण से अपने सारे वृत्तान्त को जान लिया, तत्क्षण जिसको वैराग्य की उत्पत्ति हुई है ऐसे आसन्नभव्य सुकुमाल ने भी मुनिराज के चरणमूल में दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली और वे नगर बाह्य उद्यान में तीन दिन का संन्यास ग्रहण कर प्रतिमा योग से खड़े हो गये। उसी वन में अग्निभूति की भार्या (पत्नी) अनेक भवों में भ्रमण करके शृगाली (स्यालिनी) हुई थी।

सुकुमाल मुनि को देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर उनके समीप आई और जातिस्मरण के द्वारा भवान्तर के वैर को जानकर उसने उनका पैर खाना प्रारम्भ किया। उसके साथ उसके दो बच्चे भी थे।

हे क्षपक ! सुकुमाल परम साम्य भाव पर आरूढ़ थे, शरीर से अत्यन्त निस्पृह थे, शरीर का उनको लक्ष्य भी नहीं था। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के अविनाभावी चिदानन्द आत्मध्यान के सामर्थ्य से घोरोपसर्ग को सहन कर सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

आत्मकल्याण के इच्छुक हे क्षपक ! हे आत्मन् ! भूख-प्यास आदि के कारण आकुल-व्याकुल मत होओ। सुकुमाल मुनिराज के समान आत्मध्यान रूपी सुधारस के पान से पुष्ट होकर भूख-प्यास आदि पर विजय प्राप्त करो और शरीर की ममता का परित्याग करो।

❊ सुकौशल मुनिराज की कथा ❊

अयोध्या नामक नगरी में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को सेवन करने वाला सिद्धार्थ नामक सेठ रहता था। उसके मन को प्यारी लगने वाली जयावती नाम की भार्या थी। उन दोनों के सकल कलाओं में निपुण सुकौशल नामक पुत्र था। ठीक ही है-

"माता के यौवन को नष्ट करने वाले उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या प्रयोजन है जिससे वंश की उन्नति नहीं होती है"।

प्रसाद (आनन्द) के सदन (स्थान) पुत्र के मुख को देखकर उस सम्यग्दृष्टि सेठ ने समाधिगुप्त नामक मुनिराज के चरण-कमलों में दीक्षा ग्रहण की। कहा भी है-

भव्य जीव संसार से भयभीत हो, काम-भोगों से विरक्त हो और शरीर से स्पृहा को (ममता को) छोड़कर दुश्चर तप तपते हैं।

अतो जयावती श्रेष्ठिनी गृहीतदीक्षां भर्तारं कर्णिकयाकर्ण्य गत्वा च तमेवं ततर्ज। रे दुराचार कुलपांसन बालतनयप्रतिपालनं कर्तुमशक्तस्त्वं नग्नीभूतः स्थितोसि। किं विवेकविकलस्य नग्नत्वमभिप्रेतार्थसिद्धये भवति। नग्नाः किं वृषभा न भवन्ति यतः सत्पुरुषो बालतनयमकार्यशतमपि कृत्वा प्रतिपालयति। यदुक्तम्-

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।
अपकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥

तन्नग्नीभूय किं साधितं। अथ सा तद्गुरुमप्येवमुपालम्भतवती भो मुने भवतामुं भार्यापुत्रयोः प्रतिपालकं श्रेष्ठिनं दीक्षयता अपरीक्षितमकारि। यदुक्तं-

अपरीक्षितं न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति संतापो ब्राह्मणी नकुलं यथा॥

तत्पश्चात् जयावती सेठानी "मेरे स्वामी ने दीक्षा ग्रहण कर ली है" ऐसा सुनकर उनके समीप जाकर तर्जना करने लगी। उनको डाँटने-गाली देने लगी।

कहने लगी, "रे दुराचारी ! हे कुलनाशक। बालपुत्र का प्रतिपालन करने में असमर्थ तू नग्न होकर बैठा है। रे पापी! विवेकहीन! तेरा नग्नत्व क्या इच्छित सिद्धि के लिए होगा ? क्या बैल आदि पशु नग्न नहीं होते हैं? सज्जन पुरुष सैकड़ों अकार्य (नहीं करने योग्य कार्य) करके भी बाल पुत्र का प्रतिपालन करते हैं। सो कहा भी है-"वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या और बालक पुत्र का सैकड़ों अकार्य करके भी पालन-पोषण करना चाहिए।" हे कातर ! नग्न होकर तूने क्या सिद्ध किया ? तुझे क्या प्राप्त हुआ ?

इस प्रकार सिद्धार्थ मुनिराज की तर्जना करके वह उनके गुरु के पास गई और इस प्रकार उलाहना देने लगी-"भो मुने ! भार्या और पुत्र का पालन करने वाले इस मेरे पति सेठ को दीक्षा देकर तूने बिना विचारे कार्य किया है। नीतिशास्त्रों में लिखा है कि-"बिना विचारे (अपरीक्षित) कार्य नहीं करना चाहिए। सुपरीक्षित कार्य ही करना चाहिए। जो मानव बिना विचारे अपरीक्षित कार्य करते हैं, उनको बाद में संताप होता है। जैसे बिना विचारे नेवले का घात करने वाली ब्राह्मणी को पश्चाताप हुआ था।

भावार्थ-एक ब्राह्मणी ने संतान न होने से मनोरंजन के लिए एक नेवले का पालन-पोषण किया था। पश्चात् उसके एक लड़का हुआ। एक दिन ब्राह्मणी बच्चे को खाट पर सुला कर और नेवले को उसकी रक्षा में नियुक्त करके स्वयं घड़ा लेकर नदी में पानी भरने गई। पीछे से एक भयंकर सर्प आया और बच्चे की खाट पर चढ़ने लगा। नेवले ने उसको खाट पर नहीं आने दिया। नेवले और सर्प में परस्पर भयंकर संघर्ष हुआ। नेवले ने प्रहार किया जिससे सर्प की मृत्यु हो गई। नेवले को बहुत आनन्द आया। रक्तलिप्त मुख पैर वह नेवला उछलता हुआ ब्राह्मणी के सम्मुख आया। नेवले को रक्त से लिप्त देखकर ब्राह्मणी ने सोचा-इसने मेरे पुत्र को मार दिया, इसलिए क्रोध में आकर उसने पानी से भरा हुआ घड़ा नेवले पर पटक दिया, नेवले ने वहीं पर प्राण छोड़ दिए। जब घर पर आकर उसने अपने पुत्र को सुरक्षित और सर्प को मरा हुआ देखा, वह पश्चाताप करने लगी। इसलिए कहा जाता है कि जो अपरीक्षित कार्य करता है, उसको पश्चाताप होता है।

ततः कोपावेशवशंवदया तया गुरुशिष्यौ 'मद्गृहे अस्मिन् पुरे च प्रवेशो न कर्तव्य' इति निषिद्धौ इति जयावतीदुर्वचनकुठारैर्भिद्यमानमपि मुनिमनो न क्षोभमानम्। यदुक्तम्-

लोक एव बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।
पश्यतोस्य विकृतीर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः॥

अथ परमोपशमसरःस्नानशामितकोपतापौ तौ त्वरितं देशांतरमीयतुः।

तत्र च सिद्धार्थो मुनिः गुरुपादांते कानिचित् श्रुतपदानि अभ्यासीत् अज्ञानमयं तमोविनाशमनैषीत्। अथ बहुषु वत्सरेषु अतीतेषु सिद्धार्थो मुनिर्गुरुमापृच्छ्य तामयोध्यामयासीत्। पूजापुरस्सरं सर्वो हि पौरो धर्मार्थी तं मुनिराजं प्राणंसीत्। सुकोशलोपि मुनिदर्शनसंभवदमंदानंदः स्वजननीमप्राक्षीत्। मातरस्य दर्शनात् मम मनोऽत्यंतं प्रसीदति नेत्रे च तृप्यतस्तदयं कः कस्मादुपागतश्च। माता च कालुष्यवांतस्वांता न

इस प्रकार सेठानी के अनेक प्रकार के अपशब्द सुनकर भी गुरु-शिष्य दोनों सहज स्वभाव में लीन रहे, उसको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब क्रोध के वशीभूत हुई सेठानी ने कहा, "तुम दोनों गुरु-शिष्य मेरे आंगन में और मेरे नगर में प्रवेश नहीं करना"। जयावती के ऐसे कठोर दुर्वचन सुनकर भी मुनिराजों का मन क्षुभित नहीं हुआ। कहा भी है-

"स्वकीय परिणामों से उपार्जित अनेक प्रकार के कर्मों के कारण बहुभावों से युक्त संसारी प्राणियों को देखते हुए मूर्खात्मा (अज्ञानी जनों) का हृदय विकृति को प्राप्त होता है। संसार की अवस्थाओं का अवलोकन करने वाले योगिजनों का हृदय क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद परम उपशम भावरूपी सरोवर में अवगाहना करके शमित किया है कोप और ताप को जिन्होंने ऐसे वे दोनों गुरु-शिष्य शीघ्र ही देशान्तर में चले गए।

वहाँ सिद्धार्थ मुनि ने गुरु के चरणारविन्द की उपासना कर कुछ श्रुतपदों का अभ्यास किया और अज्ञानमय अन्धकार का विनाश किया।

इसके बाद बहुत दिन बीत जाने पर सिद्धार्थ मुनिराज (अपने गुरु) को पूछकर उनकी आज्ञा से अयोध्यानगरी में आये।

मुनिराज के आगमन से आनन्द का अनुभव करते हुए सारे धर्मार्थी पुरवासियों ने पूजा, स्तुति-वन्दना करके मुनिराज को नमस्कार किया।

सुकौशल ने भी मुनिदर्शन से उत्पन्न अमंद आनन्द से युक्त होकर अपनी माता से पूछा-"हे मात! इनके दर्शन से मेरा मन अत्यन्त आनन्दित हो रहा है, नेत्र तृप्त हो रहे हैं, इनके मुख-कमल को बार-बार देखने की इच्छा कर रहे हैं, इसलिए बताओ ये कौन हैं और कहाँ से आए हैं ?"

किंचिद्वदतिस्म। ततो धात्री प्रोवाच। भो तनय! इमं मुनिमात्मीयं जनकं जानीहि। त्वन्मुखमवलोक्यैव तपसे जगाम। सुकोशलोपि इदं पितृचरित्रं श्रुत्वा सद्यो विषयविरतोऽजनि। यदुक्तं-

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः।
शमदमयमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।।

ततो जनयित्रीमनापृच्छ्यैव तस्यैव यतेश्चरणांते तपो जग्राह। मातापि पुत्रशोकादार्तध्यानपरायणा परासुरासीत्। तदनु मगधदेशमध्यवर्तिनि विकटाटवीपरिवेष्टिते मंगलनाम्नि शिलोच्चये पुरोक्षाव्याघ्री किलाजनिष्ट। यः खलु पुत्रादावभीष्टे मृते नष्टे प्रव्रजिते शोकमुपगच्छति तस्यावश्यं दुर्गतिर्भवति। यदुक्तं-

मृत्युर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृ-
न्नो गंधोपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम्।

कालुष्य भाव से संतप्त है हृदय जिसका ऐसी सुकौशल की माता जयावती ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया-प्रत्युत् वैमनस्य प्रकट किया। उसकी यह चेष्टा देखकर धाय ने कहा-"हे पुत्र ! इन मुनिराज को तुम अपना पिता जानो। अर्थात् ये तुम्हारे पिता हैं, जो तुम्हारे मुख का अवलोकन करते ही दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने के लिए तपोवन में चले गए।" सुकौशल भी अपने पिता के चारित्र को सुनकर विषयों से विरक्त हो गए। आत्मानुशासन में कहा भी है-

"विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायों का निग्रह, शम (समताभाव), दम (इन्द्रियों का निग्रह), यम (यावज्जीवन किसी वस्तु का त्याग करना), तत्त्वों का अभ्यास, तपश्चरण में तत्परता, नियमित मनोवृत्ति, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति और दयालुता, ये भाव उसी भव्य प्राणी के हृदय में जागृत होते हैं जिस पुण्यात्मा के संसार-समुद्र का किनारा निकट आ गया है। अर्थात् जिसका संसार-समुद्र समाप्त होकर चुल्लू प्रमाण रह गया है।

इसके बाद सुकौशल ने माता को नहीं पूछकर स्वकीय पिता सिद्धार्थ मुनि के चरण-कमलों में तप ग्रहण कर लिया। अर्थात् घर, परिवार, परिग्रह आदि की ममता को छोड़कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली।

माता ने पुत्रवियोगजन्य शोक रूप आर्त्त ध्यान से प्राणों को छोड़ा और मगध देश मध्यवर्ती विकट अटवी से परिवेष्टित, मंगल नामक पर्वत पर पुरोक्षा नामक व्याघ्री हुई। ठीक ही है, जो अज्ञानी जन पुत्रादि इष्ट कुटम्बी जनों के मरने पर, नष्ट हो जाने पर वा दीक्षा ले लेने पर शोक, संताप को प्राप्त होते हैं, आर्त्तध्यान करते हैं, वे मरकर अवश्य ही दुर्गति में जाते हैं। कहा भी है-

"जो अज्ञानी जन स्वकीय कुटुम्बी जनों के मरने पर मोह के कारण शोक करते हैं, उनमें गुण की तो गंध भी नहीं है, अपितु पुनः बहुत से दोष निश्चित हैं। शोकसंताप से दुःख वृद्धि को प्राप्त होता है। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ रूप चार वर्ग का नाश होता है। मति का विभ्रम होता है, अर्थात् शोक करने

दु:खं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रम:
पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता ॥

अथ कदाचित्तौ सिद्धार्थसुकोशलाभिधानौ यतीशौ तस्मिन्नेव व्याघ्रीसमुपवेष्टिते मंगलपर्वते मासचतुष्टयपर्यंतमनशनमादाय योगं च गृहीत्वा तस्थिवांसौ। अथ चतुर्थमासेषु व्यतीतेषु तौ योगं निष्ठाप्य पारणार्थं कांचनपुरीमुपसरंतावंतराले तामेव व्याघ्रीं व्यलोकिषातां। इयं पापिष्ठा दुष्टनिष्टं करिष्यतीति संन्यासमादाय शुक्लध्यानमवलंब्य तस्थतु:। इतश्च सा व्याघ्री घोरतररूपा प्राग्जन्मसंस्कारजनिततीव्रक्रोधोत्ताल-ज्वलनज्वालकराला गिरिकुहरान्निर्गत्य तन्मुनियुगं चखाद। तौ शुक्लध्यानबलेन निजनिरंजनशुद्धात्माभिमुखपरिणामपरिणतांत:करणौ सर्वार्थसिद्धिमीयतु:॥ इति सुकोशल कथा॥४९॥

मनुष्यकृतोपसर्गो यै: सोढस्तन्नामानि सूचयन्नाह;-

गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं।
माणुसकउ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं॥५०॥

से मानव पागल भी हो जाता है। पाप का बंध होता है, अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। मरण भी हो जाता है। मरने पर दुर्गति भी होती है और दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण करना पड़ता है अत: शोक-संताप करना अनेक दोषों की वा दु:खों की खान है।''

इसके बाद एक दिन सिद्धार्थ और सुकौशल मुनि व्याघ्री सेवित उसी मंगल नामक पर्वत पर आकर चार महीने का उपवास ग्रहण कर चातुर्मास योग धारण कर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर आत्म-ध्यान करने लगे।

चातुर्मास पूर्ण होने पर योग की निष्ठापना करके पारणा करने के लिए कांचनपुर नगर में जा रहे थे। मार्ग में जाते हुए उन दोनों ने उस व्याघ्री को देखा। ''यह दुष्ट पापिनी अनिष्ट करेगी।'' ऐसा विचार कर, संन्यास ग्रहण कर और शुक्ल ध्यान का अवलम्बन लेकर वहीं पर निश्चल खड़े हो गये। इधर घोरतर विकराल रूप धारिणी पूर्व जन्म के संस्कार से उत्पन्न क्रोध की उत्ताल अग्नि की ज्वाला से विकराल व्याघ्री ने पर्वत की गुफा से निकलकर दोनों मुनिराजों का भक्षण कर लिया। नित्य निरंजन शुद्धात्मा अभिमुख परिणामों से परिणत है अन्त:करण जिनका, ऐसे वे दोनों मुनिराज शुक्ल ध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! इस प्रकार सुकुमाल और सुकौशल मुनिराज ने तिर्यञ्च कृत घोर उपसर्ग सहन किया। उनका स्मरण करके स्वकीय दु:खों को भूल जाओ। **इस प्रकार सुकुमाल की कथा समाप्त हुई ॥४९॥**

अब जिन्होंने मनुष्य कृत उपसर्गों को सहन किया है उनके नामों को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं-

गुरुदत्त, पाण्डव, गजकुमार आदि अन्य भी महानुभावों ने मनुष्यकृत घोर उपसर्ग सहन किये हैं ॥५०॥

गुरुदत्तपांडवै: च गजवरकुमारेण तथा चापरै:।
मनुष्यकृत उपसर्ग: सोढो हि महानुभावै: ॥५०॥

सहिओ सोढ: हु स्फुटं। क: सोढ:।उपसर्ग:। कीदृश:। **माणुसकउ** मनुष्यकृत। कै: सोढ:। **गुरुदत्तपंडवेहिं** गुरुदत्तपांडवै: गुरुदत्ताख्यो भूपाल: पांडवा: पांडुनरेंद्रपुत्रा युधिष्ठिरादय: गुरुदत्तश्च पांडवाश्च गुरुदत्तपांडवास्तैर्गुरुदत्तपांडवै:। अत्र गुरुदत्तकथा। हस्तिनागपुरे न्यायोपार्जितवित्तो गुरुदत्तो नाम राजा। एकदा स प्रजाया: पीडामापादयंतं व्याघ्रमनुचरमुखादश्रौषीत्। तत: कोपाविष्टो भूपरिद्रढ: ससैन्यो गत्वा द्रोणीमति पर्वते सत्त्वसंतानघातकं तं व्याघ्रं रुरोध। व्याघ्रोपि कांदिशीकतया प्रपलाय्य गिरिगुहां प्राविशत्। सकोपो भूपो गुहांतर्दारुभारं क्षेपयित्वा वह्निमदीपयत्। तत्क्षणे प्रदीप्ताशुशुक्षिणिजिह्वाजालेन करालितो व्याघ्रो ममार। मृत्वा च चंद्रपुर्यां कपिलो नाम द्विजन्माऽजनि, इतश्च गुरुदत्त: क्षोणीपो वैराग्यकारणं किंचिदवलोक्य पुत्राय राज्यं दत्वा यतिर्बभूव। क्रमेण विहारक्रमं विदधान: चंद्रपुरीमभ्येत्य कपिलब्राह्मणस्य क्षेत्रसविधे कायोत्सर्गेण तस्थौ। कपिलोपि निजपाणिगृहीतां सिद्धान्नमादाय सत्त्वरमागच्छेरित्यादिश्य क्षेत्रमीयिवान्। तत् क्षेत्रं कर्षणायोग्यं मत्त्वा क्षेत्रांतरं गतो वाडव:। इतश्च तदीया भार्या संबलं गृहीत्वा क्षेत्रं प्रति गच्छंती अंतराले

गुरुदत्त, युधिष्ठिर आदि पाण्डु पुत्र, वासुदेव का पुत्र गजकुमार, अवर शब्द से चाणक्य मुनि, अभिनन्दन आदि पाँचसौ मुनि, अकम्पन आदि सात सौ मुनिराजों ने शुद्धात्म ध्यान के बल से मनुष्यकृत घोर उपसर्ग सहन कर उत्तम पद प्राप्त किया था॥५०॥

※ गुरुदत्त की कथा ※

हस्तिनापुर में न्यायपूर्वक धन उपार्जन करने वाला गुरुदत्त नामक राजा रहता था। एक दिन अनुचरों के मुख से उसने प्रजा को पीड़ा देने वाले व्याघ्र की वार्त्ता सुनी-अर्थात् एक दिन किसी अनुचर ने आकर कहा कि राजन् ! एक व्याघ्र प्रतिदिन आकर प्रजा को पीड़ा देता है। वह द्रोणीमति नामक पर्वत पर रहता है। अनुचर की बात सुनकर क्रोधयुक्त हुआ राजा गुरुदत्त, सेना सहित, उस पर्वत पर आया। उसने प्राणियों के समूह के घातक व्याघ्र को चारों तरफ से घेर लिया। व्याघ्र भी चारों तरफ मनुष्य का घेरा देखकर भागकर पर्वत की गुफा में घुस गया।

कोपाविष्ट हुए राजा ने गुफा के भीतर लकड़ी भर कर अग्नि लगा दी। शीघ्र ही जाज्वल्यमान अग्नि से व्याप्त होकर व्याघ्र गुफा के भीतर मर गया। वह मरकर चन्द्रपुरी नगरी में कपिल नामक ब्राह्मण हुआ। अर्थात् उसने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया।

कुछ दिनों के बाद वैराग्य का कोई कारण देख कर गुरुदत्त राजाने राज्य का भार पुत्र के लिए सौंपकर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अर्थात् वे दिगम्बर मुनि बनकर घोर तपश्चरण करने लगे। विहार करते-करते वे मुनिराज चन्द्रपुरी नगरी में आकर कपिल ब्राह्मण के क्षेत्र के निकट कायोत्सर्ग से खड़े होकर आत्मध्यान में लीन हो गए।

कपिल ब्राह्मण भी अपनी स्त्री को "भोजन लेकर शीघ्र ही क्षेत्र (खेत) में आना।" ऐसा कहकर कार्य करने के लिए अपने खेत में चला गया। वहाँ उस क्षेत्र को कर्षण के अयोग्य समझकर वहाँ स्थित मुनिराज को "मेरी पत्नी को कह देना कि "ब्राह्मण दूसरे क्षेत्र में गया है" ऐसा कहकर दूसरे खेत में चला गया।

मुनिमालोक्य पप्रच्छ। मुने क्षेत्रेस्मिन् ब्राह्मणोस्ति नास्ति चेति तया पृष्टोपि मुनिर्न वक्ति केवलं मौनमास्थाय मुनिः स्थित। ततः सा निवृत्य स्वमंदिरमियाय। बृहद्वेलायां तेन द्विजन्मना क्षेत्रादागत्य भार्या निर्भर्त्सिता। रंडे मुनिं पृष्ट्वा किं नायातासि। तयोक्तं पृष्टोपि न स किंचिद्वक्ति। ततोऽकारणकुपितेन कपिलेन शाल्मलितूलेन वेष्टयित्वा स यतिर्ज्वलति ज्वलने क्षिप्तः उपशमवारिणा वह्निजनितां यातनां यतिर्जित्वा शुक्लध्यानेन केवलज्ञानमुत्पादितवान्। ततोऽसुरामरास्तस्य केवलिनः पूजार्थमाजग्मिवांसः। ब्राह्मणोपि मुनिचरणार्चामाचरतोऽसुरामरानालोक्य अहो महानयं मुनिस्तदस्योपसर्गमाचरता मयानिष्टं कृतमिति स्वात्मानं निनिंद। तदनु परमवैराग्यरससंपन्नो विप्रः क्षिप्रं यतेः पादयोरुपरि पतित्वा प्रोवाच। स्वामिन्! कृपासागर! यावदनेन पापेन नारको न भवेयं तावन्मां पाहि। मुनिरपि तमासन्नभव्यं वाडवं बुद्ध्वा दीक्षयामास। इति मनुष्य-

---

कुछ क्षण बाद कपिल की पत्नी भोजन लेकर क्षेत्र में आई और वहाँ स्थित मुनिराज को देखकर उसने पूछा-हे मुने! इस खेत में ब्राह्मण नहीं दीख रहा है, कहाँ गया है? परन्तु उसके पूछने पर भी मुनिराज ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे मौन धारण करके यथावत् खड़े रहे। तब ब्राह्मणी लौटकर घर आ गई।

इसके बाद जब ब्राह्मणी भोजन लेकर नहीं आई तब बहुत समय हो जाने पर भूख से आकुल-व्याकुल होकर कपिल घर आया और ब्राह्मणी को भला-बुरा कहने लगा। "रे रंडे! तू मुनिराज को पूछकर क्यों नहीं आई।" ब्राह्मणी ने कहा-"मैंने तत्रस्थ मुनिराज को पूछा था परन्तु उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।" पत्नी के वचन सुनकर पूर्व भव के संस्कार के कारण कुपित होकर कपिल मुनिराज के समीप आया। उसने शाल्मलिरुई से मुनिराज को लपेट कर उसमें आग लगा दी।

अग्निज्वाला में जलते हुए मुनिराज ने उपशम भाव रूपी जल के द्वारा अग्निज्वालाजनित ताप को शांत कर शुक्ल ध्यान के बल से केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवलज्ञानी गुरुदत्त के चरण-कमलों की पूजा-वन्दना करके आत्मविशुद्धि करने के लिए सुर, असुर, मानव जय-जयकार करते हुए आने लगे।

मुनिराज के चरणारविन्द की पूजा करने के लिए सुर, असुर आदि महापुरुषों को आया हुआ देखकर कपिल ब्राह्मण सोचने लगा: "अहो ! इस महापुरुष पर घोर उपसर्ग करके मैंने अपना बड़ा अनिष्ट किया है। इस पाप से मुझे छुटकारा कैसे मिलेगा?" उसका हृदय पश्चाताप से जलने लगा। वह स्वकीय निन्दा-गर्हा-आलोचना करता हुआ परम वैराग्य को प्राप्त हो शीघ्र ही केवली मुनिराज के चरण सान्निध्य में जाकर (चरणों में गिरकर) बोला - "हे करुणा के सागर भगवन् ! मेरी रक्षा करो। इस पापके कारण मेरा नरक में पतन न हो। हे देव। आप ही मेरे रक्षक हैं, मैं आपकी शरण में आया हूँ, मेरा उद्धार करो।" मुनिराज केवली भगवान के धर्मोपदेश को सुनकर आसन्नभव्य कपिल ने स्वात्मा की रक्षा करने के लिए भगवती आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

कृतोपसर्गसहनशीलस्य गुरुदत्तभूपतेर्दृष्टांतकथा। अतःपरं पांडवानां कथा। पूर्वोपार्जिताखंडपुण्यप्रभावेण दुर्जयान् दुर्योधनादीन् परांश्च शत्रून् जित्वा दक्षिणमथुरायां राज्यं कुर्वाणा विलसत्कीर्तितांडवाः पांडवाः खल्वासन्। अन्यदा ते नेमिनाथनिर्वाणमाकर्ण्य सपदि संसारशरीरभोगनिर्विण्णाः स्वस्वपुत्रेषु राज्यभारमारोप्य जैनीं दीक्षां जगृहुः। ततस्तपस्तीव्रं चिन्वानाः शत्रुंजयशिलोच्चयशिखरमारुह्य स्थिरप्रतिमायोगेन शिलोत्कीर्णा इव तस्थुः। तथास्थितान् तानाकर्ण्य केचिद्दुर्योधनगोत्रसंभवा राजपुत्रास्तत्पूर्ववैरं स्मृत्वा शत्रुंजयं समागत्य चात्यर्थमतुदत्। कथं। मुकुटकुंडलहारकेयूरकटकाद्याभरणानि लोहमयानि कृपीटयोनिघनज्वालाभिस्तप्तानि कृत्वा पांडवानां भुजाद्यवयवेषु ते पापा निचिक्षिपुः, वह्नितापितेषु लोहेषु पीठेषु ते तान् न्यवीविशंश्च। ततो युधिष्ठिरभीमार्जुनास्त्रयः स्वस्यैव कर्मविपाकं दुर्निवारं गणयंतः ततो भिन्नं ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगाद-भिन्नमात्मानमत्यर्थं भावयंतः शुक्लध्यानबलेन घातिकर्माणि समूलकाषं कषित्वा केवलज्ञानं च समुत्पाद्य शेषाण्यपि कर्माणि क्षपयित्वांतकृतो निर्वाणं शांतमक्षयसुखमीयुः। नकुलसहदेवौ तु अद्यापि यदि राजा

इस प्रकार गुरुदत्त मुनिराज मानव कृत घोरोपसर्ग आने पर भी अपने स्वभावसे च्युत नहीं हुए। स्वात्मा के ध्यान में मग्न होकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार हे क्षपक! तुम भी उन महामुनियों का स्मरण कर अपनी आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करो। स्व स्वभाव में लीन होओ। बाह्य प्रवृत्तियों का निरोधकर आत्मा का ध्यान करो। इस प्रकार गुरुदत्त की कथा समाप्त हुई।

❊ पाण्डवों की कथा ❊

पूर्वोपार्जित अखण्ड पुण्य के प्रभाव से दुर्जेय दुर्योधन आदि शत्रुओं को जीतकर सुशोभित कीर्त्ति वाले पाण्डव दक्षिण मथुरा में आकर राज्य कर रहे थे।

एक दिन नेमिनाथ भगवान की निर्वाणपद की प्राप्ति सुनकर शीघ्र ही संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर उन्होंने अपने-अपने पुत्रों को राज्य-भार देकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

अनेक देशों में परिभ्रमण कर, धर्म का प्रचार कर, घोर तपश्चरण करके कर्मों का संवर और निर्जरा करते हुए शत्रुंजय पर्वत के उच्च शिखर पर आकर शिलापर उत्कीर्ण पत्थर की प्रतिमा के समान स्थिर प्रतिमायोग से कायोत्सर्ग से स्थित हुए।

''पाँचों पाण्डव मुनि शत्रुंजय पर्वत पर ध्यान कर रहे हैं'' ऐसा सुनकर, दुर्योधन के गोत्रोत्पन्न कोई राजपुत्र उस पर्वत पर आये। पूर्व वैर का (इन्होंने हमारे पिता-चाचा आदि का घात कर राज ग्रहण किया था ऐसा विचार कर) स्मरण कर उन्होंने ध्यानस्थ पाण्डवों को बहुत दुःख दिया। अग्निज्वाला से संतप्त लोहमयी मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर (बाजुबन्द) कड़ा आदि आभूषण उन पापियों ने पाण्डवों के भुजादि अवयवों में पहना दिये। अग्नि से संतप्त लोहमयी आभूषणों से उनका शरीर जल उठा।

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये यतिराज स्वकीय कर्मों के दुर्निवार विपाक का चिंतन कर आत्मा से भिन्न शरीर के ममत्व को छोड़कर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगमय स्वकीय आत्माकी भावना करके निर्विकल्प समाधि में लीन हो, शुक्ल ध्यान के बल से घातिया कर्मों का समूल नाश कर और केवल ज्ञान प्राप्तकर उसी क्षण चार अघातिया कर्मों का क्षय करके शांत (निराकुल) अक्षय सुखमय निर्वाण को प्राप्त हो गये। अर्थात् अंतकृत केवली होकर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

आदिशति तदा बाहुबलेन प्रतिपक्षान् हन्व: इति क्षणं ध्यात्वा पुन: स्वीकृतयतिव्रतरत्नस्मरणात्प्रतिबुद्ध्यात्मानं निंदित्वा परमधर्म-ध्यानेन सर्वार्थसिद्धिमीयतु:। इति पांडवानां कथा। न केवलं पांडवादिभि: उपसर्ग: सोढ:। **गयवरकुमरेहिं** गजकुमारेणापि सोढ: तह य अवरेहिं **तथापरै:** तथा तेनैव प्रकारेण अन्यैरपि सोढ:। किंविशिष्टैस्तै:। **महाणुभावेहिं** महानुभावै: सत्त्वाधिकै: महापुरुषै:। अत्र **गजकुमारकथा**। इह प्रसिद्धायां द्वारवत्यां वसुदेवोऽनेकभूपालकृतपादसेवो राजते। तस्यात्मजो गजकुमार: परं सर्वेषु राजकुमारेषु स पराक्रमसार:। अन्यदा नारायणेन य: पोदनपत्तननायकमपराजितं रणभूमौ विजित्य बद्ध्वा चानयति स मनोवांछितं लभते इति घोषणा निजनगर्यां दापिता। तां गजकुमारो निशम्य त्वरितं तत्र गत्वा अपराजितरणभूपालं रणक्षोणौ जित्वा बद्ध्वा चानीयं वासुदेवस्य समर्पितवान्। ततश्च कामचारं चरित्वा स द्वारवती-स्त्रीजनं सेवमान: पांसुलश्रेष्ठिपत्न्यामासक्तोऽभूत्। यदुक्तम्-

---

नकुल और सहदेव ने विचार किया कि यदि अभी भी राजा (युधिष्ठिर) आदेश देते हैं तो "हम अपने बाहुबल से शत्रुओं को यमराज के घर पहुँचा सकते हैं।" इस प्रकार एक क्षण विचार कर, पुन: स्वीकार किये हुए मुनिव्रत रूपी रत्नों का स्मरण होने से प्रतिबद्ध होकर (अपने स्वरूप को समझकर) स्वात्मा (स्वकीय) की निन्दा और गर्हा करके परम निर्विकल्प धर्मध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! तू इन पाण्डवों का चिन्तन कर। उनके बराबर तो तेरा दु:ख नहीं है। इस शरीर की ममता का परित्याग कर। अनन्त सुख के पिण्ड स्वकीय आत्मा का ध्यान कर। आत्मानुभव रूप अमृत के सागर में डुबकी लगा। यह तुम्हारा अन्तिम समय है, ज्ञानसुधा रस का पान कर।

॥ पाण्डवों की कथा समाप्त हुई॥

केवल पाण्डवों ने ही मनुष्यकृत उपसर्ग सहन नहीं किया अपितु अन्य अनेक महापुरुषों ने भी मनुष्यकृत उपसर्ग सहन किये हैं जिनकी गणना में गजकुमार राजपुत्र है। उसकी कथा प्रारम्भ करते हैं-

प्रसिद्ध द्वारिका नगरी में अनेक राजाओं के द्वारा सेवित हैं चरण जिसके ऐसा वासुदेव नामक राजा राज्य करता था। उसके अनेक राजकुमारों में प्रसिद्ध पराक्रमी गजकुमार नामक पुत्र था।

एक दिन वासुदेव (श्रीकृष्ण) नारायण ने अपनी नगरी में घोषणा की कि "जो कोई महानुभाव पोदनपुर के नायक अपराजित नामक राजा को रणभूमि में जीतकर और उसको नागपाश से बाँधकर मेरे चरणों में झुकायेगा, उसको मैं मनोवांछित वस्तु प्रदान करूँगा"।

राजकीय घोषणा को सुनकर गजकुमार ने शीघ्र ही रणभूमि में जाकर रणांगण में अपराजित राजा को जीतकर, उसे नागपाश से बाँधकर वासुदेव को समर्पित कर दिया। वासुदेव ने भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार गजकुमार को आदेश दिया कि "मेरे राज्य में तुम इच्छानुसार वस्तु ग्रहण कर सकते हो, इच्छानुसार चेष्टा कर सकते हो।"

किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने पर यह मानव उसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। राजा की आज्ञा से मनोवांछित वर प्राप्त कर गजकुमार ने अच्छे धार्मिक काम तो नहीं किये प्रत्युत् परस्त्री-लम्पट होकर उसने द्वारिका में स्थित कई स्त्रियों का शीलभंग किया और पांसुल नामक सेठ की पत्नी में आसक्त हो गया। सो ही कहा है-

स्वाधीनेपि कलत्रे नीचः परदारलंपटो भवति।
परिपूर्णेपि तडागे काकः कुंभोदकं पिबति।।

अन्यदा गजकुमारो नेमिनाथवंदनार्थं समवशरणमीयिवान्। तत्र भगवतः परांगनापरित्यागलक्षणं धर्ममुपदिशतो मुखादिदं पद्यमश्रौषीत्। उक्तं च-

चिंताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम्।
यान्यत्रैव परांगनाहितमतेस्तद्भूरि दुःखं चिरं
श्वभ्रेऽभाषि यदग्निदीपितवपुर्लोहांगनालिंगनात्।।

इत्यादिकं श्रुत्वा गजकुमारस्तत्क्षणादेव विरक्तः समभूत्। ततो जिनपादांते तपो जग्राह। गुरुसेवया श्रुतपदान्यन्वासीत्। कालक्रमेण गिरनार-गिरि विकटाटव्यां पादपोपयानमरणं स्वीकृत्य संन्यासेन स्थितः। इतश्च पांसुलश्रेष्ठी चिरंतननिजांगनासक्तिजनितं वैरमनुस्मृत्य तीव्रतरक्रोधावेशात्तं मुनीन्द्रं गजकुमारं लोहकीलकैः कीलयित्वा बहुतरां पीडां चापाद्य प्रपलाय्य गतः। मुनीन्द्रोऽपि तथाविधां बाधां सोढ्वा धर्मध्यानेन स्वर्गंगतः। इति गजकुमार कथा।।५०।।

"नीच पापी पुरुष स्वाधीन सती सुन्दर पत्नी के होने पर भी परदार-लम्पट हो जाता है। जैसे स्वच्छनीर से परिपूर्ण तालाब के होने पर भी उस तालाब को छोड़कर कौआ गन्दे पानी से भरे हुए घड़े में मुख डालता है।"

एक दिन गजकुमार नेमिनाथ भगवान की वन्दना करने के लिए समवसरण में गया और वहाँ पर भगवान के मुख से परस्त्रीत्याग लक्षण धर्म का उपदेश सुनते हुए उसने यह पद्य सुना। उन्होंने कहा-

"अहो ! परांगना का सेवन करने वाले को इस लोक में चिंता, व्याकुलता, भय, अरति (धार्मिक कार्य वा स्वकीय स्त्री-पुत्र आदि से अरुचि), मति का नाश, अतिदाह, भ्रम, भूख-प्यास, अति दारुण रोग, दुःख और मरण आदि कष्ट होते हैं और परलोक में नरकगमन, वहाँ पर अग्नि से तप्तायमान लोहमयी पुतली के आलिंगन से उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं, जिनका कथन जिह्वा से नहीं हो सकता।"

भगवान नेमिनाथ के मुखारविन्द से परस्त्री-सेवन से होने वाले दुःखों को सुनकर गजकुमार का हृदय काँप उठा। उसने संसार के सारे द्वन्द्व को छोड़कर भगवान के चरण मूल में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करली।

भगवान के चरण मूल में कुछ दिन रहकर उसने श्रुतपदों का अभ्यास किया।

अनेक देशों में विहार कर गजकुमार एक दिन गिरनार पर्वत की अटवी में आये और पादपोपयान मरण स्वीकार कर संन्यास में लीन हो गये।

उस अटवी में पांसुल सेठ आया। पूर्वकालीन स्वकीय अंगना के सेवन से उत्पन्न हुए वैर का स्मरण कर उसका हृदय क्रोध से तिलमिला उठा। उसने गजकुमार का अनेक कुवचनों के द्वारा तिरस्कार किया और लोहमयी कीलों से उनके शरीर को छेदकर वह चला गया। गजकुमार मुनिराज ने सम भावों से उन सब कष्टों को सहन किया और वे प्राण छोड़कर धर्मध्यान के बल से स्वर्ग में गए।।५०।।

(किसी कथानक में गजकुमार के मस्तक पर विप्रने अग्नि जलाई ऐसा कथन भी आता है।)

।। इति गजकुमार कथा ।।

※ चाणक्य मुनि की कथा ※

राजपुरोहित कपिल की पत्नी देविला की कुक्षिसे उत्पन्न चाणक्य नामक एक ब्राह्मणपुत्र था। यह अत्यन्त बुद्धिमान् था। एक दिन चाणक्य ने महीधर नामक मुनिराज के दर्शन किये और उनके मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुना। मुनिराज के मुख से संसार की असारता जान कर और स्वयं उसका अनुभव कर चाणक्य का मन संसार से भयभीत हो गया और संसार-बन्धन से छूटने के लिए उसने मुनिराज के चरणकमलों में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनिराज पाँच सौ शिष्यों के साथ अनेक देशों में भ्रमण करते हुए क्रौंचपुर में आये और अपनी आयु को बहुत कम समझकर वहीं पर बाह्य उद्यान में प्रायोपगमन संन्यास ले लिया।

मुनिराज का आगमन सुन नागरिक शुद्ध भावों से मुनिराज की वन्दना करने के लिए आये परन्तु चाणक्य के पूर्व भव के शत्रु के चाणक्य को देखकर आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगीं। प्रतिशोध की भावना से उसने मुनिराज के चारों तरफ घास का पुंजकर आग लगा दी।

अग्नि के द्वारा मुनिराज का शरीर लकड़ी के समान जलने लगा परन्तु यतिराज का मन किंचित् मात्र भी खेद-खिन्न नहीं हुआ। वे शरीर से उपयोग को हटाकर सहज शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो गये। तत्काल शुक्ल ध्यान के बल से घातिया कर्मों का क्षयकर केवलज्ञानी बने और अन्तकृत केवली होकर तत्क्षण ही उन्होंने मुक्तिवधू का वरण कर लिया।

हे क्षपक! उन मुनिराज के समान तो तुझे दुःख नहीं है। उन मुनिराज का चिन्तन करो। 'उनके समान ही मेरी आत्मा है' ऐसी भावना करो सहज शुद्ध स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करो। शारीरिक दुःखों की तरफ लक्ष्य मत दो। आधि, व्याधि और उपाधि से उपयोग को हटाकर समाधि में लीन हो जावो। यदि किसी कारणवश थोड़ासा भी मन विचलित हुआ तो दुर्गति में जाना पड़ेगा।

मानवकृत उपसर्ग को सहन करने वाले चाणक्य की कथा समाप्त हुई।

※ अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराजों की कथा ※

दक्षिण भारत में कुंभकाटकर नामक नगर में दण्डक नामक राजा रहता था। उसके हृदय में जिन-भक्ति कूट-कूट कर भरी थी। उसका बाल नामक राजमंत्री जिनधर्म से द्वेष रखता था। उस मंत्री के सहवास से राजा ऐसा मालूम होता था जैसे विषधर से वेष्टित चन्दन वृक्ष। अर्थात् राजा चन्दनवृक्ष के समान था और मंत्री सर्प के समान।

एक दिन उस नगर में अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराजों का संघ आया। अभिमानी मंत्री शास्त्रार्थ के लिए मुनिराजों के समीप गया। खण्डक नामक मुनिराज ने स्याद्वाद के बल से वस्तु का यथार्थ रूप

निरूपण करके राजमंत्री को निरुत्तर कर दिया। लज्जित होकर मंत्री अपने घर आया परन्तु मानहानि की चोट उसके हृदय को कचोट रही थी। उसको कहीं शांति नहीं थी। उसने बिना कारण मुनिराज से द्वेषकर उनको मारने का निश्चय किया। सत्य है, अज्ञानी जन विना कारण वैर-विरोध कर स्व का घात करते हैं।

"राजा जिनधर्मावलम्बी है, उसके समक्ष मैं इन दिगम्बरों का घात कैसे कर सकता हूँ अत: ऐसा कोई उपाय हो जिससे राजा स्वयं धर्मद्रोही बन जाये, मेरी मनोकामना पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।" ऐसा विचार कर उसने एक भाँड को मुनि बनाकर राजमहल में रानी के पास भेजा। वह भाँड रानी के निकट जाकर हँसी-मजाक करने लगा। इधर राजमंत्री ने राजा के समीप जाकर कहा कि "राजन्! जिन के चरणों की आप दिन-रात सेवा करते हैं जिन को परमपूज्य मानते हैं, उनका दुष्कृत्य देखो; कितनी नीच है- उसकी चर्या।" उस भाँड की लीला देखकर राजा के क्रोध की सीमा नहीं रही. उसने आज्ञा दी कि सारे मुनियों को घानी में पेल दो। मंत्री तो यह चाहता ही था, उसका मन बाँसों उछलने लगा। सत्य ही है, मनोकामना पूरी होने पर किसको आनन्द नहीं आता। राजाज्ञा पाकर राजमंत्री ने अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराजों को तिल के समान घानी में डालकर पेल दिया।

सारे मुनिराजों ने स्वकीय कर्मविपाक फल का विचार कर समभावों से उपसर्ग सहन किया। वे निर्विकल्प समाधि में लीन हुए और केवलज्ञान प्राप्त कर उन्होंने मोक्षपद प्राप्त किया।

हे क्षपक! तुझे कोई घानी में तो नहीं पेर रहा है, मानवकृत घोरोपसर्ग सहन करने वाले उन अभिनन्दन आदि मुनिराजों का चिन्तन कर। वेदना का अनुभव मत कर। यह वेदना नगण्य है। पराधीन होकर तूने अनेक दु:ख भोगे अत: समता भाव धारण कर।

※ अकम्पन मुनिराज की कथा ※

उज्जयिनी नगरी में धर्मात्मा, न्यायी, प्रचण्ड योद्धा श्रीवर्मा नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में प्रजा चैन की वंशी बजाती थी। उस राजा के बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि नामक चार राजमंत्री थे। ये चारों जैनधर्म के द्रोही थे- इसलिए वह धर्मात्मा श्रीवर्मा राजा सर्पों से वेष्टित चन्दन वृक्ष के समान प्रतीत होता था।

एक दिन सात सौ मुनियों के साथ अकम्पनाचार्य उज्जयिनी नगरी के बाह्य उद्यान में आकर ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने अपने निमित्तज्ञान के द्वारा 'संघ पर कोई उपसर्ग होने की संभावना है' ऐसा जानकर संघस्थ सर्व मुनियों को आदेश दिया कि "कोई भी मुनिराज राजा तथा राज्य-कर्मचारियों के साथ

वार्त्तालाप न करे। सब मौन धारण कर आत्मध्यान में मग्न रहें, अन्यथा संघ पर उपसर्ग आने की संभावना है।'' गुरु की आज्ञा अनुसार सर्व मुनिराजों ने मौन ग्रहण कर लिया। ठीक ही है- जो गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं वे शिष्य प्रशंसनीय होते हैं।

जब राजा ने मुनिराज का आगमन सुना तो उसका शरीर पुलकित हो उठा और मन मयूर नाच उठा। पुरजन-परिजन सहित राजा मुनिराज के दर्शन करने निकला। राजा को जाते देखकर अनमने भाव से चारों मंत्री भी साथ चलने लगे। उनका हृदय कपट से भरा हुआ था।

बाह्य उद्यान में जाकर मुनिराज के दर्शन करके राजा के नेत्र आनन्द अश्रु से भीग गये। शरीर रोमांचित हो गया। वाणी में गद्गदपना आ गया। राजा ने हर्षित होकर सर्व मुनिराजों को पृथक्-पृथक् नमस्कार किया परन्तु किसी भी मुनिराज ने न तो आशीर्वाद दिया और न वार्त्तालाप किया।

तत्त्ववेत्ता राजा उनको ध्यानस्थ देखकर बहुत आनन्दित हुआ। मुनिराज के दर्शन कर जब राजा अपने घर जाने लगा तब चारों मंत्री मुनिराज की निन्दा करने लगे और कहने लगे ''राजन् ! ये महामूर्ख हैं इसलिये मौन का आश्रय लेकर बैठ गये। आपने सबको नमस्कार किया परन्तु मूर्खों ने आपको आशीर्वाद भी नहीं दिया।'' राजा उनकी बातें सुन रहा था किन्तु प्रत्युत्तर नहीं दे रहा था। उसके हृदय में जिनधर्म की श्रद्धा अटूट भरी हुई थी। कुछ दूर चलने के बाद मार्ग में श्रुतसागर नामक मुनिराज दृष्टिगोचर हुए जो नगर से आहार करके आ रहे थे। मुनिराज को देखकर मंत्रियों को क्रोध उमड़ा और उन्होंने कुवचन कहकर मुनिराज का तिरस्कार किया। बात-ही-बात में मंत्रियों के साथ श्रुतसागर महाराज का शास्त्रार्थ प्रारंभ हो गया। मुनिराज ने स्याद्वादमय वाणी से मंत्रियों को पराजित कर दिया।

मंत्रियों को परास्त कर मुनि श्रुतसागर ने गुरुदेव अकम्पनाचार्य के समीप जाकर सारा समाचार निवेदन किया। क्योंकि यह मुनियों की समाचार विधि है कि मार्ग में या स्थान में जो कुछ किसी के साथ बोलना या किसी वस्तु की प्राप्ति होती है, वह सब गुरु को जाकर कहना।

मुनि श्रुतसागर के द्वारा कथित वृत्तान्त को सुनकर खेद प्रकट करते हुए आचार्यदेव ने कहा- ''हाय ! सर्वनाश उपस्थित हो गया। तुमने अपने हाथों से संघ पर कुठाराघात किया। देखो, तुमने उन मंत्रियों से शास्त्रार्थ कर संघ की इतनी हानि की है, जिसका कथन करना भी संभव नहीं है।''

श्रुतसागर मुनिराज आहारचर्या के लिए नगर में गये हुए थे। उनको गुरु-आज्ञा की जानकारी नहीं थी, इसलिए उन्होंने मंत्री के साथ विवाद किया था, यदि उनको आज्ञा विदित होती तो वे गुरु-आज्ञा का भंग कभी नहीं करते।

मुनि श्रुतसागर ने हाथ जोड़ नमस्कार कर विनय से पूछा ''गुरुदेव! कोई ऐसा उपाय है जिससे संघ की रक्षा हो सकती हो?'' गुरुदेव ने कहा ''जहाँ तुमने मंत्रियों के साथ शास्त्रार्थ किया था, उसी स्थान पर जाकर रात्रिमें कायोत्सर्ग से खड़े रहो तो संघ की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं।'' धन्य है श्रुतसागर मुनि जिन्होंने संघ की रक्षा के लिए रात्रि में वहाँ जाकर कायोत्सर्ग करना स्वीकार कर लिया। वे उसी समय उस स्थान पर जाकर आत्मध्यान में लीन हो गए।

जब मुनिराज के साथ शास्त्रार्थ में चारों मंत्रिगण परास्त हो गये तब उन्होंने बिना कारण क्रोधित होकर अपने मन में उनको मारने का निश्चय किया। ठीक ही है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को तत्त्व का उपदेश रुचिकर नहीं होता। उसी दिन एक प्रहर रात्रि बीत जाने पर वे चारों मंत्री हाथ में तलवार लेकर सर्वसंघ का सर्वनाश करने के लिए निकल पड़े। मार्ग में श्रुतसागर मुनिराज को देखकर उन्होंने विचार किया कि बड़े भाग्य से हमारा शत्रु यहीं मिल गया। इस समय अपनी मानहानि करने वाले का वध कर अपमान का प्रतिशोध लेना चाहिए। इस प्रकार चारों ने निश्चय कर मुनि का मस्तक विदीर्ण करने के लिए उनकी ग्रीवा पर खड्ग का प्रहार किया। परन्तु मुनिराज के तप के प्रभाव से शासन देवता ने आकर मुनि की ग्रीवा पर तलवार खींचे हुए दुष्ट मंत्रियों को खड्ग सहित स्तंभित कर दिया।

प्रात:काल होते ही मंत्रियों के दुष्कृत्य के समाचार बड़वानल के समान सारे नगर में फैल गये। सारे नगर-निवासी उन्हें देखने के लिए दौड़ पड़े। राजा भी उनको देखने के लिए गया।

सारी जनता ने एक स्वर में मंत्रियों को धिक्कारना प्रारंभ किया। ठीक ही है- निरपराध महापुरुषों को कष्ट देने वाले इस लोक में धिक्कार-अपयश आदि को प्राप्त होते हैं और पर-लोक में दुर्गति में जाते हैं। अन्त में, शासनदेवता ने प्रकट होकर मंत्रियों की भर्त्सना की, ताड़ना की और उनको बंधनमुक्त कर दिया तथा मुनिराज के चरणारविन्द की पूजा करके शासनदेवता अपने स्थान पर चले गए।

राजा श्रीवर्मा मंत्रियों की इस दुष्टता को जान कर बहुत क्रोधित हुआ। उसने उनको मंत्रिपद से च्युतकर गधे पर चढ़ाकर स्वकीय राज्य की सीमा से बाहर निकाल दिया। ठीक ही है- पापियों को दण्ड मिलना ही चाहिए।

निष्कासित मंत्रियों के भाग्यचक्र ने पलटा खाया और वे चारों हस्तिनापुर के अनुशास्ता पद्मनामक राजा के राज्य में जाकर पद्म राजा के शत्रु सिंहबल को अपने पराक्रम से वश कर, उसे पद्म के आधीन कर उसके मंत्री बन गए। राजा ने खुश होकर इच्छित वस्तु मांगने के लिए प्रेरित किया परन्तु उन्होंने कहा ''समय आने पर याचना करेंगे। अत: अभी हमारा वर आपके पास धरोहर में सुरक्षित रहे।''

कुछ दिन बाद अनेक देशों में विहार कर धर्मप्रचार करते हुए अकम्पनाचार्य संघ सहित हस्तिनापुर

के बाह्य उद्यान में आकर उपस्थित हुए। मुनिसंघ के शुभागमन का संवाद सुनकर नगरनिवासी उत्साह के साथ वन्दना करने के लिए जाने लगे।

मुनिराज के आगमन की सूचना सुनकर क्रोधित होकर मंत्रियों ने प्रतिशोध लेने का निर्णय किया।

एक मंत्री ने कहा - ''बन्धु! यही अवसर है, अब हम राजा से अपनी अभिलाषा प्रकट करें। देखो, अभी तक अपमान की ज्वाला से मेरा हृदय धधक रहा है, मित्रो! इन दुष्ट साधुओं के कारण हमें राज्य से निष्कासित होकर भटकना पड़ा था, हमारी बड़ी दुर्दशा हुई थी। हमें गर्दभ पर चढ़ाकर देश-निर्वासन का दण्ड इन्हीं के कारण दिया गया था। आज तक इन्हीं दुष्टों के कारण हम अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अत: ऐसे अवसर को अपने हाथों से नहीं जाने देना चाहिए।'' दूसरे मंत्री ने उसके कथन का समर्थन किया और प्रतिशोध लेने की भावना प्रकट की।

तीसरे मंत्री ने कहा- ''राजा तो इनका भक्त है, वह कैसे इनकी दुर्दशा होने देगा? अत: कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे हम इनका प्रतिशोध करके अपमान का बदला ले सकें।'' इतने में प्रसन्नचित्त होकर बलि नामक मंत्री ने कहा- ''तुम लोग व्यर्थ चिंता में पड़े हो। सिंहबल को बन्दी बना कर राजा के आधीन किया था, उस समय राजा ने हमें पुरस्कार देने का वचन दिया था- आज वह सुअवसर आया है। पुरस्कार में राजा से सप्त दिवसीय राज्य लेकर इन दुष्टों के प्राणों का संहार कर प्रतिशोध लेना चाहिए।'' बलि के कथन का तीनों मंत्रियों ने समर्थन किया और राजा के समीप जाकर सात दिन के लिए राज्य देने की याचना की।

राजा वचनबद्ध थे और उन्हें यह कल्पना भी नहीं थी कि मंत्री इसका दुरुपयोग कर करुणा-सागर मुनिराजों के प्राणों का संहार करेंगे। उन्होंने उनको सप्त दिवस के लिए राज्य दे दिया।

कपटी मंत्री-चतुष्टय ने राज्य-शासन का सूत्र अपने हाथ में आया हुआ देखकर मुनिराजों के प्राण हरने के लिए यज्ञ करने का उपक्रम किया, जिससे किसी के मनमें अनिष्ट की आशंका न हो।

दुष्ट मंत्रियों ने मुनिसंघ को यज्ञ मण्डप के मध्य स्थापित कर उनके चारों तरफ ईंधन एकत्र किया और वेद की ऋचाओं का उच्चारण करते हुए यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें हजारों निरपराध पशुओं की आहुति दी जाने लगी। देखते-देखते दुर्गन्ध के मारे वहाँ ठहरना असंभव हो गया। दुर्गन्धित धुँए से व्योम मण्डल इस प्रकार व्याप्त हो गया, मानों इस महापाप को न देख सकने के कारण ही सूर्य अस्त हो गया हो।

इस विषम परिस्थिति में सर्व मुनिराज (सात सौ मुनिराज) नियम सल्लेखना धारण कर मेरु के समान अचल रहकर ध्यानमग्न हो जिनेन्द्रदेव के गुणों का और शुद्धात्मा का ध्यान करने लगे। सत्य है-

दिगम्बर जैन साधु दुःसह परीषहों को सहन करने में भयभीत या आकुल-व्याकुल नहीं होते। वे धीरता से सारे कष्टों को सहन कर अपने मार्ग पर दृढ़ रहते हैं।

हस्तिनापुर में जब सात सौ मुनिराजों पर घोरोपसर्ग हो रहा था, उस समय मिथिलानगरी में श्रुत-सागर मुनिराज ने श्रवण नक्षत्र के कँपने से अपने निमित्तज्ञान से जान लिया कि हस्तिनापुर में अकम्पनादि सातसौ मुनिराजोंपर घोर उपसर्ग हो रहा है, तब उनके मुख से अकस्मात् हाय! हाय! शब्द निकल पड़ा। वे बोल पड़े, 'अरे! मुनिराजों को कितना कष्ट हो रहा है।' उनके समीप बैठे हुए पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक ने पूछा, "हे गुरुदेव! किस स्थान पर यह अनर्थ हो रहा है? मुनिराजों पर घोर उपसर्ग हो रहा है?" क्षुल्लक पुष्पदन्त ने पुनः जिज्ञासा की। "हे देव! इसके निवारण का उपाय क्या है?" मुनिराज ने कहा- विक्रियाऋद्धिधारी विष्णुकुमार मुनि इस उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं।" मुनिराज की बात सुनकर शीघ्र ही क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनिराज के पास पहुँचे और उन्होंने उनको सारा वृत्तान्त कहा।

सर्वप्रथम विष्णुकुमार मुनिराज ने अपनी ऋद्धि की परीक्षा की। जब उन्होंने अपना हाथ फैला कर देखा-तब उनका हाथ बहुत दूर तक फैल गया।

हस्तिनापुर के राजा विष्णुकुमार के अग्रज थे। महापद्म राजा के दो पुत्र थे विष्णु और पद्म। विष्णु कुमार ने महापद्म राजा के साथ तपोवन को स्वीकार किया और पद्म ने राज्य।

विष्णुकुमार तत्काल हस्तिनापुर आये। उन्होंने अपने अग्रज पद्म राजा को सम्बोधित करते हुए कहा-"हे भव्य! आपने यह क्या किया? हा दैव? आपके देखते देखते तपस्वी जैन मुनियों पर इस प्रकार का अत्याचार होता रहे और आप मूक बनकर दृश्यावलोकन करते रहें? क्या आपको ज्ञात नहीं है कि आपके ही नगर में निर्दोष मुनिसंघ पर घोर उपसर्ग हो रहा है। आप शीघ्र ही इस अत्याचार को रोकिए अन्यथा आपको भयंकर दुःखों का सामना करना पड़ेगा।"

अपने प्रिय अनुज मुनिराज के सारगर्भित शिक्षायुक्त उपदेश को सुनकर राजा पद्म ने विनीत शब्दों में कहा- "हे गुरुदेव! मैं इस समय प्रतिज्ञा के कठिन बंधन में जकड़ा होनेसे विवश हूँ। मुझे यह ज्ञात नहीं था कि दुष्ट मायावी मंत्री मेरे राज्य में ऐसा अनर्थ करेंगे। हे गुरुदेव! आप ही कोई उपाय कीजिए जिससे मुनिसंघ की विपत्ति का निवारण हो जावे।"

विष्णुकुमार मुनिराज विक्रिया ऋद्धि से वामन ब्राह्मण का वेष धारण कर वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए बलि के यज्ञ-मण्डप में पहुँच गए। यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी लोग ओजस्वी ब्राह्मण के मुख से वेदमंत्र का पाठ सुनकर मंत्रमुग्ध हो गए। बलि के आनन्द का पारावार नहीं था। उसने भावविह्वल होकर कहा,

"हे विप्रवर! मैं आपके शुभागमन के लिए कृतज्ञ होकर आपका सहर्ष स्वागत करता हूँ। आपने यज्ञमण्डप में आकर मुझ पर बड़ी कृपा की है, अतः आज मैं आप पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस समय आप अपनी इच्छानुसार वस्तु मांग सकते हो, बोलो! आपको क्या चाहिए?"

बलि की प्रेरणा से वामनरूप धारी विष्णुकमार ने कहा, "हे राजन्! यदि आप मुझे कुछ देना चाहते हो तो मेरे पैर से मापित तीन डग जमीन मुझे प्रदान करें, मैं अपनी इच्छानुसार छोटी सी झोंपड़ी बना कर रहूंगा।"

वामन ब्राह्मण की बात सुनकर सारे लोग हँसने लगे। उन्होंने ब्राह्मण को कहा- "हे विप्र! तुम इतनी छोटी वस्तु की क्या याचना करते हो? इस दानी राजा के समीप आये हो ऐसी वस्तु की याचना करो जिससे तुम्हारा सारा दारिद्र्य दूर हो जाये।"

ब्राह्मण ने कहा, "अधिक लोभ नहीं करना चाहिए क्योंकि सारे पापों की जड़ लोभ है। यदि आप कुछ देना चाहते हो तो मेरी इच्छानुसार जमीन प्रदान करो, अन्यथा मैं यहाँ से चला जाता हूँ।"

बलि ने तीन डग जमीन देने की स्वीकृति दी और कहा- "विप्रराज! तुम अपनी इच्छानुसार अपने पैरों से जमीन नाप लो।"

बलि की अनुमति पाकर विक्रिया से उन्होंने अपने पैर को बढ़ाया। एक पैर मेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, जब तीसरा पैर रखने के लिए जगह नहीं रही, पैर नभस्थल में लटक गया, तो देवताओं के आसन कम्पायमान हो उठे। "क्षम्यतां, क्षम्यतां, क्षम्यतां" ध्वनि से नभस्थल गुंजित हो उठा। विष्णुकुमार ने बलि की ताड़ना की। सात सौ मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया। सब लोग धन्य-धन्य कहने लगे।

हे क्षपक! तुम अपने परिणामों को निर्मल कर कष्टों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन मुनिराजों का चिंतन करो, जिससे कष्ट सहन करने की क्षमता प्राप्त होगी। परिणामों में स्थिरता आयेगी।

जैसी आत्मा उनकी है, वैसी ही तेरी आत्मा है। उस अपनी आत्मा का अनुभव करो। वह भूख, प्यास, आधि, व्याधि से रहित है। ये सारी बाधायें या कष्ट शरीर के साथ सम्बन्धित हैं। तुम शरीर के ममत्व का त्याग करके स्व-स्वरूप में रमण करने का प्रयत्न करो। शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख का अनुभव मत करो।

यह तुम्हारा अन्तिम समय है, इसमें तुम सावधान रहो, किसी भी विषय में स्वमन को मत भटकाओ, अन्यथा संसार के अनेक दुःखों का सामना करना पड़ेगा। अतः तुम सावधान होकर अपने मन को शुद्धात्मा के चिंतन में स्थिर करो।

देवनिकायनिर्मितोपसर्गविषहणं यैरकारि तानुदाहरति -

अमरकओ उवसग्गो सिरिदत्तसुवण्णभद्ददआईहिं।
समभावणाए सहिओ अप्पाणं झायमाणेहिं ॥५१॥

अमरकृत उपसर्गः श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभिः।
समभावनया सोढ आत्मानं ध्यायद्भिः ॥५१॥

सहिओ सोढः। कोसौ। उपसर्गः विषमतरवेदना। कीदृश उपसर्गः **अमरकओ** अमरकृतः देवनिकायविहितः। तीव्रतरोपसर्गः विसोढः। कैरित्याह। **सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं** श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभिः श्रीदत्तश्च सुवर्णभद्रश्च श्रीदत्तसुवर्णभद्रौ तावादी येषां ते श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयस्तैः श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभिः। कया सोढः। **समभावणाए** समभावनया शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे समाना या भावना सा-समभावना तया समभावनया। किं कुर्वद्भिस्तैरुपसर्गः सोढः। **अप्पाणं झायमाणेहिं** आत्मानं सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावं ध्यायद्भिः ध्यानगोचरी-कुर्वद्भिः। अत्र श्रीदत्तस्य कथा यथा। इलावर्धननगरे राजा श्रीदत्तो राज्ञी अंशुमती तयोर्द्यूतं क्रीडतो सतोः राज्ञ्या पराभवं गते राजनि राज-पत्नीशुक एकां रेखां दत्तवान्। एकवारं राज्ञा हारितमिति कुपितेन भूपेन शुको गलं मोटयित्वा मारितः। स केनचिद्ध्यानविशेषेण मृत्त्वा व्यंतर-देवोऽजनि। राजा श्रीदत्तोप्यन्यदा धवलगृहोपरि स्थितो जलधरजनितप्रासादविनाशं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः पुत्राय राज्यं वितीर्य जैनीं दीक्षामशिश्रियत्।

जिन्होंने चतुर्निकायदेव कृत उपसर्गों को सहन किया है, अब उनका उदाहरण देते हैं –

श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि महान् पुरुषों ने आत्मा का ध्यान करते हुए समभावना के द्वारा देवकृत उपसर्ग सहन किया है ॥५१॥

श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि मुनिराजों ने सहज शुद्ध बुद्ध, एक स्वभाव आत्मा का ध्यान करते हुए, शत्रु-मित्र, काच-कंचन, तृण-कोमल बिस्तर आदि में समभावना से चार निकाय देवकृत विषमतर वेदनापूर्ण तीव्र घोरोपसर्ग सहन किया था।

※ श्रीदत्त की कथा ※

इलावर्धन नगर में श्रीदत्त नामका राजा रहता था। उसके अंशुमती नाम की रानी थी। मनोरंजन के लिए राजा और रानी राजमहल में जुआ खेलते थे। तब अंशुमती के द्वारा पाला हुआ तोता हार-जीत का संकेत स्वकीय नख से रेखा खींच कर करता था। पर साथ ही उसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता था तब वह एक रेखा खींचता और जब उसकी मालकिन अंशुमती जीतती थी तब वह दो रेखायें खींच देता था। श्रीदत्त ने तोते की इस चालाकी को बहुत बार सहन किया किन्तु तोते की दुष्टता जारी रही। अन्त में श्रीदत्त को क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने तोते की गर्दन मरोड़ दी। तोता उसी समय मर गया और मरण समय किसी ध्यान विशेष से मरकर व्यंतर जाति का देव हुआ।

एक दिन संध्या के समय धवल महल पर बैठे हुए श्रीदत्त प्राकृतिक सौन्दर्य देख रहे थे कि बादल का एक बड़ा भारी टुकड़ा आँखों के सामने से गुजरा और देखते-देखते छिन्न-भिन्न हो गया। यह दृश्य देखकर श्रीदत्त का हृदय संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। संसार की क्षणभंगुरता उनके सामने नाचने लगी। उपयोग की सारी वस्तुयें उन्हें विद्युत् (बिजली) के समान नाशवंत प्रतीत होने लगीं। सर्प जैसे विषैले विषय भोगों से उनका हृदय काँप उठा। शरीर की अपवित्रता जानकर उससे ममत्व हट गया। तत्काल पुत्र को राज्य देकर उन्होंने दैगम्बरी मुद्रा धारण कर ली।

ततः श्रुताभ्यासं विदधानः परमं तपश्चिन्वानः कालमतिवाहयामास।

अन्यदा तीव्रतरे शीततौ प्रवर्तमाने पुरबाह्योद्याने कायोत्सर्गमाश्रित्य तस्थिवान्। शुकचरेण व्यंतरदेवेन तेन पूर्ववैरमनुस्मृत्य शीतलवारिणा सिक्तः तथा शीतलवातेन कदर्थितः सहजशुद्धं परमात्मानमाराध्य केवलाख्यं च ज्योतिरुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान् श्रीदत्तो मुनिः ॥५१॥

दैगम्बर मुद्रा धारण कर सर्वप्रथम उन्होंने गुरु के चरण सान्निध्य में श्रुत का अभ्यास किया। राजकीय सुखों से पले हुए शरीर के ममत्व का त्याग कर घोर तपश्चरण करते हुए अनेक देशों में विहार करके अनेक भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग में लगाते हुए कुछ काल के बाद अत्यन्त शीत ऋतु के समय स्वनगर में आकर बाह्य उद्यान में कायोत्सर्ग मुद्रा से खड़े होकर आत्मध्यान करने लगे।

मानव कषायों के उद्रेक में आकर अनुचित कार्य करके कर्म बाँधता है और जब उनका फल भोगना पड़ता है तब दुःख का अनुभव करता है, दुःखी होता है।

राजा ने क्रोध में आकर जिस तोते को मारा था वह मरकर व्यंतर हुआ था। वह श्रीदत्त मुनिराज की तरफ से गुजरा तो उनको देखकर उसका क्रोध उमड़ आया। पूर्वभव के स्मरण से राजा को अपना शत्रु समझ कर उसने प्रतिशोध के लिए उपद्रव करना प्रारंभ कर दिया। एक तो जाड़े के दिन उस पर उसने ठण्डी हवा चलाई। पानी बरसाया और ओले गिराये। हर प्रकार से मुनिराज को कष्ट देने का प्रयत्न किया परन्तु श्रीदत्त मुनिराज के मन मेरु को वह किञ्चित् भी विचलित नहीं कर सका।

श्रीदत्त मुनिराज ने शांतिपूर्वक उन कष्टों को सहन किया। तोते के जीव व्यंतरदेव के द्वारा पूर्व वैर का स्मरण कर के शीतल जल और शीतल वायु के द्वारा कदर्थित (दुःख) होने पर भी, स्वकीय मन को बाह्य से हटाकर सहज शुद्ध परमात्मा के ध्यान में लगाकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का विध्वंस करके तथा एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष तीन घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान के बल से योग निरोध करके व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से शेष अघातिया कर्मों का नाश कर शाश्वत अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त किया।

हे आत्मन् ! श्रीदत्त मुनिराज के चिन्तन रूप अग्नि के द्वारा शीत के कारण होने वाले दुःख को दूर कर स्व आत्मा के ध्यान में मग्न हो जाओ। बाह्य में होने वाले शीत का अनुभव मत करो। शीत के कारण अपने मन को विचलित मत होने दो॥५१॥

श्रीदत्त की कथा समाप्त हुई।

यथा प्रागुक्तैः राजर्षिभिरुपसर्गः सोढस्तथा त्वमपि सहस्वेत्युत्साहयन्नाह-

एएहिं अवरेहिं य जहं सहिया थिरमणेहिं उवसग्गा।
विसहसु तुमंपि मुणिवर अप्पसहावे मणं काऊ॥५२॥

एतैरपरैश्च यथा सोढाः स्थिरमनोभिः उपसर्गाः।
विषहस्व त्वमपि मुनिवर आत्मस्वभावे मनः कृत्वा॥५२॥

विसहसु विषहस्व **मुणिवर** मुनिवर क्षपक। कान्। अर्थादुपसर्गान्। **जहं एएहिं अवरेहिं य** यथा **एतैः पूर्वोक्तैः** सुकुमालादिभिः अनुक्तैः संजयंतादिभिः **सहिया** सोढाः। के। उपसर्गाः। कीदृशैः। **थिरमणेहिं** स्थिरमनोभिः स्थिरचित्तैः। यथा सुकुमालसुकोशलगुरुदत्तपांडवादिभिराराधनास्वर्धुनीमध्यमध्यासीनैरुपसर्गाः चतुर्विधाः समभावनया सोढास्तथा त्वमपि यद्युत्तमां गतिं जिगमिषसि तर्हि सहस्व। किं कृत्वा। **अप्पसहावे मणं काऊ** आत्मस्वभावे परमात्मनि मनश्चित्तं कृत्वा सहस्वेत्यर्थः॥५२॥

सुवर्णभद्रादि मुनिराजों ने भी देवकृत उपसर्ग को सहन कर चेलना नदी के तीर पर कर्मों का नाश कर मुक्तिपद प्राप्त किया है।

जिस प्रकार उपरिकथित राजऋषियों (दिगम्बर महामुनियों) ने चार प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करके उत्तम पद प्राप्त किया है, वैसे हे क्षपक ! तुम भी सहन करो। इस प्रकार क्षपक को उत्साहित करते हुए आचार्य कहते हैं-

हे क्षपक ! जैसे चार प्रकार का उपसर्ग सुकुमाल और अन्य मुनियों ने स्वकीय मन को स्थिर करके सहन किया है, वैसे तुम भी स्व-आत्मभाव में मन को स्थिर करके उपसर्ग सहन करो॥५२॥

हे क्षपक ! जिस प्रकार स्वकीय मन को शुद्ध परमात्मा के चिन्तन में स्थिर करके उपर्युक्त सुकुमाल, सुकोशल, गुरुदत्त, पाण्डव आदि महापुरुषों ने तथा जिनका कथन नहीं किया गया, जिनका नाम भी नहीं लियागया ऐसे संजयंत, अकम्पन, अभिनन्दन आदि अन्य महापुरुषों ने चार प्रकार की आराधना रूप देवगंगा के मध्य में बैठ कर समभावना के द्वारा चार प्रकार के उपसर्ग को सहन करके उत्तम गति प्राप्त की है, अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया है। यदि तुम भी उत्तम पद को प्राप्त करना चाहते हो तो स्वकीय मन को शुद्धात्म स्वभाव में वा परम के गुणों के चिंतन में स्थिर करके उन उपसर्गों को वा भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाधाओं को समभावों से सहन करो।

संजयन्त मुनि का चरित्र

वीतशोकपुर में वैजयन्त नाम का राजा राज्य कर रहा था। उसकी भव्यश्री नामक रानी की कुक्षि से दो पुत्र उत्पन्न हुए संजयन्त और जयन्त।

एक दिन बिजली गिरने से हाथी की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा का हृदय सांसारिक भोगों से विरक्त हो गया। उन्होंने अपने दोनों पुत्रों को बुलाकर कहा- "बेटो ! तुम इस राज्य को स्वीकार करो, मैं दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर के आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

दोनों पुत्रों ने हाथ जोड़कर विनम्र भावों से कहा-"तात ! आपने आकुलता एवं पाप का कारण समझकर राज्य को छोड़ने का निश्चय किया है, आपके द्वारा वमन किये हुए, छोड़े हुए राज्य को हम स्वीकार नहीं करेंगे। यह राज्य पाप और वैर का कारण है। हम दोनों आपके साथ दिगम्बर मुद्रा ग्रहण करेंगे।"

जब दोनों पुत्रों ने राज्य स्वीकार नहीं किया तब राजा संजयन्त के पुत्र को राज्यभार देकर दोनों पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर घोर तपश्चरण करने लगे। कुछ दिनों के तपश्चरण के बाद वैजयन्त मुनिराज ने घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके केवलज्ञान की पूजा करने के लिए चारों निकाय के देवता गण आये। उन देवताओं के समूह में धरणेन्द्र के अलौकिक रूप को देखकर तत्रस्थ जयन्त मुनिराज ने निदान-बंध किया। अर्थात् चारित्र तथा सम्यग्दर्शन से च्युत होकर यह भाव किया कि मेरे इस तपश्चरण के फल से मुझे धरणेन्द्र के समान सौन्दर्य और विभूति प्राप्त हो। निदानबंध के कारण जयन्त मुनिराज मरकर धरणेन्द्र हो गये। ठीक ही है- जिस चारित्र एवं सम्यग्दर्शन के फल से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, उससे यदि तुच्छ सांसारिक सुख प्राप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है!

संजयन्त मुनिराज एक दिन एक अटवी में कायोत्सर्ग से स्थित होकर शुद्धात्मा का ध्यान कर रहे थे। उनके ऊपर से गमन करते हुए विद्युंद्रष्ट नामक विद्याधर का विमान वहीं पर स्थगित हो गया (रुक गया)।

विमान को रुका हुआ देखकर आश्चर्यचकित हो उसने नीचे की ओर देखा। तत्रस्थ संजयन्त मुनिराज को देखकर उसने निश्चय किया कि मेरे विमान को इसीने स्तम्भित किया है। उसकी क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने मुनिराज पर घोरोपसर्ग किया परन्तु संजयंत मुनिराज का मनमेरु अडोल अकम्प रहा। ठीक ही है- प्रलय काल की वायु के झकोरों से मेरु कम्पित नहीं हो सकता।

जब मुनिराज ध्यान से विचलित नहीं हुए तब विद्याधर की क्रोधाग्नि अधिक भभक उठी। उस अधम विद्याधर ने मुनिराज को अपने विद्याबल से उठाकर भारतवर्ष की पूर्व दिशा में बहने वाली भयंकर सिंहवती नामक नदी में डाल दिया। इतनी विपत्तियों से भी उनके दुःखों का अन्त नहीं हुआ। इसलिए तत्रस्थ लोगों ने उनको राक्षस समझकर उन पर पत्थर बरसाना प्रारंभ कर दिया परन्तु इस प्रकार भयंकर कष्ट आने पर भी संजयन्त मुनि ध्यान-मग्न रहे, स्व शुद्ध स्वभाव से चलायमान नहीं हुए। निर्विकल्प समाधि में लीन हो शुक्ल ध्यान के बल से उन्होंने घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और अंतकृत केवली होकर उसी समय अघातिया कर्मों का नाशकर अविनाशी मोक्षपद प्राप्त कर लिया।

हे आत्मन् ! जैसे संजयन्त मुनिराज घोरोपसर्ग आने पर भी स्व स्वभाव से च्युत नहीं हुए, उसी प्रकार तुम भी इन उपसर्गों से वा शारीरिक वेदनाओं से आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वभावसे च्युत मत होओ। अपने मनको वश में कर स्वानुभव के रस का आस्वादन करो। शरीर की तरफ लक्ष्य मत दो।

॥ संजयन्त मुनिराज की कथा समाप्त ॥

इस प्रकार **आराधनासार** में विस्तारपूर्वक घोर उपसर्गों की व्याख्या और उनको सहन करने वाले महापुरुषों के चरित्र का कथन किया। क्योंकि उन महापुरुषों के स्मरण वा ध्यान से आराधक के परिणामों में स्थिरता और उपसर्ग सहन करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

प्रपंचत: प्रकृष्टोपसर्गान् व्याख्याय संप्रति क्रमायातस्येंद्रियजयस्य प्रपंचयन् गाथापंचकं निरूपयति इति समुदायपातनिका।

तत्रादौ रूपकेण कृत्वा इंद्रियाणां व्याधत्वं समर्थयन् स्मरे शरत्वं विषयेषु वनत्वं जनेषु हरिणत्वं प्रतिपादयति-

इंदियवाहेहिं हया सरपीडापीडियंगचलचित्ता।
कत्थवि ण कुणंति रई विसयवणं जंति जणहरिणा ॥५३॥

इंद्रियव्याधैर्हता: शरपीडापीडितांगचलचित्ता:।
कुत्रापि न कुर्वंति रतिं विषयवनं, यांति जनहरिणा: ॥५३॥

इंदियवाहेहिं इंद्रियव्याधै: इंद्रियाण्येव व्याधा आखेटिका: परनिमित्तसुखरूपपलाभिलाषित्वेन स्वव्यापारे प्रवर्तमानत्वात्। तैरिन्द्रियव्याधै: **हया** हता घातिता: शल्यगोचरीकृता: **सरपीडापीडियंगचलचित्ता** शरपीडापीडितांगचलचित्ता:। शरो बाण:। बाणस्थानीयोत्र क इति चेत्। शरशब्देन स्मरो लभ्यते प्रभूतलक्षणदर्शनेनात् स्मर एव शर:। शरशब्द एक एवेति चेत् नास्ति दोष:। एकस्मिन्नेव शब्देऽपि मुख्योपचारयोरुभयार्थयो: प्राप्यमाणत्वात्। न भवेदिति चेत् तदा चिंत्यमेतत् दूष्यं वैदुष्यै:। स्मररूपशरस्य पीडा बाधा तया पीडितांगे बाधितांगे सति चलचित्ता लोलमनस: **जणहरिणा** जनहरिणा: जना एव हरिणा

इस प्रकार उपसर्गों के सहन करने का कथन करके अब क्रम से आगत इन्द्रियविजय का पाँच गाथाओं के द्वारा कथन करते हैं-

अब रूपक अलंकार में इन्द्रियों को व्याध (शिकारी), काम को बाण, विषय को वन और मानव को हरिण की उपमा देकर कथन करते हैं-

इन्द्रिय रूपी व्याध के द्वारा मारे गये, काम के बाण की पीड़ा से पीड़ित अंग से चलायमान चित्त वाले मानव रूपी हरिण किसी भी (धार्मिक) कार्य में रति नहीं करते, स्थिर नहीं होते; अपितु विषय रूपी वन में प्रवेश करते हैं॥५३॥

परनिमित्त-परपदार्थ के उपभोग से उत्पन्न सुख रूप मांस की अभिलाषा से स्वकीय व्यापार में प्रवर्त्तमान होने से इन्द्रियों को व्याध (शिकारी) कहा है। कामवासना को बाण की उपमा दी है।

उन इन्द्रिय रूपी शिकारी के द्वारा शल्य (लक्ष्य) गोचर किये गए और काम रूपी बाण से अंग के पीड़ित होने से जिनका चित्त चंचल हो रहा है, ऐसे ये संसारी प्राणी रूपी हरिण आर्त्त, रौद्र ध्यान के परिहार करने में निमित्तभूत स्वगत[१] तत्त्व, परगत[२] तत्त्व, शास्त्रश्रवण (शास्त्रों का श्रवण-पठन-मनन), देव-पूजा आदि किसी भी शुभ अवलंबन में प्रीति नहीं करते हैं, शुभोपयोग वा शुद्धोपयोग में स्थिर रहने के लिए समर्थ नहीं होते हैं; कैसे भी शुभ परिणामों में रंजायमान नहीं होते हैं। यह संसारी प्राणी रूपी हरिण अनादिकालीन कर्मबंध से अनन्त वीर्यावरण के कारण स्वकीय अनन्त शक्ति को भूलकर विषयवासना के वन में गमन करता है अर्थात् विषय-वासनाओं में पड़ता है।

---

१. स्वकीय शुद्धात्मा। २. पंचपरमेष्ठी परगत तत्त्व।

मृगाः **कत्थवि** कुत्रापि **रई** रतिं **ण कुणंति** न कुर्वन्ति। कस्मिन्नपि स्थाने स्वगततत्त्वे पर-गततत्त्वे वा शास्त्रश्रवणे देवपूजायां आर्तरौद्रपरिहारनिमित्तमन्यस्मिन्नपि शुभावलंबने वा न रज्यंते न स्थितिं कुर्वन्ति स्थातुमपि न वांछंतीत्यर्थः। कस्मात्। अनादिकर्मबंधवशादनंतवीर्यावरणेनात्मनोऽधैर्यप्रादुर्भावात्। तदा ते किं कुर्वन्तीति प्रश्ने। **विसयवणं जंति** विषयवनं यांति विषया एव वनं विषयवनं यांति गच्छंति। यथा व्याधेन बाणेन बाधिताः चलचित्ता भूत्वा कुत्रापि रतिमकुर्वाणा मृगा वनमाश्रयंति तथेंद्रियैरमनस्कतां नीता स्मर-पीडनेन चलचेतसो जाता जनाः कुत्रापि रतिं न कुर्वन्ति। तर्हि किं कुर्वन्ति। सकृच्चंदनवनितादीन् विषयानेव सेवंते येषु सेवितेषु तदलाभे सति इहैव दारुणं दुःखं भवति, परभवे नरकतिर्यग्योन्यादेर्भूरि दुःखान्यनुभवंति। एवं ज्ञात्वेंद्रियविजयं विधाय परमात्मध्यानविधानं विधीयतामिति तात्पर्यम्॥५३॥

ननु समस्तसंन्यस्तत्त्वेन प्रतिज्ञानिष्ठानां यदि विषयाभिलाषः स्यान्न तु सेवने प्रवृत्तिस्तदा किंचिद्रूपं प्रादुर्भवतीति वदंतं प्रत्याह-

सव्वं चायं काऊ विसए अहिलससि गहियसण्णासे।
जइ तो सव्वं अहलं दंसण णाणं तवं कुणसि॥५४॥

सर्वं त्यागं कृत्वा विषयानभिलषसि गृहीतसंन्यासेः।
यदि तदा सर्वमफलं दर्शनं ज्ञानं तपः करोषि॥५४॥

जिस प्रकार शिकारी के बाणों से पीड़ित होकर चंचलचित्त हुआ हरिण किसी देश में वा किसी भी काल में स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है, और कहीं पर स्थिरता को प्राप्त न होकर वन का आश्रय लेता है। मन के चलायमान होने से वन का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा अमनस्कता को प्राप्त होकर, कामबाण से चलायमान चित्त होकर किसी भी धार्मिक कार्य में तथा आत्मध्यान में लीन नहीं हो सकता और इन विषयों की प्राप्ति नहीं होने पर इस लोक (इसभव) में विषयवियोगजन्य दारुण दुःखों को भोगते हैं और पर भव में नरक तिर्यञ्च आदि योनियों में अनेक दुःखों को भोगते हैं।

हे क्षपक ! इस प्रकार इन्द्रियसुख की अभिलाषा के दुःखों को जानकर इन्द्रियविजयी बनो। इन्द्रिय-विषयों को विष के समान आत्मघातक समझकर इनका त्याग करो और परमात्मा का ध्यान कर स्व में स्थिर होने का प्रयत्न करो॥५३॥

हे गुरुदेव ! सकल परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा रूप संन्यास धारण करके यदि विषयों की अभिलाषा रखते हैं और विषयों को सेवन नहीं करते हैं तो उसको चिद्रूप की प्राप्ति नहीं होती है क्या? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं-

"सर्व प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर संन्यास को ग्रहण कर लिया है, फिर भी यदि उसकी विषय-अभिलाषा नष्ट नहीं होती है, तो उसका दर्शन, ज्ञान, तपश्चरण आदि आराधना करना सर्व निष्फल हो जाते हैं॥५४॥

सर्वं त्यागं कृत्वा गृहीतसंन्यासे सति यदि विषयानभिलषसि तदा दर्शनं ज्ञानं तपः सर्वमफलं करोषि। तथाहि-भो क्षपक ! पूर्वं तावत्त्वं संसारस्वरूपमनित्यं नित्यं मोक्षस्वरूपं निश्चित्य चेतसि सार्वभौमसाम्राज्यराज्यलक्ष्मीं तृणवदवगण्यस्व **सव्वं चायं काऊ** सर्वपरिग्रहत्यागमेव कृत्वा। क्व सति। **गहियसण्णासे** गृहीतश्चासौ संन्यासश्च तस्मिन् सति **जइ** यदि त्वं पुनरपि **विसए अहिलससि** विषयानभिलषसि तो तदा **दंसण णाणं तवं** दर्शनं ज्ञानं तपश्च **सव्वं** सर्वं **अहलं** अफलं फलरहितं **कुणसि** करोषि दर्शनज्ञानतपसां यत्संवरनिर्जरामोक्षस्वरूपं फलं विषयाभिलाषे सति तपः कुर्वत्स्वपि तन्न भवतीत्यर्थः। तथा चोक्तम्-

पठतु सकलशास्त्रं सेवतां सूरिसंघान्
दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यतु स्फीतयोगम्।
चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं
यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित्।।

एवं ज्ञात्वा विवेकिना धर्मे विधीयमाने कर्मिभिरपि क्वापि अभिलाषो न विधेयः समीहितनिधिकत्वात्। तथा चोक्तं-

स्पृहा मोक्षेपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मिन् तत्कथं शांताः स्पृहयंति मनीषिणः।।

किंतु शुद्धपरमात्मन्येव भावनाभिलाषो योग्यो भवतीति तात्पर्यम्।।५४।।

हे क्षपक ! सार्वभौम साम्राज्य और पुत्र-पौत्रादिक सर्व सांसारिक वैभव का त्याग करके तूने संन्यास ग्रहण किया है। संसार असार है, अनित्य है, मोक्ष अवस्था नित्य है, सारभूत है; ऐसा चित्त में विचार करके तूने वैभव का त्याग किया और संन्यास ग्रहण किया है। यदि तू इस समय किंचित् मात्र भी मन में विषयों की अभिलाषा करेगा तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण रूप तेरी आराधना सर्व निष्फल हो जायेगी, संवर, निर्जरा और मोक्ष फल को देने में समर्थ नहीं होगी। तपश्चरण करने पर भी यदि विषयाभिलाषा का मन से वमन नहीं करता है तो तुझे स्वात्माधीन मोक्षफल की प्राप्ति नहीं होगी। कहा भी है-

सकल शास्त्रों को पढ़ो, आचार्यसंघ की सेवा करो, तपश्चरण में दृढ़ रहो, आतापन आदि महान् योग का अभ्यास करो, विनयवृत्ति का आचरण करो अर्थात् देवशास्त्रगुरु का विनय करो और सर्व तत्त्वों का ज्ञान करो, उनको जानो। यदि हृदय में विषयाभिलाषा स्थित है तो ये दर्शन आदि सर्व निष्फल हैं, इनका कुछ भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा जानकर विवेकी मानव को धार्मिक क्रिया को स्वीकार करके सांसारिक वस्तुओं की किंचित् भी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। मन को निर्विकल्प कर स्थिर करना चाहिए। कहा भी है-

आचार्यों ने मोह से उत्पन्न मोक्ष की भी अभिलाषा का निषेध किया है अर्थात् जब तक हृदय में मोक्ष की भी अभिलाषा (इच्छा) रहती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये शांत (शुद्धात्मा के अनुभव के अभिलाषी/मनीषी बुद्धिमान्) लोग अन्य (पंचेन्द्रियों के) पदार्थों की अभिलाषा कैसे कर सकते हैं अर्थात् नहीं करते।

विषयों की अभिलाषा करना योग्य नहीं है अपितु शुद्धात्म भावना की अभिलाषा करना योग्य है, ऐसा समझना चाहिए।।५४।।

ननु निखिलदोषान् परिहर्तुकामो मुनिः कस्मादशक्य इति वदंतं प्रति वदति वदतांवरः सूरिवरः।

इंदियविसयवियारा जाम ण तुट्टंति मणगया खवओ।
ताव ण सक्कइ काउं परिहारो णिहिलदोसाणं ॥५५॥

इंद्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यंति मनोगताः क्षपकः।
तावन्न शक्नोति कर्तुं परिहारं निखिलदोषाणाम् ॥५५॥

मनोगता इंद्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यंति तावत् क्षपको निखिल-दोषाणां परिहारं कर्तुं न शक्नोति। तथाहि-**मणगया** मनोगताः मनः प्राप्ता इंद्रियाणां रूपादिविषयाणां च परस्परं दूरादेव संबंधे सत्यपि तेषु मनसि संकल्पः संप्रतिपद्यते तदनु मुहुर्मुहुः प्रसरणं यस्मात्तस्मात् मनोगता व्याख्यायंत इत्यर्थः। **इंदियविसयवियारा** इंद्रियविषयविकाराः इंद्रियाणां विषयास्त एव विकाराः। विकार इति कोर्थः। स्वस्वभावात्प्रच्याव्यान्यथाभावे प्रेरणाशीलाः यावत्कालं **ण तुट्टंति** न त्रुट्यंति मनःसंगतिं परित्यज्य न गच्छंति **ताव** तावत्कालं **खवओ** क्षपकः कर्मक्षपणशीलपुरुषः **णिहिलदोसाणं** निखिलदोषाणां निखिलाः समस्ता रागद्वेषमोहादयो दोषास्तेषां **परिहारो** परिहारं मोचनं **काउं** कर्तुं **ण सक्कइ** न शक्नोति कारणं विना कार्यं न दृष्टमिति वचनात्। इन्द्रियविषयविकारपरिहारकारणाभावे निखिलदोषाभावः कार्यं न संभवति। तस्मात्तपस्विना समंतत इंद्रियविषयविकारान्निराकृत्य रागादिदोषाभावेन शुद्धपरमात्मा भावितव्य इत्यभिप्रायः ॥५५॥

निखिल दोषों का परिहार करने की इच्छा करने वाले मुनिराज किस कारण से दोषों के निराकरण में अशक्य हैं ऐसा पूछने वाले के प्रति विद्वानों में श्रेष्ठ आचार्य कहते हैं-

जब तक मनोगत इन्द्रिय-विषयों का व्यापार नहीं छूटता है तब तक क्षपक निखिल दोषों का निराकरण (नाश) नहीं कर सकते ॥५५॥

पंचेन्द्रियों के रूपादि विषयों का दूर से भी सम्बन्ध होने पर मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। पुनः, बार-बार उनका प्रसरण होता है, अर्थात् पुनः पुनः उनका चिन्तन होता है इसलिए इनको मनोगत कहते हैं।

आत्मा को स्व स्वभाव से च्युत करके अन्य विकार भाव को उत्पन्न करने वाले मनोगत पाँचों इन्द्रियों के रूप-रसादि विषय जब तक मन की संगति को छोड़कर नष्ट नहीं होते हैं, मानसिक संकल्प-विकल्प नहीं छूटते हैं तब तक कर्मों का क्षय करने में तत्पर क्षपक समस्त राग-द्वेष-मोहादि दोषों का परिहार करने में समर्थ नहीं होता क्योंकि कारण के सद्भाव में तज्जन्य कार्य का अभाव नहीं होता। मनोगत पंचेन्द्रिय विषय-व्यापार कारण हैं और राग, द्वेष, मोहादि दोष कार्य हैं। इसलिए इन्द्रिय-विषय-व्यापार रूप कारण का परिहार किए बिना, राग-द्वेष-मोहादि कार्य का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए तपस्वियों को मनोगत पंचेन्द्रिय विषय व्यापार को दूर कर राग-द्वेष आदि दोषों का परिहार कर के शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए ॥५५॥

मन्विन्द्रियमल्लैर्निहितानां क्वाश्रयोऽज्ञानिनां भवति तत्प्रतिपादयति-

इंदियमल्लेहिं जिया अमरासुरणरवराण संघाया।
सरणं विसयाण गया तत्थेव मण्णंते सुक्खाइ ॥५६॥

इंद्रियमल्लैर्जिता अमरासुरनरवराणां संघाताः।
शरणं विषयाणां गतास्तत्रापि मन्यंते सौख्यानि ॥५६॥

अमरासुरनरवराणां संघाताः संतो विषयाणां शरणं गतास्तत्रापि **सौख्यानि** मन्यंते। तथाहि- **अमरासुरणरवराण** अमरासुरनरवराणां अमरा देवाः कल्पवासिनः असुराः दैत्या भवनवासिनो वा नरवराः नराणां मध्ये वराः श्रेष्ठाः मनुष्येषु मध्ये शास्त्रेण शौर्येण वीर्येण विज्ञानेन लब्धप्रतिष्ठा ये ते नरवराः कथ्यंते, अमराश्च असुराश्च नरवराश्च ते अमरासुरनरवरास्तेषां **संघाया** संघाताः **समुदायाः**। कथंभूताः संतः। **इंदियमल्लेहिं जिया** इंद्रियमल्लैर्जिताः संतः इंद्रियाण्येव मल्लानि विद्ध्वंसःखावाससंसारगर्भपातकत्वात् इंद्रियमल्लास्तैः इंद्रियमल्लैः। **गया** गताः प्राप्ताः। किं शरणं आश्रयं केषां। **विसयाणं** विषयाणां इन्द्रियार्थानां **तत्थवि** तत्रापि च तत्र तेषु **सक्चंदनवनितावा-तायनादिषु** विषयेषु **मण्णंति** मन्यंते विदंति। कानि। **सुक्खाइ** सौख्यानि न खल्वियं प्रवृत्तिस्तत्त्वविदां चित्तेषु चमच्चरिकरीति नैते विषयाः शरणं गतानां स्वप्नेपि त्रायकाः। यदुक्तं-

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दंतिनः स्पर्शरुद्धा,
नद्धास्ते वारिमध्ये ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृंगा गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरंगाः,
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुधियामिंद्रियार्थेषु रागः॥

इन्द्रियमल्लों के द्वारा दुःखित हुए अज्ञानी किसकी शरण जाते हैं, उनकी क्या गति होती है, इसका प्रतिपादन करते हैं-

इन्द्रियमल्लों के द्वारा जीते गये (विषयों के वशीभूत हुए) देव, असुर और श्रेष्ठ मनुष्यों के समूह विषयों की शरण में जाते हैं और उसी में सुख का अनुभव करते हैं॥५६॥

कल्पवासी देवों को सुर कहते हैं और भवनवासी देवों को असुर वा दैत्य कहते हैं। मनुष्यों के मध्य में शास्त्रज्ञान, शूरता-वीरता और विज्ञान के द्वारा जिन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की है वे नर-वर कहलाते हैं। सुर, असुर और नर-वरों का समूह अमर-असुर-नर-वर-संघात कहलाता है।

दुःख के स्थान संसार के गर्त (गड्ढे) में गिराने वाले इन्द्रियमल्लों के द्वारा पराजित हुए देव, असुर और श्रेष्ठ मानवों के समूह इन्द्रिय-विषयों की शरण में जाते हैं और उन माला, चन्दन, स्त्री तथा उत्तम-उत्तम पक्वान्न रूप इन्द्रियविषयों के उपभोग में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, सुख मानते हैं। परन्तु ये पंचेन्द्रियजन्य विषय वास्तव में सुख के कारण नहीं हैं। ये पदार्थ तत्त्वज्ञों के हृदय को रंजायमान करने वाले नहीं हैं। ये पंचेन्द्रिय-विषय स्वप्न में भी सुखद नहीं हैं, रक्षक नहीं हैं, शरणभूत नहीं हैं अपितु दुःखदायक हैं। सो ही कहा है-

रसना इन्द्रिय की वशीभूत हुई मछली जाल में फँसकर अपने प्राण खो देती है, मृत्यु को प्राप्त होती है। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ मदोन्मत्त हाथी बन्धन में पड़कर अनेक दुःखों को भोगता है। घ्राण इन्द्रिय के विषय का लोलुपी भ्रमर कमल में फँसकर मर जाता है। चक्षुइन्द्रिय के परवश होकर पतंगा अग्नि में गिरकर प्राण खोता

प्रत्युत दु:खदा एव। यत:-

न तदरिरिभराज: केशरी केकिस्तुत्यो,
नरपतिरतिरुष्ट: कालकूटोतिरौद्र:।
अतिकुपितकृतांत: पन्नगेंद्रोपि रुष्ट:,
यदिह विषयशत्रुर्दु:खमुग्रं करोति।

तर्दिंद्रियमल्लैर्जितेनापि क्षपकेण प्रसह्य विषयाणां शरणं विहाय तत्र च सुखान्यवगणय्य परमब्रह्मपदमेव शरणं गंतव्यं तत्रैव परमसौख्यं मत्त्वेष्टव्यमिति भाव:। यत:-

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजंत: स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनस:,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति॥५६॥

है और गीत सुनकर चंचल हुआ (गीत सुनने का लोलुपी) हरिण शिकारी के जाल में फँस जाता है। इस प्रकार पंचेन्द्रिय-विषयों के लोलुपी जन को काल रूपी व्याल के द्वारा डसा हुआ देखकर भी अल्पज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य सुखों में अनुराग करते हैं। यह आश्चर्य की बात है।

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणियों की यह दशा है तो जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में फँसे हुए हैं, उनके तो दु:ख का कथन भी नहीं कर सकते।

जितना उग्र दु:ख इस लोक में विषय रूपी शत्रु देते हैं उतना दु:ख शत्रु, मदोन्मत्त हाथी, सिंह, सर्प, अतिरुष्ट हुआ राजा, अति भयंकर कालकूट (विष), अति कुपित हुआ यमराज (मृत्यु) और रुष्ट हुआ अजगर भी नहीं देते हैं अर्थात् पंचेन्द्रियजन्य विषयों की अभिलाषा हाथी, सिंह, सर्प आदि से भी महा दु:खदायी है।

हे क्षपक ! इन्द्रिय-भटों के द्वारा बाधित (पीड़ित) हुए क्षपक को इन सब दु:खों को सहन कर, इन्द्रिय-सुख को सुख न मानकर, विषयों की शरण छोड़कर, परम ब्रह्म परमात्मा की शरण ही महासुखकारी है, ऐसा मानकर उसी परम ब्रह्म में लीन होना चाहिए क्योंकि ये विषय चिरकाल तक रहकर भी अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं तो इनके वियोग में क्या भेद है? जो मानव इन विषयों को स्वयं नहीं छोड़ते हैं वे इस संसार में ताप को प्राप्त होते हैं, उनके मन को अतुल परिताप देकर स्वतंत्रता से जाने वाले (नष्ट होने वाले) इन विषयों को जो स्वयं छोड़ते हैं, वे अनन्त शम सुख को प्राप्त होते हैं॥५६॥

हृषीकजं सुखं सुखं न भवति ततस्तस्मिन् वैमुख्यं विधातव्यमिति स्तवयति-

इंदियगयं ण सुक्खं परदव्वसमागमे हवे जम्हा।
तम्हा इंदियविरई सुणाणिणो होइ कायव्वा ॥५७॥

इन्द्रियगतं न सौख्यं परद्रव्यसमागमे भवेद्यस्मात्।
तस्मादिंद्रियविरतिः सुज्ञानिनो भवति कर्तव्या ॥५७॥

भो क्षपक **इंदियगयं** ण **सुक्खं** इन्द्रियगतं न **सौख्यं** सौख्यं न भवति। कीदृशं। इन्द्रियगतं हृषीकसंभवं विचार्यमाणं सुखं न भवति किंतु सुखाभावमेव। कुतः सौख्यं न भवति इत्याह। **परद्रव्यसमागमे** सति भवेत् **जायेत** परद्रव्याणि अन्नपानवसनतांबूलस्रक्चंदनवनितादीनि तेषां समागमः **सम्यगागमनं** परद्रव्यसमागमस्तस्मिन् परद्रव्यसमागमे। यतः परद्रव्यसमागमादिंद्रियजं सुखमुपजायते ततश्च दुःखमेव। **यदुक्तम्-**

सुखमाभाति दुःखमक्षजं भजते मंदमतिर्न बुद्धिमान्।
मधुलिप्तमुखाममंदधीरसिधारां खलु को लिलिक्षति ॥

यदींद्रियजं सुखं वास्तवं न भवति तर्हि किं कर्तव्यमित्याह। **तम्हा इंदियविरई** तस्मात्कारणात् इंद्रियविरतिः विरमणं **विरतिः** इंद्रियेभ्यो विरतिः इंद्रियविरतिः। इंद्रियजेषु सुखेषु वैमुख्यमित्यर्थः। **कायव्वा** कर्तव्या इंद्रियसंभवसुखविरतिः कर्तव्या **हवे** भवेत्। सा कस्य कर्तव्या भवतीत्याह। **सुणाणिणो** सुज्ञानिनः शोभनं ज्ञानं परमानंदामृतसंभृतावस्थस्य परमात्मनः परिज्ञानं शोभनं ज्ञानमुच्यते सुज्ञानमस्यास्तीति सुज्ञानी तस्य सुज्ञानिनः ततो विषयजं सुखं विनश्वरं निस्सारं ज्ञात्वा अविनश्वरे स्वात्मोत्थे सुखे रतिर्विधातव्या सुज्ञानिन इति भावार्थः ॥५७॥ **इंद्रियजयाधिकारः।**

इन्द्रियजन्य सुख, सुख नहीं है, दुःखरूप है, इसलिए इन विषयों से विमुख होना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

इन्द्रियसुख वास्तव में सुख नहीं है क्योंकि वह पर-द्रव्य के समागम से होता है। इसलिए ज्ञानी जनों को इन्द्रियसुख से विरक्त होना चाहिए ॥५७॥

अन्न, पानी, वस्त्र, ताम्बूल, माला, चन्दन, स्त्री आदि पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाला इन्द्रियजन्य सुख वास्तव में सुख रूप नहीं है, अपितु सुखाभास है। राग के उदय के कारण वह सुख रूप प्रतीत होता है। इसलिए इन्द्रियसुख दुःख रूप ही है। कहा भी है-

"इन्द्रियजन्य सुख, दुखरूप है; मूर्ख अज्ञानी उनको सेवन करते हैं, ज्ञानीजन नहीं। मधुलिप्त तलवार की धार को कौन ज्ञानी चाटना चाहते हैं? अर्थात् ज्ञानी जन उसको चाटना नहीं चाहते।"

इन्द्रियसुख आकुलता का कारण है, इसलिए इन विषय-वासनाओं से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है। परमानन्द रूप अमृत से उत्पन्न अवस्था वाले परमात्मा का ज्ञान ही सुज्ञान है। उस शुद्धात्मा के ज्ञान के रसिक ज्ञानीजनों को विषयजन्य सुखों को विनाशीक और निस्सार समझकर उनसे विरक्त होना चाहिए और अविनाशी, सारभूत, अनन्त सुख के कारणभूत स्वात्मोत्थ सुख में रति, अनुराग, प्रीति करनी चाहिए।

हे क्षपक ! अनादिकाल से इन्द्रियजन्य सुखों का अनुभव करके तू अनन्त दुःखों का पात्र बना है। इसलिए तृष्णा को उत्पन्न करने वाले, हेयोपादेय ज्ञान से हृदय को शून्य करने वाले और दुर्गति में ले जाने वाले, इन्द्रियजन्य विषयों की अभिलाषाओं का तू त्याग कर और स्वकीय शुद्धात्मा में रमण करने का प्रयत्न कर ॥५७॥

॥ इन्द्रियविजय-अधिकार पूर्ण हुआ ॥

ननु मनोनृपप्रेरितायामवश्यायामिन्द्रियसेनायां प्रसरंत्यां क्षपकेण किं कर्तव्यमित्यावेदयति-

इंदियसेणा पसरइ मणणरवइपेरिया ण संदेहो।
तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥५८॥

इंद्रियसेना प्रसरति मनोनरपतिप्रेरिता न संदेहः।
तस्मान्मनः संयमनं क्षपकेण च भवति कर्तव्यम् ॥५८॥

इंदियसेणा इंद्रियाणि हृषीकाणि तान्येव सेना चमू इंद्रियसेना **मण-णरवइपेरिया** मनोनरपतिप्रेरिता मनश्चित्तं तदेव नरपतिः राजा तेन प्रेरिता आदिष्टा सती **पसरइ** प्रसरं करोति **ण संदेहो संदेहः** संशयो न, यस्मादित्यध्याहारः। यत्तदोर्नित्यसंबंध इत्यभिधानात् **तम्हा** तस्मात् कारणात् **मण-संजमणं** मनः संयमनं मनश्चित्तं तस्य संकोचनं स्पर्शादिविषयेभ्यो व्यावृत्य सहजशुद्धचिदानंदैकस्वभावसकलविकल्पविकलात्मपरमात्मत्वैकाग्रचिंतायां स्थापनमित्यर्थः। **खवएण** क्षपकेन कर्मक्षपणशीलेन पुरुषेण **कायव्वं** कर्तव्यं करणीयं च भवति। तथाहि। यथा सैन्यस्य राजा नायको भवति तथा इंद्रियाणां मनो नायकः नायकेनैवादिष्टं सैन्यं प्रसरति न हि नायकमंतरेण क्वचित्कथंचित्तत्सामर्थ्यं

अब 'मन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए' यह कथन करते हैं।

मन रूपी राजा के द्वारा प्रेरित इन्द्रियसेना स्व-स्व विषयों में प्रवृत्ति कर रही है, फैल रही है; उसको रोकने के लिए क्षपक को क्या करना चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित इन्द्रिय रूपी सेना अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करती है। इसमें संशय नहीं है। इसलिए क्षपक को मन का संयम करना चाहिए ॥५८॥

इस गाथा में रूपक अलंकार है। इसमें मन को राजा की उपमा दी है और इन्द्रियों को उसकी सेना बताया है। जिस प्रकार राजा के आदेश से सेना कार्य करती है, उसी प्रकार मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित हुई यह पाँचों इन्द्रिय रूपी सेना स्व-स्व विषय में प्रवृत्ति करती है, आत्मा के भावों का मथन करती है, विकारी करती है। इसमें संशय नहीं है। इसलिए क्षपक को मन को संयमित करना चाहिए। स्पर्शनादि विषयों में जाते हुए मन को उन विषयों से हटाकर सहज शुद्ध, चिदानन्द स्वभाव, सकल विकल्प-जालों से रहित परमात्म तत्त्व-चिन्तन रूप 'एकाग्र चिंता' में मन को स्थिर करना चाहिए। अर्थात् विषय वासना से मन को हटाकर (आर्त्त, रौद्र ध्यान से रहित होकर) शुद्धात्मतत्त्व वा पंचमपरमेष्ठी के गुण-चिन्तन में लगाना चाहिए।

कर्मों का क्षपण करने में तत्पर मानव को क्षपक कहते हैं।

हे क्षपक ! सेना का नायक जैसे राजा होता है वैसे ही इन्द्रिय रूपी सेना का नायक मन है। जैसे अपने नायक राजा के द्वारा प्रेरित होकर सेना युद्ध में गमन करती है, नायक के बिना कुछ भी करने में समर्थ

विजृंभते। अत्र तत्त्व-विचारचतुरचेतसां चेतोनिकेतने कथं नाम संशयबिलेशयो विलसति न क्वापि। अतः इंद्रियाणि निगृहीतुमना मनसि प्रथमं मनःसंयमनं तनोतु इति तात्पर्यार्थः ॥५८॥

इंद्रियाणि मनःप्रेरितानि प्रसरंतीति व्याख्यायेदानीं मनोनरेंद्रस्य सामर्थ्यं यथा तथा दर्शयति-

मणणरवइ सुहुभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं।
णिमिसेणेक्केण जयं तस्सत्थि ण पडिभडो कोइ ॥५९॥

मनोनरपतिः संभुंक्ते अमरासुरखगनरेंद्रसंयुक्तं।
निमिषेणैकेन जगत्तस्यास्ति न प्रतिभटः कोपि ॥५९॥

मणणरवइ मनोनरपतिः मनो मानसं तदेव नरपतिः राजा कर्ता **अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं** अमरासुरखगनरेंद्रसंयुक्तं अमराः कल्पवासिनः असुरा दैत्याः खगा विद्याधरा नरेंद्राश्चक्रवर्त्यादयः। अत्र सर्वत्र द्वंद्वसमासः अमरासुरखगनरेंद्रैः संयुक्तं **जयं** जगत् त्रैलोक्यं **णिमिसेणेक्केण** निमिषेनैकेन संभुक्ते एकक्षणमात्रेण स्वभोगयोग्यं करोतीत्यर्थः। **तस्स** तस्य मनसः **कोइ** कोपि तेषामसुरनरेंद्राणां मध्ये एकतमोपि **पडिभडो** प्रतिभटः प्रतिमल्लो न विद्यते इत्यर्थः। तथा चोक्तं **ज्ञानार्णवे शुभचंद्राचार्यैः-**

नहीं है; उसी प्रकार इन्द्रियों के नायक मन के द्वारा प्रेरित हुई इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करती हैं, मन रूपी नायक के बिना इन्द्रियाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए हे क्षपक ! तू अपने मन को तत्त्वचिंतन में स्थिर कर, क्योंकि तत्त्वविचार में चतुर चित्त वाले के चित्त रूपी घर में संशय रूपी सर्पका निवास नहीं रह सकता। इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए सर्वप्रथम मन का संयमन करो। तत्त्वज्ञान के चिन्तन से अपने मन को वश में करो। जिसका मन वश में नहीं है, वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। इन्द्रियों को वश में किये बिना आत्मकल्याण नहीं हो सकता ॥५८॥

अब मन की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने विषयों में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियों की व्याख्या कर के मनरूपी राजा का सामर्थ्य दिखाते हैं-

यह मन रूपी राजा एक निमेष मात्र काल में अमर, असुर, विद्याधर और राजाओं से संयुक्त सुखों को भोगता है, अतः उस मन के समान इस जगत् में दूसरा कोई प्रतिभट नहीं है ॥५९॥

संसारी पदार्थों का भोक्ता मन रूपी राजा, कल्पवासी देवों, भवनवासी असुरों, विद्याधर, नरेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि के सर्वभोगों को एक क्षण मात्र में अपने भोग का विषय बना लेता है। मानसिक विचारों के द्वारा पदार्थ के नहीं होते हुए भी उनका उपभोग करता है। उनमें मग्न हो जाता है। इसलिए इस संसार में देव, विद्याधर आदि के मध्य में मन के बराबर कोई दूसरा प्रतिमल्ल नहीं है। सो ही **ज्ञानार्णव** में **शुभचन्द्राचार्य** ने कहा है-

दिक्चक्रं दैत्यधण्यां त्रिदशपतिपुराण्यंबुवाहांतरालं
द्वीपांभोधिप्रकांडं खचरनरसुराहींद्रवासं समग्रम्।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्धे-
नाश्रांतं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिंत्यप्रभावः॥

इति बुद्ध्वा शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो भावनाबलेन मनोराजबलमबलीकृत्य निजात्मनि स्थापनीयमित्युपदेशार्थं गाथा गता॥५९॥

इदानीं मनोनरपतेर्मरणे संभूते उत्तरोत्तरमिंद्रियादीनां मरणमपि जायते ततो मोक्षसुखं यतो जायते तस्मान्मनसो मारणाय प्रयोजयति यथा तथा दर्शयति-

मणणरवइम्मि मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइ।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइ॥६०॥

तेसिं मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं।
इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणइ॥६१॥ जुअलं॥

"दिशाओं के समूह में, दैत्यों के स्थानों में, त्रिदशपति (देव) के पुरों में, बादलों के अन्तरालों में, द्वीप-समूहों के समूहों में, विद्याधर-नर-नागेन्द्र के वास में, पवन के चय (समूह) से वेष्टित तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण सारे तीन लोकरूप नीड़ में यह प्राणियों का मन रूपी दैत्य अपनी चपलता से क्षणार्ध में बिना थकावट के भ्रमण कर सकता है। अतः इस मन का प्रभाव दुर्विचिंत्य है। अर्थात् उसका हम चिन्तन करके कथन नहीं कर सकते हैं।

हे क्षपक ! यह मन दुर्जेय है, ऐसा जानकर शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव परमात्मा की भावना के बल से मनोराजा के बल को निर्बल करके अपनी आत्मा में स्थापना करनी चाहिए॥५९॥ इस प्रकार क्षपक को उपदेश देने वाली यह गाथा पूर्ण हुई।

हे क्षपक ! इस दुर्जय मन को वश में करने में आत्मध्यान ही समर्थ है, अन्य कोई वस्तु नहीं; इसलिए उस शुद्ध परमात्मा का ध्यान करो, आत्मा का अनुभव करो और मन पर विजय प्राप्त करो।

अब मनरूपी राजा के मर जाने पर उत्तरोत्तर इन्द्रियों का मरण हो जाता है, इन्द्रियों और मन के मर जाने पर मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, अतः मन को मारने का, वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

मन रूपी राजा के मर जाने पर शेष इन्द्रिय रूपी सेना भी मर जाती है। उन मन और इन्द्रियों के मर जाने पर निःशेष कर्म मर जाते हैं, अर्थात् कर्मागमन के कारणभूत विभाव भाव भी नष्ट हो जाते हैं। उन कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा शाश्वत सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए हे क्षपक! इन्द्रियों से विमुक्त होकर मन को मारने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ६०-६१॥

मनोनरपतेर्मरणे म्रियंते सैन्यानि इंद्रियमयानि।
तेषां मरणेन पुनर्म्रियंते निःशेषकर्माणि ॥६०॥

तेषां मरणे मोक्षो मोक्षे प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यम्।
इंद्रियविषयविमुक्तं तस्मान्मनोमारणं कुरुत ॥६१॥ युग्मं।

मणणरवइणो मरणे मनोनरपतेर्मरणे मनसो विकल्पाभावे सति 'संकल्पविकल्पस्वरूपं हि मन इति निर्वचनात्' **मरंति सेणाइ इंदियमयाइं** इंद्रियमयानि सैन्यानि म्रियंते स्वकीयस्वकीयविषयेषु तानींद्रियाणि न प्रवर्तंत इत्यर्थः। स्वस्वामिप्रयोगाभावात् तदभावे हि तस्यैवाभावात् **ताणं मरणेण पुणो** तेषामिंद्रियाणां मरणेन निजविषयप्रवृत्तिराहित्येन पुनः पुनरपि **णिस्सेसकम्माइं** निःशेषकर्माणि सकलकर्माणि ज्ञानावरणादीनि **मरंति** म्रियंते क्षयं यांति तदवस्थायां बंधाभावात्।

बंधाभावे हि नवतरकर्मणामास्रवाभावात् पुरातनकर्मनिर्जीर्यमाणत्वात्। आस्रवाभावो हि योगाभावात् योगाभावस्तु तदवयवस्वप्रवृत्तिनिषेधात्। तदवयवाश्च मनोवाक्कायलक्षणाः कायवाङ्मनःकर्मयोगः इति लक्षणाभिधानत्वात्। ततो योगात्मत्वात् मनसो विकल्पाभावपूर्वत्वे सतीन्द्रियाणां काययोगमयानां प्रवृत्तिनिषेधे सति संवरनिर्जरासद्भावात् सर्वाणि कर्माणि क्षयं यांति इति सिद्धं। **तेसिं मरणे मुक्खो** तेषां कर्मणां मरणे विनाशे सति मोक्षः अनंतज्ञानादिगुणव्यक्तिनिष्ठानां सिद्धपरमेष्ठिनामाधारः। बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिहितत्वात्। मोक्षे किमस्तीत्याह। **मुक्खे** मोक्षे सर्वकर्मक्षयलक्षणे **सासयं** शाश्वतमविनश्वरं **इंदियविसयविमुक्कं** इंद्रियविषयविमुक्तं इंद्रियाणां हृषीकाणां विषया गोचरास्तैर्विमुक्तं रहितं **सुक्खं** सौख्यं निराकुलतालक्षणं **पावेइ** प्राप्नोति लभते यत एवं **तम्हा** तस्मात्। एवं ज्ञात्वा भो भव्याः **मणमारणं कुणह** मनोमारणं कुरुत। मनोमारणमिति कोर्थः। विषयेषु गच्छतो मनसो निवारणं कुरुत कुरुध्वमित्यर्थः ॥६०-६१॥

मन रूपी राजा के मर जाने पर अर्थात् मानसिक संकल्प-विकल्परूप विभावभावों के नाश हो जाने पर इन्द्रिय रूपी सेना स्व-स्व विषयों में प्रवृत्ति करना छोड़ देती है। उनकी विषयों की अभिलाषायें मर जाती हैं। जैसे स्वामी के अभिप्राय अनुसार चलने वाली राजा की सेना राजा के मर जाने पर अपने-अपने कार्यों से निवृत्त हो जाती है। इन्द्रियों के मर जाने पर (इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से रहित हो जाने पर) सम्पूर्ण ज्ञानावरण, मोहनीयादि कर्म भी मर जाते हैं अर्थात् उन कर्मों की बंध-व्युच्छित्ति हो जाती है, बंध का अभाव होकर संवर हो जाता है। बंध का अभाव हो जाने पर (आस्रव के रुक जाने पर) नूतन कर्मों का आगमन रुक जाता है, संवर हो जाता है और पुरातन कर्म निर्जरित हो जाते हैं। कर्मों के आगमन में कारणभूत योग का अभाव हो जाने पर, संवर और निर्जरा का सद्भाव होने पर सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्त ज्ञानादि गुणों की व्यक्ति रूप सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। कहा भी है- बंध के कारणों का अभाव और निर्जरा के द्वारा सर्व कर्मों का क्षय हो जाने पर शाश्वत अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है। इन्द्रियविषयों से रहित निराकुलता लक्षण आत्मीय सुख को क्षपक प्राप्त करता है।

इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियविषयों से विमुक्त होकर मन को वश में करने का प्रयत्न करो। विषयों में जाते हुए मन को रोककर स्व शुद्धात्मा के ध्यान में लीन होकर अपने आप में रमण करो। बाह्य विषय-वासना में भटकते हुए मन को तत्त्वचिन्तन के बल से निश्चल निर्विकल्प करके शुद्धात्मा का ध्यान करो ॥६०-६१॥

ये तु पुरुषा मनसो निवारणं न कुर्वन्ति ते कथंभूता भवंतीत्याह-

मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो।
ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता ॥६२॥

मन:करभो धावन् ज्ञानवरत्रया यैर्न खलु बद्धः।
ते पुरुषाः संसारे हिंडन्ते दुःखानि भुंजंतः ॥६२॥

मणकरहो मन:करभः मन एव करभ उष्ट्रः पाठान्तरेण कलभः करिशावको वा **धावंतो** धावन् प्रसरन् सन् **जेहिं** यैः पुरुषैः **णाणवरत्ताइ** ज्ञानवरत्रया बोधरज्जुरूपया **ण बद्धो** न बद्धः न संकोचितः **ते पुरिसा** ते पुरुषाः संसारे आजवंजवे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणे **दुहाइं** दुःखानि व्याकुलत्वोत्पादकलक्षणानि **भुंजंता** भुंजंतः अनुभवंतः **हिंडंति** हिंडंते परिभ्रमंति खलु निश्चयेन। तथाहि-यथा कश्चन करभरक्षायां नियुक्तो गजरक्षणे वा पुरुषः करभं गजं वा राजमंत्रिपुरोहितादीनां नंदनवनं प्रति विध्वंसनाय धावंतं वरत्रांकुशादिना कृत्वा यदि न निवारयति स तदा नंदनवनविध्वंसनापराधं विलोक्य लोकाचारविचारचतुरचातुरीचमत्कारनी-तिशास्त्रानुसारविलोकितन्यायमार्गेण नरपतिना निगृह्यमाणः कारागाराद्यनेकविधदुःखान्यानुभवति स्वाधिकारक्रियाकूटकारित्वात्। यः कश्चन स्वाधिकारक्रियाकूटं कुरुते

जो मानव मन का निरोध नहीं करते हैं, संकल्प-विकल्प नहीं छोड़ते हैं, उनकी दशा कैसी होती है उनका कथन करते हैं-

विषयवासना में दौड़ते हुए मन रूपी ऊँट को जो ज्ञान रूपी रस्सी से नहीं बाँधते हैं वे पुरुष अनेक दुःखों को भोगते हुए संसार में परिभ्रमण करते हैं॥६२॥

आचार्यों ने मन को ऊँट की उपमा दी है वा पाठान्तर में करभ का अर्थ अबोध बच्चा भी है। जो मानव विषयवासना के वन में दौड़ते हुए मन रूपी ऊँट को ज्ञान रूपी रस्सी से नहीं बाँधते हैं; ज्ञान के द्वारा तत्त्व का चिंतन कर विषयों में जाते हुए मन को नहीं रोकते हैं, अपने स्वरूप में स्थिर नहीं करते हैं वे द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप (पाँच परिवर्तन रूप) संसार में निश्चय से उत्पन्न होकर आधि-व्याधि रूप अनेक दुःखों को भोगते हुए परिभ्रमण करते हैं।

जैसे-हाथी, घोड़े, आदि की रक्षा में नियुक्त किया हुआ कोई पुरुष राजा, मंत्री, पुरोहित आदि के नन्दनवन का विध्वंस करने के लिए दौड़ते हुए हाथी-घोड़े आदि पशुओं को अंकुशादि के द्वारा नहीं रोकता है, उन पशुओं से राजादि के बगीचे की रक्षा नहीं करता है तो अपनी अधिकारक्रिया में सावधान न रहने से अपनी क्रिया में कुटिलता करने के कारण वह पुरुष लोकाचार-विचार में चतुर चमत्कारी नीतिशास्त्र के अनुसार न्यायमार्ग के ज्ञाता राजा के द्वारा निगृहीत होकर कारागार में अनेक दुःखों का अनुभव करता है। जो कोई भी पुरुष अपनी अधिकारक्रिया में कुटिलता करता है, उसे अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करना पड़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है। वैसे ही हे क्षपक ! जो अपनी क्रियाओं में कुटिलता करते हैं, स्वकीय

स एवंविधो न संदेहः तथेदं विषयेषु प्रवर्तमानं मनो नियंत्रणीयमिति। उक्तं च-

अनेकांतात्मार्थप्रसवफलभारातिविनिते
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥

वीतरागसर्वज्ञवचनैर्नियुक्तो जनो यस्तु ज्ञानभावनया न निवारयति स वराकश्चतुरशीति-शतसहस्रपरिमाणेषु योनिषु संसारदुःखानि सहते न संदेहः। एवं ज्ञात्वा स्वसंवेदनज्ञानाभ्यासबलेन मनःप्रसरं निरुध्य शुद्धपरमात्मनि स्थापनीयमिति भावार्थः॥६२॥

मनसो निरोधफलं व्याख्याय इदानीममुमेवार्थं बहुशास्त्रप्रसिद्धदृष्टांतेन दृढीकृत्य-पश्चादवश्यं मुनिना मनोनिरोधो विधातव्य इत्युपदिशति-

---

मानसिक परिणति को विशुद्ध नहीं करते हैं, विषय-वासनाओं में भटकते हुए मन को ज्ञान रूपी रस्सी से नहीं बाँधते हैं, अपने वश में नहीं करते हैं, वे संसार-वन में भटकते हैं और जन्म-मरणादि अनेक दुःखों को भोगते हैं, इसलिए सर्व प्रथम अपने मन को वश में करना चाहिए। सो ही **आत्मानुशासन** में कहा है:

"अनेक-धर्मात्मक वस्तु के कथन रूप फूल और फलों से झुके हुए, वचन रूपी पत्तों से व्याप्त, विपुल नय रूपी सैकड़ों शाखाओं से युक्त, सम्यग् मतिज्ञान जिसका मूल है ऐसे अति उत्तुंग शोभनीय श्रुतस्कन्ध रूपी वृक्ष में धीमान् (बुद्धिमान्) अपने मन रूपी बन्दर को रमण कराओ। अर्थात् बन्दर के समान इस चंचल मन को हे आत्मन् ! श्रुतस्कन्ध के अभ्यास द्वारा, वा श्रुतकथित, तत्त्व चिन्तन के द्वारा अपने वश में करो।"

वीतराग सर्वज्ञ वचनों के द्वारा नियुक्त जन-अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के वचनों को जानने वाला भी कोई मानव यदि विषय-वासनाओं में दौड़ते हुए अपने मन को ज्ञान भावना के द्वारा नहीं रोकता है, विषय-वासनाओं से मन को नहीं हटाता है तो वह बेचारा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके अनेक सांसारिक दुःखों को सहन करता है। इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा जानकर हे आत्मन् ! स्वसंवेदन ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वकीय मन के प्रसार को रोक कर अपने मन को परमात्मा के चिन्तन में स्थिर कर। स्व-स्वभाव में लीन कर॥६२॥

मन के निरोध के फल का कथन करके अब आगे की गाथा में इसी कथन को बहुशास्त्र प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा मन को दृढ़ करके पश्चात् मुनिराज को अवश्य ही अपने मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

पिच्छह णरयं पत्तो मणकयदोसेहिं सालिसित्थक्खो।
इय जाणिऊण मुणिणा मणरोहो हवइ कायव्वो ॥६३॥

प्रेक्षध्वं नरकं प्राप्तो मनःकृतदोषैः शालिसिक्थाख्यः।
इति ज्ञात्वा मुनिना मनोरोधो भवति कर्तव्यः ॥६३॥

भो भव्यजनाः **पिच्छह** प्रेक्षध्वं पश्यत विलोकयत बहुशास्त्रेषु प्रसिद्ध-वाक्यं समाकर्णयत इत्यर्थः। किंतत्। **मणकयदोसेहिं** मनःकृतदोषैः चित्तविरचितापराधैः **सालिसित्थक्खो** शालिसिक्थाख्यः मत्स्यविशेषः **णरयं** नरकं श्वभ्रं **पत्तो** प्राप्तो गतः इति। **इय जाणिऊण** इति एवं ज्ञात्वा विज्ञाय मुनिना संयमिना **मणरोहो** मनोरोधः चित्तसंकोचः **कायव्वो** कर्तव्यः करणीयः **हवइ** भवति युज्यते इति तात्पर्यम्। तथाहि। शालिसिक्थनामामत्स्यविशेषः महामत्स्यकर्णमलाशी मत्स्यकर्णे स्थितः। तस्य महानिद्रानुभवतो व्यावृतो मुखे अनेकमत्स्यादीनां जंतुचराणां **समूहाः** प्रविशंति निःसरंति क्रीडंति स्वेच्छया **तिष्ठंति** चेति पश्यन् व्याकुलत्वेन चिंतापरायणो **जातः** किमयं मूढात्मा मुखं न संवृणोति येन **सर्वाणीमान्यस्योदरे** तिष्ठंति, यद्यहमेवंभूतोऽभविष्यंस्तदा सकलानीमान्यकवलयिष्यामिति रौद्रध्यानपराधीनस्तेषामलाभेपि **मनोरचितदुश्चरित्रेणैव** तथाविधं पापं समुपार्ज्य **नरकं** गत इति श्रुतिः। एवं ज्ञात्वा **मुनिसमूहेन मनोरचितदोषासमर्थः** अनावरणत्वादिति संदेहं निर्मूल्य मनसो ज्ञानबलेन निरोध एव **करणीय** इति तात्पर्यार्थः ॥६३॥

हे क्षपक ! देखो, मनकृत दोष के द्वारा शालिसिक्थ नामक मच्छ नरक को प्राप्त हुआ, ऐसा जानकर मुनिराजों को मन का निरोध करना चाहिए ॥६३॥

हे भव्यजन ! देखो, बहुत शास्त्रों में प्रसिद्ध वाक्य को सुनो, मानसिक अपराध के कारण शालिसिक्थ नामक मगरमच्छ नरक में गया था। ऐसा जानकर संयमीजनों को अपने मन का निरोध करना चाहिए।

असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अन्त में स्वयंभूरमण नामक समुद्र के मध्य में एक हजार योजन लम्बा, पाँचसौ योजन चौड़ा और ढाई सौ योजन ऊँचा महामगरमच्छ रहता है। उस मगरमच्छ के कर्ण के मैल को खाकर जीवित रहने वाला, तन्दुल के बराबर छोटा शालिसिक्थ नामक मच्छ रहता है। मुख फाड़कर (खोलकर) महानिद्रा का अनुभव करने वाले उस मगरमच्छ के विकराल मुखमें जल में विचरण करने वाले अनेक विशालकाय मत्स्यादि जीवों का समूह प्रवेश करता है, निकलता है, क्रीड़ा करता है और स्वेच्छा से उसके मुख में कुछ देर के लिए बैठ भी जाता है।

इस प्रकार उन जलचर जीवों को मुख में घुसकर जीवित निकलते देखकर वह शालिसिक्थ मच्छ व्याकुल होकर सोचता है कि यह मूढ़ात्मा (मूर्ख) अपने मुख को बन्द क्यों नहीं करता जिससे अनायास मुख में आगत सारे जन्तु इसके उदर में रह जाते। व्यर्थ ही स्वयमेव मुख में आगत जीवों को छोड़ देता है। यदि कहीं मुझे यह शक्ति प्राप्त हो जाती तो मैं एक भी जल-जन्तु को जीवित नहीं छोड़ता। सर्व जीवों को अपना ग्रास बना लेता। इस प्रकार रौद्र ध्यान में लीन और उन जन्तुओं के भक्षण का लाभ प्राप्त नहीं होने पर भी अर्थात् उनको न खाकर के भी केवल मनोजन्य दुर्भावना से पाप उपार्जन करके नरक (सातवें नरक) में गया। यह शास्त्रीय कथन है, आचार्यों के वाक्य हैं। क्योंकि प्राणियों के परिणाम ही पुण्य-पाप के कारण हैं। हे क्षपक ! इन सर्वज्ञ प्रणीत वाक्यों का श्रद्धान कर के अपने मन को बाह्य पंचेन्द्रिय विषयों में मत जाने दो। तत्त्वचिंतन और शुद्ध परमात्मा के ध्यान द्वारा अपने उपयोग को स्व में स्थिर करने का प्रयत्न करो ॥६३॥

एवं चित्तानिरोधकस्य नरकगतिरेव फलं सदृष्टांतं प्रदर्श्य तन्निरोधं कुरुध्वमित्युपदिश्य वाधुना मनोवशीकरणमुपदिश्य तत्फलं च निदर्शयति-

सिक्खह मणवसियरणं सवसीहूएण जेण मणुआणं।
णासंति रायदोसे तेसिं णासे समो परमो ॥६४॥
उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ णिग्गहं काउं।
णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥६५॥ जुअलं॥

शिक्षध्वं मनोवशीकरणं स्ववशीभूतेन येन मनुजानाम्।
नश्येते रागद्वेषौ तयोर्नाशे समः परमः ॥६४॥

उपशमवान् जीवो मनसः शक्नोति निग्रहं कर्तुम्।
निगृहीते मनःप्रसरे ह्यात्मा परमात्मा भवति ॥६५॥ युगलम्।

मणवसियरणं मनोवशीकरणं मनो अवशं वशं करणं मनसश्चित्तस्य वशीकरणं आत्मायत्तीकरणं मनोवशीकरणं भो जनाः **सिक्खह** शिक्षध्वं अभ्यस्यत: **जेण** येन मनसा **सवसीहूएण स्ववशीभूतेन स्वाधीनतां गतेन मणुआणं** मनुजानां मनुष्याणां **रागदोसे** रागद्वेषौ इष्टानिष्टयोः प्रीत्यप्रीतिरूपौ **णासंति** नश्यतः दूरीभवतः **तेसिं** तयो रागद्वेषयोः **णासे** नाशे विनाशे **परमो** परम उत्कृष्टः **समः** उपशमः वीतरागत्वाधारः भवतीति क्रियाध्याहारः **उवसमवंतो** उपशमवान् रागद्वेषोपशमलक्षणवान् **जीवो** जीवः आत्मा **मणस्स** मनसश्चित्तस्य **णिग्गहं** निग्रहं विनाशं **काउं** कर्तुं **सक्केइ** शक्नोति समर्थो भवति मनःप्रसरे चित्तविस्तारे **णिग्गहिए** निग्रहीते साकांक्षचित्ते क्षयावस्थां नीते सति **अप्पा** आत्मा जीवः घाति-कर्मचतुष्टयसद्भावात् **परमप्पउ** परमात्मा घातिकर्मचतुष्टयाभावप्रादुर्भावकेवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिविराजमानो **हवइ** भवतीति गाथार्थः ॥६४॥६५॥

इस प्रकार 'मन की चंचलता नरक गति का कारण है' इसको दृष्टान्त के द्वारा कह करके, 'बाह्य में जाते हुए मन को स्व में स्थिर करो', ऐसा उपदेश देकर अब मन को वश में करने का उपाय बताकर मन-निरोध के फल का कथन करते हैं-

हे क्षपक ! मन को वश में करने का अभ्यास करो। क्योंकि मन के स्ववश हो जाने पर मानवों के हृदयस्थ रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। रागद्वेष के नष्ट हो जाने पर परम समता भाव की प्राप्ति होती है। उपशम (समता) भाव को प्राप्त हुआ जीव मन का निग्रह करने में समर्थ होता है और मन के प्रसार का निग्रह हो जाने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥ ६४-६५॥

आचार्यदेव कहते हैं कि हे क्षपक ! सर्वप्रथम तुम स्वकीय अवश (बाह्य विषय-वासनाओं में दौड़ने वाले) मन को अपने वश में करो, स्वाधीन करने का अभ्यास करो। क्योंकि मन के वश में हो जाने पर इष्टानिष्ट पदार्थों में प्रीति और अप्रीति रूप रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। रागद्वेष के नष्ट हो जाने से मानव को परम उपशम भाव प्राप्त होता है, रागद्वेष के नाश होने पर वीतरागत्व के आधारभूत परिणाम उत्पन्न होते हैं। उपशमवान आत्मा पूर्ण

ननु केन प्रकारेणास्य मनःप्रसरस्य निवारणं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह-

जहं जहं विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज।
तहं तहं मणस्स पसरो मज्जइ आलंबणारहिओ ॥६६॥

यथा यथा विषयेषु रतिः प्रशमति पुरुषस्य ज्ञानमाश्रित्य।
तथा तथा मनसः प्रसरो भज्यते आलंबनारहितः ॥६६॥

जह जह यथा यथा **विसएसु** विषयेषु इंद्रियार्थेषु **पुरिसस्स** पुरुषस्य जीवस्य **रई** रतिःरागः **पसमइ** प्रशमति उपशमति उपशमतां गच्छति। किंकृत्वा। **णाणमासिज्ज** ज्ञानमाश्रित्य पूर्वं तावदस्य जीवस्य रतिरनादि-कालसंबंधवशात् परविषयाधारा इदानीं तु कालादिलब्धिं समवाप्य। स्वसंवेदनज्ञानेनाकृष्टा सती ज्ञानमाश्रयतीति तात्पर्येण पूर्वार्धगाथार्थः। **तह तह** तथा तथा **मणस्स** मनसः चितस्य **पसरो** प्रसरो विस्तारः **आलंबना-रहिओ** आलंबनारहितः सन् रत्याश्रयमुक्तः सन् **भज्जइ** भज्यते विनश्यति **अस्य मनःप्रसरस्य** रतिरेवाश्रयः रतिस्तु विषयाश्रयं परित्यज्य ज्ञानाश्रयणी जाता **यत्रैव** रतिस्तत्रैव मनःप्रसर इति श्रुतिः। अतः मनःप्रसरोपि ज्ञानाश्रयी भवतीत्याधातं मनोप्यात्मानं ज्ञानलीनं करोतीति तात्पर्यार्थः ॥६६॥

रूप से मन को निग्रह करने में समर्थ होता है। जिनका मन पूर्ण रूप से बाह्य विषयों से विरक्त होकर विलीन हो जाता है, निर्विकल्प हो जाता है, निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हो जाता है तो वह अन्तर्मुहूर्त में चारघातिया कर्मों का नाश कर अर्हन्त अवस्था को प्राप्त होता है। केवलज्ञानादि अनन्त क्षायिक गुणों से युक्त होकर सकल परमात्मा बन जाता है ॥६४-६५॥

किन कारणों से वा किस प्रकार से मन के प्रसार का निरोध किया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

जैसे-जैसे ज्ञान का आश्रय लेकर पुरुष की विषयों में रति (राग) नष्ट हो जाती है, वैसे-वैसे निरालम्ब (अवलम्ब रहित) हो जाने से मन का प्रसार भी नष्ट हो जाता है॥६६॥

मन की चंचलता वा विषयों से विरक्ति होने का वा मन को वश में करने का मुख्य कारण ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान के अवलम्बन से आत्मा की पंचेन्द्रिय विषयों की रति (राग) नष्ट हो जाती है अर्थात् काल-लब्धिवश यह आत्मा परपदार्थों में जाने वाली ज्ञानधारा को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से रोककर स्व में स्थिर करने का प्रयत्न करता है, तब पाँचों इन्द्रियजन्य विषयों से रति नष्ट हो जाती है और विषयों के अवलम्बन से रहित होने से मन का प्रसार वा चंचलता भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् ज्ञानधारा विषयों के आश्रय को छोड़कर ज्ञान में लीन हो जाती है। अतः मन के प्रसार को ज्ञान में लीन करने का अभ्यास करना चाहिए। अथवा मनके प्रसार का आश्रय रति है, रति का आश्रय विषय है, इसलिए इन्द्रियजन्य विषय का परित्याग कर देने पर मन ज्ञान में लीन हो जाता है। अतः मन को ज्ञान में लीन करने के लिए विषयों का परित्याग करो ॥६६॥

अमुमेवार्थं पुनरपि दृढीकरोति-

विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो।
कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥६७॥

विषयालंबनरहितं ज्ञानस्वभावेन भावितं सत्।
क्रीडति आत्मस्वभावे तत्काले मोक्षसौख्ये तत् ॥६७॥

अत्र प्राकृतलक्षणे पुन्नपुंसकलिंगयो: कुत्रचिद्रूपभेदो नास्ति तथा च द्विवचनबहुवचनभेदो नास्तीत्यादि सर्वत्र यथासंभवं विचारणीयं। **विसयालंबणरहिओ** विषयालंबनरहितं अनादिकालसंसेव्यमानविषयाधारवर्जितं तत् मन: **णाणसहावेण** ज्ञानस्वभावेन ज्ञानवासनया **भाविओ संतो** भावितं वासितं सत् तक्काले तत्काले तदानीं **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे शुद्धपरमात्मस्वरूपे **सुक्खे** मोक्षसुखे भावमोक्षलक्षणसमुद्भूतसुखे **कीलइ** क्रीडति क्रीडमानस्तिष्ठतीति गाथार्थ: ॥६७॥

मन:प्रसरणनिवारणफलं दर्शयित्वा संप्रति तद्रूपवृक्षखंडनाय शिष्योपदेशं ददति-

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।
अहलो करेह पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण ॥६८॥

निर्लूयत मनोवृक्षं खंडयत शाखे रागद्वेषौ यौ।
अफलं कुरुध्वं पश्चात् मा सिंचत मोहसलिलेन ॥६८॥

इसी अर्थ को फिर भी दृढ करते हैं-

ज्ञान स्वभाव से भावित मन विषयों के अवलम्बन से रहित होकर आत्मस्वभाव में क्रीड़ा करता है और तत्काल (शीघ्र ही) वह आत्मा मोक्षसुख को प्राप्त हो जाता है॥६७॥

प्राकृत व्याकरण में पुलिंग और नपुंसक लिंग में कहीं रूपभेद नहीं भी होता है। उसी प्रकार प्राकृत व्याकरण में दो वचन और बहुवचन का भेद भी नहीं है। ऐसा सर्वत्र यथासंभव विचारणीय है।

अनादि काल से सेवित, विषय आधारसे रहित (विषयावलम्बन से रहित) हुआ मन ज्ञान स्वभाव से भावित होकर शीघ्र ही शुद्ध परमात्म स्वभाव रूप भावमोक्ष लक्षण से समुत्पन्न मोक्षसुख में क्रीड़ा करता है, रमण करता है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है॥६७॥

मन के प्रसार के निवारण के फल को दिखाकर इस समय मन रूपी वृक्ष का खण्डन करने के लिए आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं-

हे क्षपक ! मन रूपी वृक्ष को निर्मूल करो और रागद्वेष रूप शाखा का खण्डन करो और उस को फल रहित करो तथा मोह रूप जल से सिंचन मत करो॥६८॥

मणवच्छो मनोवृक्षं मनोरूपतरुं निर्मूलयत छिन्नविस्तारं **कुरुत** रागद्वेषद्वितया शाखे शाखाशब्दे द्विवचनं **अहलं** अफलं **करेह** कुरुध्वं। यथा स मनोवृक्षो न फलति। पुनरपि रागद्वेषवशात् संकल्पविकल्पेषु न प्रवर्तते तथा कुरुत। **पच्छा** पश्चात् पुनः मोहसलिलेन ममेदमस्याहमिति विभ्रमो मोहः **मोहरूपजलेन मा सिंचह** मा सिंचतु मनोवृक्षमूले मा मोहरूपं जलं ददत इत्यर्थः॥६८॥

एवं मनोवृक्षमुत्पाटनाय शिष्यमुपदेश्याधुना मनोव्यापारे विनष्टे इंद्रियाणि विषयेषु न यांतीति दर्शयन्नाह-

णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति॥६९॥

नष्टे मनोव्यापारे विषयेषु न यांति इंद्रियाणि सर्वाणि।
छिन्ने तरोर्मूले कुतः पुनः पल्लवा भवंति॥६९॥

मणवावारे मनोव्यापारे चित्तस्य संकल्पविकल्पस्वरूपे व्यापारे **नष्टे** विनष्टे सति **सव्वे** सर्वाणि समस्तानि **इंदिया** इंद्रियाणि हृषीकानि **विसएसु** विषयेषु गोचरेषु **ण जंति** न यांति न गच्छंति। अत्रैवार्थे अर्थान्तरन्यासमाह। **तरुस्स मूले** तरोर्मूले वृक्षस्य जटाकंदादिविशेषे **छिण्णे** छिन्ने निःसंतानीकृते **कत्तो पुणु**

आचार्यदेव ने मन को वृक्ष की, रागद्वेष को शाखा की और संकल्प-विकल्प को फल की उपमा दी है। अतः आचार्यदेव कहते हैं हे क्षपक ! मन रूपी वृक्ष के विस्तार का निर्मूलन करो, राग-द्वेष रूपी शाखा को उखाड़ दो जिससे यह मन रूपी वृक्ष संकल्प-विकल्प रूप फल से रहित हो जावे अर्थात् इस मन में संकल्प-विकल्प न उठे, यह मन निर्विकल्प बन जावे। पुनः इसे 'यह मेरा है' इस प्रकार का विभ्रम मोह है। उसे मोहरूपी जल से मत सींचो - क्योंकि जैसे जल के सींचने पर सूखा हुआ वृक्ष भी पुनः अंकुरित और शाखा और फल वाला बन जाता है; उसी प्रकार हे क्षपक ! यदि तू इसको मोह रूपी जल से सींचता रहेगा तो ग्यारहवें गुणस्थान में निर्विकल्प हुआ मन रूपी वृक्ष पुनः रागद्वेष रूपी शाखा से लुब्ध हो संकल्प-विकल्प रूप फल से फलित हो जायेगा॥६८॥

इस प्रकार शिष्य को मन रूपी वृक्ष के उखाड़ने का उपदेश देकर अब "मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्ति नहीं करती हैं," ऐसा दिखाते हुए आचार्य कहते हैं-

मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर सारी इन्द्रियाँ स्वकीय-स्वकीय विषयों में नहीं जाती हैं। (अपने विषयों से विरक्त हो जाती हैं) क्योंकि वृक्षमूल के कट जाने पर पत्ते कैसे रह सकते हैं॥६९॥

संकल्प-विकल्प रूप चित्त का व्यापार मनोव्यापार कहलाता है। उस मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं करती हैं, स्वकीय विषयों में नहीं जाती हैं। इसी अर्थ को अर्थान्तरन्यास वा दृष्टान्त के द्वारा कहते हैं। वृक्ष की मूल के नष्ट हो जाने पर (वृक्ष की जड़ को काट

कुतः पुनः **पल्लवा हुंति** पल्लवा भवंति कुतः पुनरपि पल्लवाः प्ररोहंति। यथा मूलाभावे अंकुरपल्लवादीनामभावः तथा मनोव्यापाराभावे इंद्रियाणां विषयगमनाभाव इत्यर्थः ॥६९॥

मनोव्यापारविनाशफलमुपदर्श्य तन्मात्रव्यापारे विनष्टे उत्पन्ने च विशेषमुपदर्शयन्नाह-

मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य बे गुणा हुंति।
णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबंधो य ॥७०॥

मनोमात्रे व्यापारे नष्टे उत्पन्ने च द्वौ गुणौ भवतः।
नष्टे आस्रवरोधः उत्पन्ने कर्मबंधश्च ॥७०॥

मणमित्ते मनोमात्रे चित्तमात्रे संकल्पविकल्पलक्षणमात्रे **वावारे** व्यापारे **णट्ठे** नष्टे विनष्टे **उप्पण्णे य** उत्पन्ने च जातमात्रे च **बे गुणा** द्वौ गुणौ संवरकर्मबंधलक्षणौ **हुंति** भवतः। कस्मिन् सति को गुणो भवतीत्याह।

देने पर) उसमें पत्तों की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे वृक्ष की जड़ कट जाने पर उसमें अंकुर-पत्ते-फूल-फलादि नहीं होते हैं, उसी प्रकार मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर अर्थात् मन के संकल्प विकल्प नष्ट होकर निर्विकल्प हो जाने पर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति का भी अभाव हो जाता है ॥६९॥

मनोव्यापार के नष्ट होने पर जो फल होता है उसको दिखाकर मन के संकल्प-विकल्प रूप व्यापार के होने पर क्या होता है, उसका विशेष रूप से कथन करते हुए आचार्य कहते हैं-

मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर और मनोव्यापार के उत्पन्न होने पर भिन्न-भिन्न दो गुण (गुण दोष) होते हैं। मननिमित्त व्यापार के नष्ट होने पर आस्रव का निरोध होता है और मनोव्यापार के उत्पन्न होने पर कर्मबन्ध होता है ॥७०॥

मानसिक संकल्प-विकल्प ही मनोव्यापार हैं। मानसिक संकल्प-विकल्प के नष्ट हो जाने पर कर्मों का आगमन रुक जाता है अर्थात् आस्रवनिरोध लक्षण संवर होता है और जब मनोव्यापार (संकल्प-विकल्प) उत्पन्न होता है तब कर्मबन्ध होता है।

कर्मबंध चार प्रकार का है- प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध।

स्वभाव, प्रकृति, शील एकार्थवाची हैं अतः कर्मों का स्वभाव है वह प्रकृति बंध है- जैसे **ज्ञानावरणीय** कर्म का स्वभाव है- ज्ञान गुण का आच्छादन करना। **दर्शनावरणीय** का स्वभाव है आत्मा के दर्शन गुण का आच्छादन करना। सुख दुःख देना या सुख वा दुःख का वेदन कराना **वेदनीय कर्म** का स्वभाव है। जो आत्मा को मोहित करता है अर्थात् **मोहनीय कर्म** का स्वभाव है आत्मा को मोहित, कलुषित वा कषाययुक्त करना। **आयु कर्म** का स्वभाव है जीव को शरीर में रोक कर के रखना।

नाम कर्म का स्वभाव है- शरीर के निमित्त से आत्मा के अनेक आकार बनाना।

गोत्र कर्म का स्वभाव है आत्मा को उच्च-नीच कुल में उत्पन्न करना।

अन्तराय का स्वभाव है- दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालना।

णट्ठे नष्टे सति **आसवरोहो** आस्रवनिरोधः कर्मास्रवरोधो भवति **उप्पण्णे** उत्पन्ने सति उत्पन्नमात्रस्य संकल्पस्यानिषेधे सति **कम्मबंधो य** कर्मबंधश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणात्मको भवति ॥७०॥

यावत्कालं विषयव्यापारपरिणतमंतःकरणं तावत्कालं कर्माणि हंतुं न शक्तोस्तीत्यावेदयति-

परिहरिय रायदोसे सुण्णं काऊण णियमणं सहसा।
अत्थइ जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइ ॥७१॥

परिहृत्य रागद्वेषौ शून्यं कृत्वा निजमनः सहसा।
तिष्ठति यावन्न कालं तावन्न निहंति कर्माणि ॥७१॥

अत्थइ जाव ण कालं यावत्कालं न तिष्ठति यावंतं कालं स्वात्माभिमुखपरिणामत्वेन न वर्तते। कोसौ। क्षपकः। किंकृत्वा न तिष्ठति। **परिहरिय रायदोसे** परिहृत्य रागद्वेषौ इष्टेषु सत्कृचंदनवनितादिषु प्रीतिः रागः अनिष्टेषु अप्रीतिर्द्वेषः रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ परितः सर्वप्रकारेण त्यक्त्वा। न केवलं रागद्वेषौ परिहृत्य। **सुण्णं काऊण णियमणं सहसा** शीघ्रं निजमनः शून्यं च कृत्वा। अत्र मनसः शून्यत्वमेतत् यत् निःशेष-विषयविमुखत्वं यच्च चिच्चमत्कारमात्रनिजशुद्धात्मपरिणतत्वं रागद्वेषौ परिहृत्य शून्यं च मनः कृत्वा यावत् क्षपको न तिष्ठति। तावत् किं न स्यादित्याह। **ताव ण णिहणेइ कम्माइ** तावन्न निहंति कर्माणि तावंतं कालं कर्माणि ज्ञानावरणादीनि न निहन्यात्। इति ज्ञात्वा शुद्धात्मस्वरूपं जिज्ञासुना अलोलं मनः कार्यम्। यदुक्तम्-

---

एक समय में बँधे हुए कर्मों की आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही होकर रहने की मर्यादा **स्थितिबंध** है जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। नाम, गोत्र की बीस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। आयु की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर है। कर्मों में फलदान देने की शक्ति को **अनुभाग बंध** कहते हैं और जो एक समय में सिद्धों के अनन्तवें भाग और भव्य राशि से अनन्त गुणी जो कार्माण वर्गणा आती है, वह **प्रदेश बंध** है। इस प्रकार मानसिक संकल्प विकल्प में चार प्रकार का कर्मबंध होता है ॥७०॥

जब तक विषयव्यापार की परिणति अंतःकरण में स्थित है तब तक कर्मों का नाश करने में आत्मा समर्थ नहीं होता है, इसी सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं-

जब तक यह आत्मा शीघ्र ही रागद्वेष का त्याग करके निज मन को शून्य करके (निर्विकल्प करके) नहीं रहता है, तब तक कर्मों का नाश नहीं कर सकता ॥७१॥

जो क्षपक इष्ट माला, चन्दन, स्त्री आदि में प्रीति रूप राग और अनिष्ट माला आदि में अप्रीतिरूप द्वेष का त्यागकर अपने मन को शीघ्र ही संकल्पों से शून्य करके, स्वात्माभिमुख परिणामों से जब तक स्व में परिणमन नहीं करता है, स्वमन की चंचलता दूर कर अपने में स्थिर नहीं करता है, जब तक पंचेन्द्रियजन्य विषयों से विमुख होकर, रागद्वेष से मन को शून्य करके चिच्चमत्कार मात्र निज शुद्धात्म परिणत हो रागद्वेष को छोड़कर स्व में मन को स्थिर नहीं करता है, तब तक ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश नहीं कर सकता। ऐसा जानकर शुद्धात्म स्वरूप के जिज्ञासु को स्वकीय मन को अडोल अकम्प करना चाहिए. सो ही **पूज्यपाद** स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
न पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्त्वं नेतरो जनः ।।
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रांतिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ।।

ततश्च चेतनाचेतनेषु परद्रव्येषु रागद्वेषौ हित्वा शुभाशुभमनोवचन-कायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहार-परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणज्ञानबलेन शून्यं विषयविमुखं च मनः कृत्वा यो वीतरागचारित्राविनाभूतशुद्धात्माभिमुख-परिणामस्तिष्ठति स सकलकर्माणि जयतीति भावार्थः ।।७१ ।।

यावच्चिदानंदात्मकपरमब्रह्मोपासनवासनाबलेन मनो निश्चलं न विधीयते तावत् कर्मास्रवा वारयितुं न शक्यंते इत्याह-

तणुवयणरोहणेहिं रुज्झंति ण आसवा सकम्माणं।
जाव ण णिप्फंदकओ समणो मुणिणा सणाणेण ।।७२ ।।

तनुवचनरोधनाभ्यां रुध्यंते न आस्रवाः स्वकर्मणाम्।
यावन्न निष्पंदीकृतं स्वमनो मुनिना स्वज्ञानेन ।।७२ ।।

जिसका मनरूपी जल रागद्वेष रूपी कल्लोलों से चंचल नहीं है वही आत्मतत्त्व का अवलोकन कर सकता है परन्तु जिनका मन रागद्वेष से चंचल है वे आत्मतत्त्व का अवलोकन नहीं कर सकते।

मन का विक्षिप्त नहीं होना ही तत्त्व है और मन का विक्षिप्त होना आत्मविभ्रान्ति है। इसलिए अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिए और विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अर्थात् मन की चंचलता के कारणभूत रागद्वेष का त्याग कर उसे निज स्वभाव में स्थिर करना चाहिए।

हे आत्मन् ! जो मानव चेतन एवं अचेतन रूप परद्रव्य सम्बन्धी रागद्वेष को छोड़कर और शुभ एवं अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीन योगों का परिहार कर अभेद रूप से परिणत रत्नत्रय लक्षण ज्ञान के बल से मन को विषयों से विमुख कर, चंचलता से शून्य कर, वीतराग चारित्र के अविनाभावी शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम में स्थिर होता है; वही मानव सकल कर्मों पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् सारे कर्मों का विनाश कर स्वकीय शुद्धावस्था को प्राप्त होता है ।।७१ ।।

हे क्षपक ! जब तक यह प्राणी चिदानंद आत्मिक परम ब्रह्म की उपासना के बल से स्वकीय मन को निश्चल नहीं करता है, तब तक वह कर्मास्रव को रोकने में समर्थ नहीं होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं-

जब तक मुनिराज स्वकीय ज्ञान के बल से अपने मन को निश्चल नहीं करते हैं तब तक काय और वचन के रोकने मात्र से ही स्वकीय कर्मास्रव का निरोध नहीं कर सकते ।।७२ ।।

रुज्झंति ण न निरुध्यंते न निवार्यन्ते ते **आसवा** आस्रवा **सकम्माणं** स्वकर्मणां स्वेन आत्मीयेन जीवेन सहैकीभावं गतानां ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्मणां। काभ्यां न निवार्यंते। **तणुवयणुरोहणेहिं** तनुवचनरोधनाभ्यां तनु:काय: वचनं वच: तयोर्निरोधने ताभ्यां तनुवचनरोधनाभ्यां 'दुव्वयणे बहुवयणमिति' प्राकृते। अथवा स्वकर्मणामित्यस्य पदस्यायमर्थ:। कायेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि कायकर्माणि वचनेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि वचनकर्माणि उच्यंते। मनोनिरोधेन विना कायनिरोधेन कायकृतानां कर्मणामास्रवा न निषिध्यंते, वचननिरोधेन वचनकृतानामपि कर्मणामास्रवा न निषिध्यंते किंतु सर्वकर्मणामास्रवा एकेनैव मनोनिरोधेन निषिध्यंते तस्मादाह **जाव ण णिप्फंदकओ** यावन्न निष्पंदीकृतं निश्चलीकृतं। किं तत्। **समणो स्वमन:** स्वचित्तं द्रव्यभावरूपं। केन। **मुणिणा** मुनिना महात्मना क्षपकेन। केन निश्चलीकृतं। **सणाणेण** स्वज्ञानेन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन ततो निर्मलचैतन्यस्वभावस्वात्माभिमुखपरिणममाहात्म्येन दुर्जयमनोजयं कृत्वा कर्मास्रवा निवारयितव्या इति हेतोर्मनोजय एव श्रेयान्॥७२॥

मन:प्रसरे निवारिते सति यत्फलं भवति तदावेदयति-

खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ॥७३॥

क्षीणे मन:संचारे त्रुटिते तथास्रवे च द्विविकल्पे।
गलति पुरातनं कर्म केवलज्ञानं प्रकाशयति॥७३॥

हे भव्य ! जब तक भव्यात्मा महामुनि क्षपक स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अपने मन को निश्चल नहीं करता है, निर्विकल्प नहीं करता है, तब तक वचन और काय का निरोध करने पर भी जीव के साथ एकीभाव (एकक्षेत्रावगाह) को प्राप्त, जीव के द्वारा उपार्जित ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का निरोध (संवर) नहीं कर सकता है। अथवा स्वकर्म का अर्थ है काय की चेष्टा से उपार्जित किया हुआ कर्म, कायनिरोध से नष्ट नहीं होता और वचन से उपार्जित किया हुआ कर्म, वचन के निरोध से नष्ट नहीं होता है- परन्तु मन के निश्चल (निरोध) हो जाने पर मन, वचन और काय इन तीनों से उपार्जित किए हुए कर्म एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं और भवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। इसलिए आत्महित इच्छुक क्षपक को स्वसंवेदन ज्ञान गुण के बल से वा निर्मल चैतन्य स्वभाव स्वात्माभिमुख परिणाम के माहात्म्य से दुर्जय स्वकीय मन को निश्चल करने का अभ्यास करना चाहिए। स्वकीय मन को निश्चल करके कर्मास्रव का निरोध करना चाहिए। सर्वकर्मों के क्षय संवर और निर्जरा का कारण मन को निश्चल करना ही है अत: मन का निरोध करना ही श्रेयस्कर है वा श्रेष्ठ है॥७२॥

मन का निरोध होने पर जो फल प्राप्त होता है उसको आचार्य सूचित करते हैं-

मन के संचार के नष्ट हो जाने पर शुभ, अशुभ वा द्रव्य, भावरूप दो प्रकार का आस्रव रुक जाता है और आस्रव के रुक जाने पर पुराने (पूर्व में बाँधे हुए) कर्म गल जाते हैं, निर्जीर्ण हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट होता है॥७३॥

गलइ गलति विलीयते क्षयं याति। किं तत्। **कम्म** कर्म। कीदृशं। **पुराणं** पुरातनं अनेकभवांतरोपार्जितं। न केवलमनेकभेदभिन्नं कर्म विगलति किंतु **केवलणाणं पयासेइ** केवलज्ञानं केवलं च तत् ज्ञानं च केवलज्ञानं प्रकाशयति आविर्भवति प्रकटीभवति। कस्मिन् सति। **खीणे मण-संचारे** प्रक्षीणे मनःसंचारे संचरणं संचारः मनसः संचारो मनःसंचारस्तस्मिन् मनःसंचारे क्षयं विनाशं गते सति। न केवलं मनःसंचारे क्षीणे सति। **तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे** तथा तेनैव प्रकारेण आस्रवे कर्मास्रवे त्रुटिते सति विलयं गते सति। कीदृशे आस्रवे। दुविकल्पे द्वौ विकल्पौ भेदौ यस्य स द्विविकल्पः तस्मिन् द्विविकल्पे शुभाशुभे द्रव्यभावरूपे वा। मनःप्रसरे क्षीणे सति कर्मास्रवे च निवर्तिते सति भवभवार्जितं कर्म विगलति केवलज्ञानं चाविर्भवतीति समुच्चयार्थः। तथाहि-यो ध्याता अनंतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकेन विशुद्धतरसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारेणांतः करणमंतं नयति स कर्मास्रवशत्रून् हत्वा केवलज्ञानविभूतिभाग्भवति निःसंशयमिति ॥७३॥

यदि कर्मक्षयस्त्वाभिप्रेतस्तदा मनः शून्यं विधेहीति शिक्षां प्रयच्छन्नाह-

जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो झत्ति।
सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ॥७४॥

यदीच्छसि कर्मक्षयं शून्यं धारय निजमनो झटिति।
शून्यीकृते चित्ते नूनमात्मा प्रकाशयति ॥७४॥

शुभ और अशुभ के भेद से, द्रव्य और भाव के भेद से कर्म-आस्रव दो प्रकार का है। जिस समय मन का प्रचार-प्रसार-संचार वा चंचलता नष्ट हो चुकती है, मन का निरोध हो जाता है, तब शुभ-अशुभ विकल्प वाले दोनों प्रकार के कर्मों का आगमन रुक जाता है, (कर्मों का संवर हो जाता है)। तथा आस्रव के रुक जाने पर मन, वचन, काय के द्वारा अनेक भवों में उपार्जित कर्म एक क्षण (अन्तर्मुहूर्त्त) में नष्ट हो जाते हैं और कर्मों का नाश हो जाने पर केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात् मन की चंचलता नष्ट हो जाने पर नवीन कर्मोंका आस्रव रुक जाता है, पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह इसका समुच्चय अर्थ है।

तथाहि - जो ध्याता भव्यात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टय लक्षण कार्य समयसार के उत्पादक विशुद्धतर समाधि परिणाम से परिणत कारण समयसार के द्वारा अपने अंतःकरण (मन) को अंतरंग में लीन करता है, मन को निर्विकल्प करता है, वह कर्मशत्रुओं का संहार (घात) करके केवलज्ञान रूपी विभूति का भोक्ता बन जाता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ॥७३॥

"हे क्षपक ! यदि तुम्हें कर्मों का क्षय करना इष्ट है तो मनको निर्विकल्प करने का प्रयत्न करो", ऐसी शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं-

हे क्षपक ! यदि तुम कर्मों का क्षय करना चाहते हो तो शीघ्र ही स्वकीय मन को निर्विकल्प करो। क्योंकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर निश्चय से आत्मा प्रकाशित होती है ॥७४॥

भो क्षपक **जइ इच्छहि** यदि चेत् इच्छसि वांछसि अभिलषसि। किं तत्। **कम्मक्खयं** कर्मणां द्रव्यभावरूपाणां क्षयो विनाशः कर्मक्षयस्तं कर्मक्षयं तदा **सुण्णं धारेहि** शून्यं लाभपूजाभोगकांक्षाविरहितं धारय। किं तत्। **णियमणो** निजमनः संकल्पविकल्परूपं स्वकीयचित्तं। कथं। **झत्ति** झटिति त्वरितं। ततश्च **सुण्णीकयम्मि चित्ते** शून्यीकृते विषयेभ्यो विमुखीकृते चित्ते सति। किं स्यादित्याह। **अप्पा पयासेहि** आत्मा प्रकाशयति जलधरपटलविघटनाद्रविरिव प्रकटीभवति। कथं। **णूणं** नूनं निश्चितं। तथाहि-अयमात्मा सकलविमलकेवलज्ञानमयमूर्तिः रागद्वेषादिदोषोज्झिते मनसि सर्वभावविलये वाऽवभासते। यदुक्तं-

सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः॥

यदि चित्तमुद्वासयसि तदा स्वात्मानं पश्यसीत्यावेदयति-

उव्वासहि णियचित्तं वसहि सहावे सुणिम्मले गंतुं।
जइ तो पिच्छसि अप्पा सण्णाणो केवलो सुद्धो॥७५॥

उद्वासयसि निजचित्तं वससि **सद्भावे** सुनिर्मले गंतुम्।
यदि तदा पश्य **स्वात्मानं** संज्ञानं केवलं शुद्धम् ॥७५॥

हे क्षपक ! यदि तू द्रव्य कर्म, भाव कर्म, रूप सर्व कर्मों का क्षय करना चाहता है तो संकल्प-विकल्प से आकुलित अपने मन को ख्याति, लाभ, पूजा और भोगों की कांक्षा आदि विचारों (भावनाओं) से शीघ्र ही शून्य कर। क्योंकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर, पंचेन्द्रियजन्य विषयों से विमुख हो जाने पर, आत्मज्योति का प्रकाश होता है। जैसे बादलों का विघटन हो जाने पर, सूर्य प्रकट होता है। तथाहि - रागद्वेष से रहित मन के हो जाने पर वा सर्व विभाव भावों के विलीन हो जाने पर निर्मल ज्ञान में सकल विमल केवल-ज्ञानमय मूर्त्ति यह आत्मा अवभासित होती है, प्रकट होती है। सो ही कहा है-

जब सत्समाधि में रत, निर्भर आत्मा के सर्व विभाव भावों का नाश हो जाता है, तब चारों तरफ से अद्भुत महातेज, सुखधाम, चित्स्वरूप प्रकाश (केवलज्ञान) प्रकट होता है, उस महातेजस्वरूप केवल ज्ञान को नमस्कार करो ॥७४॥

हे क्षपक ! यदि तू चित्त को निर्विकल्प करता है (करेगा) तो निर्मल स्वात्मा का अवलोकन करेगा। ऐसा आचार्य कहते हैं-

हे क्षपक ! तू स्वकीय चित्त को विषयों से विमुख करता है, अपने सुनिर्मल आत्मा को जानने के लिए स्व-स्वभाव में मन को स्थिर करता है, तो तू शुद्ध केवलज्ञानमय अपनी आत्मा को देख सकता है॥७५॥

भो क्षपक **उव्वासहि णियचित्तं** यदि निजचित्तं स्वकीयांतरंगं उद्वासयसि पंचेंद्रियविषयेषु विमुखतां नयसि उद्वसति कश्चित्तमुद्वसं अन्यः प्रयुक्ते धातोश्च हेतावितीति इन्नंतो वस् धातुरिहावगंतव्यं। तथा भो क्षपक **सद्भावे** शोभने भावे विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमये परमात्मनि वससि स्थितिं करोषि यदि। किंविशिष्टे सद्भावे। सुनिर्मले शुद्धनिश्चयनयापेक्षया रागद्वेषमोहः मदादिदोषोज्झिते। किं कर्तुं सद्भावे वसति। **गंतुं** तमेव परमात्मानं सम्यक् परिछेत्तुं। सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था इति। यद्येवं करोषि **तो पिच्छसि-अप्पा** तदा आत्मानं चिदात्मकं स्वस्वरूपं पश्यसि अवलोकयसि स्वसंवेदनेन स्वात्मानं संवेदयसीत्यर्थः। कथंभूतमात्मानं। **सण्णाणं** सज्ज्ञानं सत् शोभमानं सशयविमोहविभ्रमवर्जितं ज्ञानं यस्य स तं सज्ज्ञानं। पुनः किंविशिष्टमात्मानं। केवलमसहायं। पुनः कीदृशं। शुद्धं सर्वोपाधिरहितं। यदिचेत् निजचित्तमुद्वासयसि सद्भावे **च** वससि तदा स्वात्मानं पश्यसीति समुच्चयार्थः। तथाहि। भो क्षपक! यदि त्वं संसारशरीरभोगादिषु पराङ्मुखत्वं गतोसि तर्हि परमब्रह्मोपासनवासनानिष्ठो भव॥ यदुक्तम्-

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः।
यदि युवतिकरंके निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति तनु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम्॥

हे क्षपक ! तू स्वकीय मन को पंचेन्द्रिय-विषयों से विमुख करके स्वकीय शुद्धात्मा को जानने के लिए स्वकीय मन को शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा राग-द्वेष, मोह-मद आदि दोषों से रहित निर्मल, विशुद्ध ज्ञान, दर्शन उपयोगमय परमात्मा में स्थिर कर। स्वस्वभाव में अपने मन को लीन कर। इस गाथा में गंतुं शब्द ज्ञान अर्थ में है क्योंकि जितने भी गमनार्थ धातु हैं वे ज्ञान अर्थ में भी हैं। अतः हे आत्मन्। यदि तू अपने मन को परमात्मा को जानने के लिए परमात्मा में स्थिर करेगा तो निश्चय से संशय, विमोह, विभ्रम से रहित केवलज्ञानमय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा का अवलोकन करेगा। स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा शुद्ध सर्व उपाधि रहित अपनी आत्मा का वेदन-अनुभव करेगा। अर्थात् यदि तू अपने मन को विषय-वासनाओं से विमुख करके अपने आप में स्थिर करेगा तो अपने ज्ञान में अपने आपका अवलोकन करेगा। अपने आप का अनुभव करेगा। हे क्षपक ! यदि तू व्यवहार में इस समय संसार शरीर, और भोगों से पराङ्मुख हुआ है, सारे बाह्य पदार्थों का त्याग कर संन्यास धारण किया है तो उसका सार प्राप्त करने के लिए अपने मनको परम ब्रह्म परमात्मा के ध्यान में, चिन्तन में स्थिर कर। परम ब्रह्म परमात्मा की भावना में लीन हो। सो ही कहा है- "हे आत्मन् (क्षपक !) शरीर रूपी घर से विषय-पिशाचिनी निकल गई है, यदि इस समय मोह रूपी निद्रा का अतिरेक विशीर्ण हो गया है, नष्ट हो गया है। यदि तू नारी के शरीर से निर्ममत्व को प्राप्त हुआ है तो शीघ्र ही ब्रह्म वीथी में विहार कर। परम ब्रह्म परमात्मा स्वरूप अपने शुद्ध आत्मा में रमण कर, उसी का अनुभव कर"। बाह्य विषयों से विमुख होकर शुद्ध आत्म स्वभाव में लीन हो॥७५॥

यदि क्षपक का मन परमात्मा के सद्भाव (ध्यान) से शून्य हो जाता है तो क्या दोष आता है, उसको आचार्य कहते हैं-

क्षपकस्य परमात्मसद्भावशून्यत्वे दूषणमाह-

तणुमणवयणे सुण्णो ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे।
ससहावे जो सुण्णो हवइ वसो गयणकुसुमणिहो ।।७६ ।।

तनुमनोवचने शून्यो न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे।
स्वसद्भावे य: शून्यो भवति वशो गगनकुसुमनिभ: ।।७६ ।।

क्षपको ध्याता **सुण्णो** शून्यो भवत्। कस्मिन् शून्यो भवतु। **तणुमणवयणे** तनु: शरीरं मनश्चित्तं वचनं प्रतीतं तनुश्च मनश्च वचनं च तनुमनोवचनं तस्मिन् तनुमनोवचने। इदं शरीरादिकं मदीयमिति परिच्छिनत्ति। अथवा तनुक्रिया शुभरूपा देवार्चनादिका अशुभरूपा प्राणिहननादिका, मन:क्रिया शुभरूपा देवगुरुगुणस्मरणादिका अशुभरूपा वधबंधन-चिंतनादिका:, वचनक्रिया: शुभरूपा देवगुरुस्तुत्यादिका: अशुभरूपा मिथ्याभाषणादिका इत्येतासु शून्य:। यदुक्तं-

आस्तां बहिरुपधि च यस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।
कर्मकृतत्वान्मम: कुतो विशुद्धस्य मम किंचित्।।

कर्मणो यथास्वरूपं न तथा तत्कर्म कल्पनाजालम्।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति।।

जिस प्रकार क्षपक मन, वचन, काय की क्रिया से शून्य हो जाता है वैसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव के सद्भाव से शून्य नहीं होता है। क्योंकि यदि ध्याता क्षपक स्व स्वभाव से शून्य हो जाता है तो आकाश के फूल के समान मिथ्या वा असत् रूप हो जायेगा।।७६ ।।

यह शरीर, वचन और मन मेरा है ऐसी ज्ञप्ति (ज्ञान) होना। अथवा देवपूजा, गुरु उपासना आदि कायिक क्रिया शुभ है, प्राणियों को मारना आदि अशुभ है। देव, शास्त्र, गुरु आदि के गुणों का स्मरण करना मानसिक शुभ क्रिया है और राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी के वध, बंधन, आदि का चिन्तन करना अशुभ क्रिया है। देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति करना वाचनिक शुभ क्रिया है और मिथ्या भाषण, निन्दा आदि करना अशुभ वचन क्रिया है। इन क्रियाओं से ज्ञानधारा का शून्य हो जाना निर्विकल्प ध्यान है। कहा भी है-

"बाह्य उपाधिरूप मन, वचन और काय के विकल्प जाल तो दूर रहो परन्तु कर्मकृत होने से विभाव भाव मुझ शुद्धात्मा के कैसे हो सकते हैं? अर्थात् मन, वचन और काय का समूह तथा कर्मकृत विभाव भाव आदि मुझ विशुद्धात्मा के कुछ भी नहीं हैं। कर्मों का यथार्थ स्वरूप और उन कर्मों के उदय से उत्पन्न विभावों का विकल्प जाल कुछ भी मेरा नहीं है, मैं विशुद्धात्मा हूँ। ये विकल्पजाल मेरे हैं," इस प्रकार की बुद्धि से जो विहीन है, रहित है वही मुमुक्षु आत्मा सुखी होता है। कर्मजाल से रहित शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

तथा **ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे** न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे आत्मनश्चिदात्मकस्य शुद्धो रागादिमलरहितः सद्भावोस्तिस्वभावः तस्मिन् आत्मशुद्धसद्भावे न च शून्यो ध्याता। नित्यानंदैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं तत्र ननु जाग्रदवस्थः इत्यर्थः। यदुक्तम्-

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः॥

जिस प्रकार शुद्धात्मा का ध्यान करने वाला क्षपक मन, वचन, काय की क्रियाओं से और रागादि भावों से शून्य (रहित) हो जाता है, उसी प्रकार वह क्षपक रागादिमल रहित आत्मा के सद्भाव से वा स्वकीय दर्शन और ज्ञानोपयोग से शून्य नहीं होता है। शुद्धात्मा के स्वभाव के अस्तित्व से रहित नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक ! तुम निरंतर नित्य आनन्द एक स्वभाव रूप परमात्म तत्त्व हो, उसमें हमेशा जाग्रत रहो, उसके अस्तित्व का हमेशा अनुभव करो। सो ही कहा है-

जो भव्यात्मा पुरुष अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष, अभ्रम से युक्त ऐसी अपनी आत्मा को देखता है, अनुभव करता है, वही पुमान् निश्चय से शुद्धनय में निष्ठ होता है।

भावार्थ- पुमान्, पुरुष, आत्मा ये एकार्थवाची हैं। (अ) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा स्वकीय गुण पर्यायों से सहित चिदात्मा है, वही पुरुष कहलाता है। (ब) वह पुमान् कर्मों के स्पर्श से रहित है यद्यपि कर्मों के साथ अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाही हो रहा है फिर भी वह आत्मा का स्पर्श नहीं करता है अतः आत्मा अस्पृष्ट है। (स) अनादि काल से यद्यपि आत्मा व्यवहार नयसे कर्मों से बँधा है, परन्तु निश्चयनय से आत्मा कर्मों से बँधा हुआ नहीं है। इसलिए अबद्ध है।

नर-नारकादि अनेक पर्यायों की अपेक्षा पर्यायार्थिक नय से अन्यत्व है, परन्तु द्रव्यार्थिक नय से अनन्य है। आत्मा की वृद्धि-हानि रूप पर्यायों की अपेक्षा अनियतता है। परन्तु नित्य स्थिर आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर नियतता है।

ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को भेदरूप ग्रहण करने पर विशेषता और अभेदरूप ग्रहण करने पर अविशेषता प्रतीत होती है। यद्यपि मोहनीय कर्म के साथ संयुक्त रूप अवस्था का अनुभव करने पर संयुक्त है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करने पर रागादि से असंयुक्त (अयुत) है। यद्यपि व्यवहार नय से विभ्रम सहित है तथापि निश्चय नय से विभ्रमरहित है, अविभ्रम है। इस प्रकार जो क्षपक अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, असंयुक्त (अयुत), अविशेष, अभ्रम रूप शुद्धात्मा का अवलोकन करता है, अनुभव करता है वह शुद्धनयनिष्ठ होता है। अनादि काल से यह आत्मा पुद्गलकर्म के साथ बँधा हुआ होने से पुद्गल कर्म के साथ स्पर्श वाला दृष्टिगोचर होता है। कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न दीख रहा है।

शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं, यह वस्तु-स्वभाव है इसलिए अनित्य भी है, एक रूप नहीं है। दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों का पिण्ड रूप आत्मा गुणभेद की अपेक्षा विशेष रूप भी है।

कर्म के निमित्त से होने वाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों सहित होनेसे सुख-दुःख रूप भी है, इस प्रकार व्यवहार नय से अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा अनेक भेदरूप है परन्तु अनुभव करते समय अभेद रूप ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि अभेद रूप ग्रहण करनेपर आत्मानुभूति होती है अथवा उसे ही आत्मानुभूति कहते हैं।

स्वसद्भावे यः शून्यः स कीदृश इत्याह। ससहावे जो सुण्णो स्वसद्भावे टंकोत्कीर्णपरमानंदैकस्वभावे यो ध्याता शून्योऽविकल्पः स गगनकुसुमनिभो भवति च, गगनस्य आकाशस्य कुसुमं गगनकुसुमं तन्निभः गगन-कुसुमनिभः आकाशकुसुमतुल्यः स मिथ्यारूपो भवतीत्यर्थः। ततोऽमंदचिदानंदोत्थनिरुपमसुखामृतरसं पिपासुना विशुद्धे स्वात्मनि सावधानीभूय स्थातव्यं इति मनःसंयमनम्।।७६।।

शून्यध्यानप्रविष्टः क्षपकः कीदृगवस्थो भवतीत्याह-

सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो।
परमाणंदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवइ।।७७।।

शून्यध्यानप्रविष्टो योगी स्वसद्भावसौख्यसंपन्नः।
परमानंदे स्थितो भृतावस्थः स्फुटं भवति।।७७।।

जोई योगी क्षपको भृतावस्थो भवति। कीदृशो योगी। **सुण्णज्झाणपइट्ठो** शून्यध्यानप्रविष्टः शून्यं च ध्यानं च **शून्यध्यानं निर्विकल्पसमाधिलक्षणं** तत्र प्रविष्टः स्थितः शून्यध्यानप्रविष्टः निर्विकल्पसमाध्याविष्टः। यत्र च-

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथाकौतुकं,
शीर्यंते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेपि च।
जोषं वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छति मनो दोषैः समं पंचताम्।।

सद्भाव से शून्य वस्तु कैसी होती है, सो कहते हैं। टंकोत्कीर्ण परमानन्द अद्वितीय रूप स्व-स्वभाव से जो ध्याता शून्य हो जाता है, स्व-स्वभाव से रहित अविकल्प हो जाता है, वह आकाश के फूल के समान मिथ्यात्व रूप हो जाता है अर्थात् उसका अभाव हो जाता है। इसलिए अमन्द चिदानन्द आत्मा से उत्पन्न निरुपम सुखामृत रस के पिपासु क्षपक को विशुद्ध स्व-आत्मा में सावधान होकर स्थिर होना चाहिए। स्वकीय मन को स्वस्वभाव में स्थिर करना चाहिए।।७६।।

शून्य ध्यान में प्रविष्ट क्षपक की कैसी अवस्था होती है, उसका कथन करते हैं-

शून्य ध्यान में प्रविष्ट योगी स्व सद्भाव रूप सुखमें सम्पन्न होकर परमानन्द में स्थित होता है, स्फुट रूप से भृतावस्था को प्राप्त होता है।।७७।।

योगी (क्षपक) निर्विकल्प समाधिलक्षण, शून्य ध्यान में प्रविष्ट होता है। जहाँ पर-

"जिस शून्य (निर्विकल्प) ध्यान में रस विरस हो जाते हैं, कथा-कौतुक-गोष्ठी विघट जाती है अर्थात् वार्त्तालाप नष्ट हो जाता है, विषय-वासना शीर्ण हो जाती है तथा उस योगी की शरीर में भी प्रीति नष्ट हो जाती है, वचन भी मौन को धारण कर लेते हैं। निरन्तर आनन्द स्वरूप स्वात्मा की चिन्ता में अर्थात् स्वात्म चिन्तन में मन भी सर्व दोषों के साथ मृत्यु को प्राप्त होना चाहता है, अर्थात् निर्विकल्प ध्यान में मन, वचन, काय की सारी क्रियाएँ निश्चल हो जाती हैं।"

तच्छून्यध्यानमिह गृह्यते। पुनः कीदृशो योगी। **ससहावसुक्खसंपण्णो** स्वसद्भावसौख्यसंपन्नः स्वस्य परमात्मनो यः सद्भावोऽनंतज्ञानपरमानंदादिलक्षणः स्वसद्भावस्तदुत्थं यत्सौख्यं स्वसद्भावसौख्यं तेन संपन्नः संयुक्तः स्वसद्भावसौख्यसंपन्नः। कीदृशो योगी। **परमाणंदे थक्को** परमानंदे स्थितः परमश्चासावानंदश्च परमानंदस्तस्मिन् परमानंदे स्थितः विशुद्धतरपरब्रह्माराधनोद्भूतस्फीतानंदामृतरसतृप्त इत्यर्थः। अत एव क्षपकः **भरियावत्थो फुडं हवइ** पूर्णकलशवत् भृतावस्थः अविनश्वरनिरुपमानंदसुधारससंभृतः स्फुटं निश्चितं भवतीत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा विषयशून्यं ध्यानमवलंब्य स्वात्माराधनीयोऽनंतसौख्यं प्राप्नुयेति ॥७७॥

अधुना शून्यध्यानलक्षणमाह-

जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि।
ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥७८॥

यत्र न ध्यानं ध्येयं ध्यातारो नैव चिंतनं किमपि।
न च धारणा विकल्पस्तं शून्यं सुष्ठु भावयेः ॥७८॥

भो क्षपक **तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज** तद् शून्यं सुष्ठु अतिशयेन भावयेस्त्वं जानीया इति भावार्थः। तत् किं। यत्र आर्तरौद्रधर्मशुक्लभेदाच्चतुर्विकल्पं ध्यानं नास्ति जिनसुगतहरब्रह्मभेदाद्यनेकविकल्पं ध्येयं च नास्ति **तथा झायारो**

शुचिः प्रसन्नो गुरुदेवभक्तः सत्यव्रतः शीलदयासमेतः।
दक्षः पदुर्बीजपदावधारी ध्याता भवेदीदृश एव लोके।

यहाँ पर शून्य ध्यान का अर्थ निर्विकल्प समाधि ग्रहण करना चाहिए। निर्विकल्प समाधिस्थ योगी अनन्त ज्ञानादि परमानन्द लक्षण स्वसद्भाव से उत्पन्न सुख से सम्पन्न होता है और विशुद्धतरपरम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न महानन्द अमृत रस में तृप्त होता है। वह अविनश्वर निरुपम आनन्द सुधारस से परिपूर्ण अवस्था वाला होता है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि में लीन होने वाला योगी अनन्त चतुष्टय रूप अरहन्तावस्था और सिद्ध अवस्था के आनन्द का भोक्ता बनता है। ऐसा जानकर अनन्त अविनाशी सुख की प्राप्ति के इच्छुक क्षपक को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख हो कर निर्विकल्प समाधिलक्षण शून्य ध्यान का अवलम्बन लेकर स्व-शुद्धात्मा की आराधना करनी चाहिए ॥७७॥

अब **शून्यध्यान** का लक्षण कहते हैं-

जिसमें ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है और जिसमें धारणा का विकल्प नहीं है, उसकी तुम भली प्रकार से भावना करो ॥७८॥

हे क्षपक ! जहाँ आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का ध्यान नहीं है, जिन, बुद्ध, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक प्रकार के ध्येय का विकल्प नहीं है। तथा ध्याता-

"शुचि, प्रसन्नवदन, गुरु-देव (देव, शास्त्र, गुरु) का भक्त, सत्यव्रत का धारी, शील-दया आदि से युक्त, चतुः ध्यान के स्वरूप को जानने में दक्ष, बीज पद (बीजाक्षरों) की अवधारणा करने वाला, इन

इत्यादिगुणोपेतो ध्यातापि नास्ति तथा यत्र **णेव चिंतणं किंपि,** नैव। किंतत्। चिन्तनं शुक्लकृष्णरक्त-पीतादिकमन्यदपि शत्रुवधादिकं स्त्रीराजवश्यादिकं वा चिन्तनं नास्ति। तथा **ण य धारणा** यत्र धारणापि नास्ति कालांतरादविस्मरणं धारणं तन्नास्तीत्यर्थः तथा **वियण्णो असंख्येयलोकप्रमाणो** विकल्पोपि नास्ति तच्छून्यं ध्यानं अर्थान्निर्विकल्पसमाधिलक्षणं ध्यानं निःसंदेहं भावयेरिति। ईदृग्विधशून्यतापरिणतो ध्याता **नय**पक्षपातोज्झितः स्वरूपगुप्तो भवति। यश्च स्वरूपगुप्तः स परमानंदामृतमेवास्वादयति। यदुक्तं-

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥

अनुक्त-

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबतो
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्ललीलायितम् ॥

विशेषणों वाला लोक में ध्याता होता है। परन्तु जिस अवस्था में ध्याता का भी विचार नहीं है जिसमें शुक्ल, पीत, रक्त कृष्णादि का वा शत्रु के वध-बन्धनादिका तथा स्त्री या राजा की अधीनता आदिका चिन्तन नहीं है। कालान्तर में 'नहीं भूलना' रूप धारणा भी जिस अवस्था में नहीं है तथा असंख्यात लोक प्रमाण जो मानसिक विकल्प हैं वे भी जिस अवस्था में नहीं हैं अर्थात् जो निर्विकल्प समाधि लक्षण ध्यान है, उसे शून्य ध्यान समझो और हे क्षपक ! निस्संदेह उसी की भावना करो। इस प्रकार का ध्याता नयपक्ष से रहित होता है, स्व-स्वरूप में लीन होता है। जो स्वरूप गुप्त होता है, वही ध्याता परमानन्द अमृत का आस्वादन करता है। सोही **समयसार कलश में अमृतचन्द्रआचार्य** ने कहा है-

"जो ज्ञानी नयपक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में (अपने स्वरूप में) गुप्त होकर निवास करते हैं, जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शांत हो गया है, वे ही ज्ञानी मानव साक्षात् अमृत (स्वानुभव रूप सुधारस) का पान करते हैं।"

जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नय सम्बन्धी पक्षपात वा विकल्प दूर हो जाता है तब वीतराग दशा को प्राप्त होकर स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।

समयसार कलश में कहा भी है-

जैसे नमक की डली एक क्षाररस की लीला का अवलम्बन करती है, वैसे ही यह आत्मतेजप्रकाश (ज्ञान) ज्ञेयाकार से खण्डित नहीं होता, इसलिए अखण्डित है। कर्मों के निमित्त होनेवाली आकुलता से रहित होनेसे अनाकुल है। अंतरंग में प्रत्येक प्राणी को अहं प्रत्यय (चैतन्य स्वभाव) से अनुभव में आ रहा है और बाह्य में वचन एवं काय की क्रिया से देदीप्यमान है। जिसका सहज विलास सदा उदयरूप है और सदा काल चैतन्य भावों से परिपूर्ण है- अर्थात् चैतन्य भावों से उछल रहा है। ऐसे अखण्डित, अनाकुल, अंतरंग एवं बाह्य में देदीप्यमान सहज चैतन्य के उद्विलास से युक्त और नमक की डली के समान सर्वांग रूपसे, चैतन्य रूप से परिपूर्ण है ऐसे तेजपुंज ज्ञान का सदा काल अनुभव करो। अर्थात् यह ज्ञानानन्दमय एकाकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप ज्योति हमें सदा प्राप्त हो ॥७८॥

प्रागुक्तलक्षणशून्यतापरिणतः आत्मा शुद्ध एव भावो भवति स शुद्धभावः किमाख्यो भवतीत्यावेदयति;-

जो खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता।
तं चेव हवदि णाणं दंसणचारित्तयं चेव ॥७९॥

यः खलु शुद्धो भावः स जीवश्चेतनापि सा उक्ता।
तच्चैव भवति ज्ञानं दर्शनचारित्रं चैव ॥७९॥

जो खलु सुद्धो भावो यः खलु निश्चयेन शुद्धो रागद्वेषमोहादिदोषोज्झितः भावो भवति स एव भावो जीवः चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैः पूर्वमजीवत् संप्रति जीवति अग्रे च जीविष्यति इति जीवः ज्ञानदर्शनोपयोगमयः तथा **चेयणावि सा उत्ता** स एव भावः सा जगत्प्रसिद्धा चेतना उक्ता प्रतिपादिता। स एव भाव **तं चेव हवदि** इत्यादि तत् विशुद्धं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं भवति। यदुक्तम्-

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचिदर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात्तदेकं निर्मलं तपः॥
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम्।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम्॥

अनुच- **आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयाभ्यां विना,**
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।

उपरि कथित लक्षण वाली शून्यता से परिणत आत्मा ही शुद्ध भाव है, वे शुद्धभाव किस नाम वाले होते हैं, उसका आवेदन (कथन) करते हैं-

जो जीव का शुद्धभाव है वही जीव है, वह शुद्ध भाव ही चेतना शब्द से कहा जाता है और वह शुद्ध भाव ही ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र स्वरूप है॥७९॥

जो निश्चय से रागद्वेष-मोहादि दोषों से रहित शुद्धभाव होता है वही भाव जीव है। वह इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, बल, आयु रूप चार द्रव्य प्राणों से जीता था, जी रहा है और जीयेगा, ऐसा ज्ञान दर्शन उपयोगमय भावप्राण वाला जीव है। वह शुद्ध भाव ही जगत् प्रसिद्ध चेतना है। वह शुद्धभाव ही विशुद्ध दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र है। कहा भी है-

वह शुद्ध भाव ही एक परम ज्ञान है, वह शुद्ध भाव ही पवित्र दर्शन है, वही एक (अद्वितीय) चारित्र है वही एक निर्मल तप है। वह शुद्ध भाव ही एक नमस्कार करने योग्य है, वह शुद्ध भाव ही परम मंगल है, वह शुद्ध भाव ही उत्तम है और वह शुद्ध भाव ही सज्जन पुरुषों के लिए शरण है। और भी कहा है-

नय पक्षों से रहित, अचल, निर्विकल्प भाव को प्राप्त जो समय (आत्मा) का सार प्रकाशित है या दृष्टिगोचर हो रहा है, वह यह समयसार निभृत निश्चल आत्मलीन पुरुषों के द्वारा, स्वयं आस्वाद्यमान है

विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययम् ॥

यः खलु शुद्धो भावः स एव रत्नत्रयमित्याचष्टे-

दंसणणाणचरित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा।
जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण ॥८०॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि निश्चयवादेन भवंति न हि भिन्नानि।
यः खलु शुद्धो भावस्तमेव रत्नत्रयं जानीहि ॥८०॥

भो क्षपक ! **दंसणणाणचरित्ता** दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्राणि **णिच्छयवाएण** निश्चयवादेन निश्चयनयापेक्षया **हुंति ण हु भिण्णा** हु स्फुटं भिन्नानि परमात्मनः स्वरूपात् पृथग्भूतानि न भवंति। यदुक्तम्-

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम् ॥

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिवात्मज्योतिरुद्यच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥

(अनुभव में आ रहा है) वह-विज्ञान ही जिसका रस है ऐसा भगवान है, वह विज्ञानरस शुद्ध आत्मा ही पवित्र पुराण पुरुष है- वही दर्शन है, वही ज्ञान है, अधिक क्या कहें? जो कुछ अनन्त ज्ञानादि गुणरूप है वह समयसार (शुद्धात्मा) ही है। वह अद्वितीय है। (मात्र भिन्न-भिन्न नामों से कहा जाता है)

निश्चय से आत्मा का जो शुद्ध भाव है वही रत्नत्रय है, सो कहते हैं-

"निश्चय नय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा से भिन्न नहीं हैं। इसलिए जो आत्मीय शुद्ध भाव है उसको ही रत्नत्रय समझो ॥८०॥

निश्चय नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र परमात्मा के स्वरूप से पृथक्भूत नहीं हैं, कहा भी है-

"आत्मा में निश्चय ज्ञान की स्थिति है, ज्ञान की स्थिरता है वही संसार का नाश करने के लिए रत्नत्रय है। भूतार्थ पथमें (निश्चयनय में) स्थित बुद्धि वाले के लिए आत्मा ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों रूप है।"

किसी कारण (व्यवहार नय) से तीन प्रकार को अंगीकार करनेपर भी जो एकत्व से कभी च्युत नहीं है ऐसी जो निर्मलता को प्राप्त, अनन्त (अविनाशी) चैतन्य चिह्न वाली इस आत्मज्योति का हम निरंतर अनुभव करते हैं, उसी का हम रसास्वादन करते हैं क्योंकि ऐसी शुद्ध आत्म ज्योति के अनुभव के बिना निश्चय से साध्य की सिद्धि नहीं होती।

किं तु **जो खलु सुद्धो भावो** यः खलु निश्चयेन शुद्धः कर्ममलविनिर्मुक्तः भावः तमेव भावं रत्नत्रयं **जाण** जानीहि। तथाहि **एकमेव परमात्मानमात्मनि** वर्तमानममंदानंदमेदुरमात्मनैव यो ध्यायति तेन रत्नत्रयमेवाराधितं भवेदिति भावार्थः ॥८०॥

अशेषकामक्रोधलोभमदमात्सर्यादिविभावभावपरिणामैर्मुक्तत्वादशून्य आत्मा शून्य इत्याह-

तत्तियमओ हु अप्पा अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को।
उत्तो स तेण सुण्णो णाणीहि ण सव्वदा सुण्णो ॥८१॥

तत्त्रिकमयो हि आत्मा अवशेषालंबनैः परिमुक्तः।
उक्तः स तेन शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वदा शून्यः ॥८१॥

अप्पा आत्मा अतति गच्छति स्वकीयान् द्रव्यपर्यायानित्यात्मा। किं विशिष्टः। **तत्तियमइओ** तत्त्रितयमयः दर्शनज्ञानचारित्रमयः। ज्ञानिभिरात्मा दर्शनज्ञानमयो निर्दिष्ट इति। यदुक्तम्-

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडतावतोपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥

हे आत्मन्! निश्चय से आत्मा के कर्ममलरहित जो शुद्ध भाव हैं उन्हीं भावों को रत्नत्रय समझो। तथाहि, जो स्व आत्मा में अपनी आत्मा द्वारा परमानन्द से व्याप्त परमात्मा का ध्यान करता है, परमात्मा के गुण-स्मरण में अपने मन को स्थिर करता है, वही रत्नत्रय की आराधना करता है, ऐसा जानना चाहिए। इसलिए हे क्षपक! अपने मन को परमात्मा के गुण-स्मरण में स्थिर करो। बाह्य वासना से मन को शून्य करके स्वात्म-चिन्तन में स्थिर करो ॥८०॥

सम्पूर्ण काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि विभाव-भावों से रहित ही यह आत्मा शून्य कहलाता है, उसका कथन करते हैं-

रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा जब अशेष रागादि अवलम्बनों से रहित हो जाता है, उसी को शून्य कहा है- क्योंकि ज्ञानादि से सर्वदा शून्य आत्मा कभी नहीं होता है ॥८१॥

अपनी द्रव्य, गुण, पर्यायों को जो 'अतति' प्राप्त होता है वा 'अत्' धातु ज्ञान अर्थ में भी है अतः जो स्व-पर को जानता है, वह आत्मा है और वह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय है, क्योंकि ज्ञानियों ने आत्मा को ज्ञान, दर्शनमय कहा है। सो ही कहा है-

इस जगत् में अद्वैत भी चेतना अपने दर्शन, ज्ञान, रूप स्वरूप को नहीं छोड़ती है। यदि चेतना स्वकीय सामान्य (दर्शन) और विशेष (ज्ञान) से रहित हो जायेगी तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जायेगा वा वह अपने अस्तित्व का भी परित्याग कर देगी। जब चेतना अपने अस्तित्व दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग

अतः आत्मा दर्शनज्ञानोपयोगमयोऽवगंतव्यः तस्यैव शुद्धबुद्धस्वभावस्यात्मनः स्वात्मनि या स्थितिस्तच्चारित्रमिति। अथवा-

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥

अनुच-

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखंडं परात्मनो रूपम्।
तत्त्रितयतत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः॥

संसारव्यवहारव्यापारोत्पादकैः रागद्वेषमोहशृंगारादिभिरवलंबनैः **सालंबो** भविष्यति आत्मेत्याशंक्याह **अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को** अवशेषाणि समस्तानि यान्यालंबनानि अपध्यानादीति तैः सर्वप्रकारेण मुक्तो रहितः **उत्तो स तेण सुण्णो** स आत्मा तेनैव हेतुना शून्यः उक्तः प्रतिपादितः। ततश्च समस्तेंद्रियविषयकषायविषये शून्यः चिदानंदैकसद्भावे स्वरूपे योऽशून्यः स सर्वप्रकारेणोपादेय इति भावार्थः॥८१॥

को छोड़ देती है तो जड़पने (अचेतनपने) को प्राप्त हो जाती है क्योंकि व्यापक ज्ञान-दर्शन के बिना व्याप्य आत्मा भी अंत को प्राप्त हो जाता है। इसलिए आत्मा ज्ञानदर्शनमय नियत है; ज्ञान, दर्शन से कभी शून्य नहीं होता है।

इसलिए आत्मा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग मय है, ऐसा जानना चाहिए। उस शुद्ध (रागादि रहित), बुद्ध (केवलज्ञान) स्वरूप आत्मा का अपने आत्मा में स्थिर हो जाना ही चारित्र है। अथवा- **समयसार** में कहा है-

"व्यवहार नयसे ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहा जाता है परन्तु निश्चय से आत्मा के न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है; केवल शुद्ध ज्ञायक भाव रूप ही आत्मा है।" और भी कहा है-

सम्यक् सुख, ज्ञान और दर्शन इन तीनों की अखण्डता (एकता अभिन्नता) ही परमात्मा का स्वरूप है। जो रत्नत्रयमय आत्मा में तत्पर होता है वही भव्यात्मा उस रत्नत्रय की प्राप्ति से कृतकृत्य हो जाता है।

संसार-व्यवहार के, व्यापार के उत्पादक राग-द्वेष, मोह, शृंगार आदि के अवलम्बन से आत्मा सावलम्ब होता है, ऐसा पूछनेपर आचार्य कहते हैं कि ये राग-द्वेषादि अवलम्बन ही आत्मा के घातक हैं इसलिए इन सारे आर्त, रौद्र ध्यान, अपध्यान रूप अवलम्बनों से मुक्त हो जाना (ज्ञानधारा का विभावभावों से रहित हो जाना) ही आत्मा शून्य कहलाता है। अर्थात् ज्ञान का रागद्वेष परिणति से रहित होना शून्यता कहलाती है इसलिए जो परिणाम समस्त इन्द्रियजन्य विषय और कषायों से शून्य है और चिदानन्द एक सद्भाव रूप स्वकीय स्वरूप से अशून्य है, वही अवस्था सर्व प्रकार से उपादेय है; ऐसा समझना चाहिए॥८१॥

चित्स्वभावः खल्वयमात्मा मोक्षमार्गो मोक्षो वेत्यावेदयति-

एवं गुणो हु अप्पा जो सो भणिओ हु मोक्खमग्गोत्ति।
अहवा स एव मोक्खो असेसकम्मक्खए हवइ ॥८२॥

एवं गुणो ह्यात्मा यः स भणितो हि मोक्षमार्ग इति।
अथवा स एव मोक्षः अशेषकर्मक्षये भवति ॥८२॥

एवं गुणो हु अप्पा आत्मा य एवंभूता अनंतज्ञानादयो गुणा यस्य स एवंगुणः य एवंगुण आत्मा स एव मोक्षमार्ग इति भणितः कथितः सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तस्य मार्गो दर्शनज्ञानचारित्राणि एवंगुणविशिष्टः खल्वात्मा साक्षान्मोक्षमार्ग इत्यवगंतव्यः **अहवा** अथवा मोक्षमार्गेण किं स एव **मुक्खो स** एवात्मा मोक्षः निरतिशयानंदसुखरूपः। कदा स आत्मा मोक्षो भवतीत्याह। **असेसकम्मक्खये हवइ** अशेषाणि समस्तानि मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि यानि कर्माणि ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनि तेषां क्षयः सामस्तेन विनाशः अशेषकर्मक्षयस्तस्मिन्नशेषकर्मक्षये सति स एव आत्मा मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥८२॥

निश्चय से चित् स्वभाव वाला यह आत्मा ही मोक्षमार्ग है, आत्मा ही मोक्ष है, ऐसा कहते हैं-

इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट जो आत्मा है, वही मोक्षमार्ग है और वह आत्मा ही अशेष कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष रूप होती है॥८२॥

सर्व कर्मों से रहित जो शुद्धात्मा की अवस्था है, वह मोक्ष है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता मोक्षमार्ग या मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

अनन्त ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि गुणों का आधार है इसलिए आत्मा ही साक्षात् मोक्षमार्ग है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र सम्यग्दर्शनादि नहीं पाये जाते हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल कर्म प्रकृतियाँ हैं।

ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयु की चार, नामकर्म की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच ये एक सौ अड़तालीस उत्तर कर्मप्रकृतियाँ हैं। इन सर्व मूल-उत्तर प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर मोक्ष होता है, वह मोक्ष भी आत्मा का ही होता है, आत्मा ही कर्मों से छूटती है अतः मोक्ष भी आत्मा ही है। अर्थात् आत्मा ही मोक्ष का कारण है और आत्मा ही मोक्षरूप कार्य है, ऐसा समझकर आत्मा की आराधना करनी चाहिए॥८२॥

यावत्साकल्याभिनिवेशो योगिनस्तावच्छून्यं ध्यानं नास्तीत्यावेदयति-

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाणजुत्तस्स।
ताम ण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥८३॥

यावद्विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य।
तावन्न शून्यं ध्यानं चिंता वा भावना अथवा ॥८३॥

जोइस्स योगिनः संवृतेंद्रियस्य क्षपकस्य **जाम वियप्पो कोई जायइ** यावत्कालं कोपि कश्चिदपि विकल्पः अहं सुखी अहं दुःखीत्यादि-रूपः जायते उत्पद्यते। कथंभूतस्य योगिनः। **झाणजुत्तस्स** ध्यानयुक्तस्य निर्विकल्पसमाधिनिष्ठस्य। कथं विकल्पाविर्भावः? पूर्वविभ्रमसंस्कारादिति। यदुक्तम्-

जाननप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोपि गच्छति॥

विकल्पावतारश्चेद्योगिनस्तर्हि किं दूषणमित्याशंक्याह। **ताव ण सुण्णं झाणं** तावत्कालं शून्यं संकल्पातीतं ध्यानं नास्ति। तर्हिकमस्तीत्याशंक्याह। **चिंता वा भावणा अहवा** तस्य परमात्मनश्चिन्ता अनंतज्ञानादिगुणस्मरणलक्षणा अथवा तस्मिन्नेव टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावे भावना। न पुनः शून्यं ध्यानं। तथाहि। आत्मस्वभावलंबिनो योगिनः संकल्पविकल्पं विदलयन् शुद्धनय एवोदेति। यदुक्तम्-

---

जब तक सारे अभिनिवेशों से योगी का हृदय शून्य नहीं होता है, तब तक 'ध्यान' नहीं होता, ऐसा कहते हैं-

ध्यानस्थ योगी के हृदय में जब तक कोई भी संकल्प-विकल्प रहते हैं, तब तक शून्य ध्यान नहीं होता, केवल ध्यान की चिन्ता और भावना होती है॥८३॥

ध्यान युक्त, पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त क्षपक के हृदय में जब तक "मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं ध्याता हूँ, यह ध्येय है, यह ध्यान है", आदि कुछ भी (किंचित् मात्र भी) विकल्प रहता है तब तक ध्यान नहीं होता। **शंका** - जो निर्विकल्प समाधि का इच्छुक है, ध्यान का अभ्यास करने वाला है, उसके विकल्पों का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? **उत्तर** - पूर्व विभ्रम के संस्कार से विकल्पों का प्रादुर्भाव होता है सो ही **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** में कहा है- "आत्मतत्त्व को जानते हुए भी तथा शुद्धात्मा की भावना करते हुए भी अनादिकालीन विभ्रमों के संस्कार से बार-बार भ्रान्ति उत्पन्न होती है, संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं।"

शंका - योगी के मन में यदि विकल्प होते हैं तो उसमें क्या दोष है? **उत्तर**-जब तक योगी के हृदय में विकल्पों का प्रादुर्भाव होता है तब तक संकल्पातीत शून्य ध्यान नहीं होता है। **शंका** - फिर क्या होता है? क्या उस क्षपक का ध्यान-अभ्यास निष्फल है? **उत्तर** - क्षपक का ध्यान का अभ्यास निष्फल नहीं है, उसके निर्विकल्प ध्यान नहीं है। परन्तु परमात्मा के चिन्तन से ध्यान की चिन्ता होती है और परमात्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्मरण रूप उसी टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा के स्वभाव की चिन्तन रूप भावना होती है, शून्य ध्यान नहीं होता। क्योंकि आत्म-स्वभाव का अवलम्बन लेने वाले योगियों के संकल्प-विकल्प का नाश होता है तब शुद्ध नय का उदय होता है। सो ही कहा है-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥

तस्माच्छून्यध्यानमभिलषता मुमुक्षुणा शुद्धनय एवेष्टव्य इति॥८३॥

विशदानंदमयात्मनि स्वात्मनि यस्य मनो विलीयते तस्यात्मा कर्मनिर्मूलनक्षमः प्राकट्यमुपढौकते इत्याह-

लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पाअणलो पयासेइ॥८४॥

लवणमिव सलिलयोगे ध्याने चित्तं विलीयते यस्य।
तस्य शुभाशुभदहन आत्मानलः प्रकाशयति॥८४॥

पयासेइ प्रकाशयति प्रकटी भवति। प्रद्योतते इति यावत्। कोसौ। **अप्पाअणलो** आत्मैव अनलो वह्निः आत्मानलः आत्महुताशनः। कस्यात्मानलः प्रकटीभवति इत्याह। **झाणे चित्तं विलीयए जस्स** यस्य

सर्व कर्मों के निमित्त से होने वाले पर-भावों से जो सर्वथा भिन्न है, स्व-स्वभावसे परिपूर्ण है अर्थात् परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन के धारी है, जो आदि अंत से रहित है अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश से रहित है, एक है- (अद्वितीय है) अर्थात् जो गुण-गुणी के भेद से रहित है, ''द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म वा घर-पुत्र-पौत्रादिक पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करना 'ये मेरे हैं' ऐसा चिन्तन **संकल्प** है और 'मैं इनका हूँ' वा ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद मानना **विकल्प** है'' इन सारे संकल्प, विकल्प जालों से रहित आत्मस्वभाव है, उस आत्मस्वभाव को प्रकाशित करने वाले शुद्धनय का उदय होता है। अर्थात् भेदविवक्षा रहित आत्म-स्वभाव के आस्वादन का इच्छुक अनादि काल के संस्कार के कारण बार-बार विभ्रम को प्राप्त होता है परन्तु ध्यान की भावना और ध्यान की चिंता होती है। इसलिए शुद्ध निर्विकल्प शून्य ध्यान के इच्छुक मुमुक्षु को शुद्ध नय का ही आश्रय लेना चाहिए। शुद्ध नय का आश्रय लेकर निर्विकल्प होने का प्रयत्न करना चाहिए॥८३॥

विशद आनन्दमय स्वात्मा में जिसका मन लीन होता है, उसी की आत्मा कर्मों का निर्मूलन करने में समर्थ होती है ऐसा कहते हैं-

''जिस प्रकार जल में नमक की डली एकमेक हो जाती है उसी प्रकार जिसका चित्त ध्यान में लीन हो जाता है उसके हृदय में शुभ एवं अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मरूप अग्नि उत्पन्न होती है॥८४॥

जिस समय पंचेन्द्रियजन्य विषयों से पराङ्मुख होकर शुद्धात्मस्वरूप में निष्ठा रखने वाले योगी का चित्त (मन) निर्विकल्प समाधि लक्षण धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में विलीन होता है वा चिद्रूप में स्थिर हो

योगिनो नियमितपंचेंद्रियस्य शुद्धात्मस्वरूपनिष्ठस्य मनश्चित्तं ध्याने धर्मशुक्लरूपे निर्विकल्पसमाधिलक्षणे वा विलीयते विलयं विनाशं याति यतश्चिद्रूपे स्थितं लग्नं मनोऽवश्यमेव विलीयते। अतएव परात्मनि स्थितिं न करोति। यदुक्तम्-

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वातमंतमुपयाति तद्बहिः।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले॥

किमिव ध्याने चित्तं विलीयत इति पृष्टे प्राह। **लवणव्व सलिलजोए** लवणमिव सलिलयोगे सलिलेन योगः सलिलयोगस्तस्मिन् सलिलयोगे। यथा लवणं पयोयोगमासाद्य सद्यो विलीयते तथा यस्य चित्तं शुद्धात्मयोगे विलयमुपढौकते तस्य चिदानंदोवश्यं प्राकट्यमुपगच्छति। **अस्मिंश्चात्मनि अनुभवमुपयाते** द्वैतं न प्रतिभाति। यदुक्तम्-

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्ये धाम्नि सर्वंकषेस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥

जाता है उस समय वह मन अवश्य ही संकल्प-विकल्पों से रहित हो जाता है, मन का विलय हो जाता है। इसलिए वह मन पर-पदार्थ में स्थिति नहीं करता है, परपदार्थ के चिन्तन में नहीं जाता है। सो ही कहा है-

निश्चय से यह मन जब परमात्मा में स्थित होता है तब अंत को प्राप्त हो जाता है, मर जाता है। किन्तु यह मन, परमात्मा के चिंतन को छोड़कर निरंतर बाह्य में भ्रमण करता रहता है, क्योंकि इस भूतल पर मरने से कौन नहीं डरता, सभी डरते हैं।

ध्यान में चित्त किस प्रकार विलीन होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं- जिस प्रकार नमक की डली पानी का संयोग पाकर पानी रूप हो जाती है, पानी और नमक पृथक्-पृथक् नहीं रहते हैं, उसी प्रकार जिसका चित्त शुद्धात्मा के उपयोग में लीन होता है तब वह आत्म-स्वरूप हो जाता है, तब ध्यान और ध्याता का भेद नहीं रहता है। जिसका मन विलीन होता है, निर्विकल्प समाधि में लीन उस योगी को चिदानन्द अवश्य प्रकट होता है। इस चिदानन्द आत्मा का अनुभव आ जानेपर द्वैत भाव नहीं रहता है, ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प नहीं रहता है। सो ही **समयसार कलश** में **अमृतचन्द्र आचार्य** ने कहा है-

सारे भेदों को गौण करने वाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य, चमत्कार मात्र, तेजपुंज, शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर नयश्री का उदय नहीं होता है, प्रमाण अस्त हो जाता है, निक्षेप कहाँ चले जाते हैं हम नहीं जान सकते, इससे अधिक क्या कहें ? शुद्धात्मा का अनुभव आने पर द्वैत प्रतिभासित ही नहीं होता है अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभव में प्रमाण, नय, निक्षेप का अनुभव नहीं आता है, सारे विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

किंविशिष्टः आत्मानलः। **सुहासुहडहणो** नरेंद्रसुरेंद्रफणीन्द्रसाम्राज्योदयहेतुः शुभकर्म नारकादिदुःखकारणमशुभकर्म शुभं च अशुभं च शुभाशुभे तयोर्दहनः शुभाशुभकर्मेंधनसंघातप्लोषकारक इत्यर्थः ॥८४॥

स्वात्मोत्थपरमानंदसुधासिंधौ निमग्ने मनसि आत्मैव परमात्मा भवतीत्यावेदयति-

उव्वसिए मणगेहे णट्ठे णीसेसकरणवावारे।
विप्फुरिए ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥८५॥

उद्वसिते मनोगेहे नष्टे निःशेषकरणव्यापारे।
विस्फुरिते स्वसद्भावे आत्मा परमात्मा भवति ॥८५॥

अप्पा परमप्पओ हवइ भवति संजायते। कोसौ। आत्मा शरीराधिष्ठानो जीवः। कथंभूतो भवति। परमात्मा भवति। यदुक्तम्-

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुम्॥

कस्मिन् सति आत्मा परमात्मा भवतीत्याह। **उव्वसिए मणगेहे** मनोंतरंगं तदेव गेहं तस्मिन् मनोगेहे उद्वसिते सति विनष्टे सति सर्वविषयव्यापारेभ्यः पराङ्मुखतामागते सति। मनसो विनाशकरणं परमात्मध्यानमेव। न केवलं उद्वसिते मनोगेहे। **णट्ठे णीसेसकरणवावारे** नष्टे निःशेषकरणव्यापारे करणानामिंद्रियाणां

जिस समय मनरूपी ज्ञानधारा शुद्धात्मा में लीन होती है यानी मन संकल्प-विकल्पों से रहित हो जाता है तब धरणेन्द्र, सुरेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की सामग्री के कारणभूत शुभ कर्म और तिर्यंच, नरक, कुमानुष वा शारीरिक मानसिक पीड़ाजन्य अशुभ कर्म ईंधन को जलाने में समर्थ आत्मारूपी (शुद्धात्मा के ध्यान रूप) अग्नि उत्पन्न होती है अर्थात् सारे कर्मों का नाश करने में शुद्धोपयोग ही समर्थ है ॥८४॥

स्वात्मा से उत्पन्न परमानन्द रूपी अमृतसागर में निमग्न हुए मन में आत्मा ही परमात्मा हो जाता है, ऐसा कथन करते हैं-

सम्पूर्ण इन्द्रिय व्यापार के नष्ट हो जानेपर, मनरूपी घर के उजड़ जाने पर यानी संकल्प-विकल्प से रहित हो जाने पर और स्व-सद्भाव के स्फुरायमान हो जाने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है ॥८५॥

"शरीरस्थ जीव (आत्मा) की उपासना करके परमात्मा बन जाता है। सो ही कहा है- जैसे वृक्ष का मथन करने पर वृक्ष से अग्नि उत्पन्न होती है अर्थात् जैसे वृक्ष की उपासना से वृक्ष ही अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की उपासना करके आत्मा ही परमात्मा हो जाता है अतः आत्मा ही आत्मा के द्वारा उपासना करने योग्य है।

अंतरंग मानसिक संकल्प-विकल्प के नष्ट हो जाने पर अर्थात् सर्व विषय व्यापार से मन के विमुख हो जाने पर, स्पर्शन आदि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से व्यावर्त्त होकर शान्त हो जाने पर आत्मा परमात्मा बन

व्यापार: स्वस्वविषयेषु प्रवर्तनं करण-व्यापार: नि:शेषश्चासौ करणव्यापारश्च नि:शेषकरणव्यापारस्तस्मिन् नि:शेषकरणव्यापारे नष्टे सति परं करणव्यापारं बहिरात्मा धारयितुं न शक्नोति किंतु तत्रैव रमते। यदुक्तं-

न तदस्तींद्रियार्थेषु यत्क्षेमंकरमात्मन:।
तथापि रमते बलस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥

ततश्च हृषीकेषु विजितेष्ववश्यं परात्मतत्त्वमाविर्भवति। यदुक्तम्-

संहृतेषु स्वमनोगजेषु यद्भाति तत्त्वममलात्मन: परम्।
तद्गतं परमनिस्तरंगतामग्निरुग्र इह जन्मकानने॥

ततश्च मनसि विनष्टे हृषीगणे प्रहतप्रसरे स्वस्वभावे विस्फुरिते आत्मैव परमात्मा भवतीति समुदायार्थ:॥८५॥

शून्यं ध्यानं विदधानस्य धातु: सकलकर्मविप्रमोक्षो भवतीत्याह-

इयएरिसम्मि सुण्णे झाणे झाणिस्स वट्टमाणस्स।
चिरबद्धाण विणासो हवइ सकम्माण सव्वाणं॥८६॥

इत्येतादृशे शून्ये ध्याने ध्यानिनो वर्तमानस्य।
चिरबद्धानां विनाशो भवति स्वकर्मणां सर्वेषाम्॥८६॥

जाता है। बहिरात्मा इन्द्रियव्यापार को रोकने में समर्थ नहीं है। वह तो इन्द्रियविषयों में ही रमण करता है। सो ही **पूज्यपाद स्वामी** ने **समाधिशतक** में कहा है-

"इन्द्रियजन्य विषयों में आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं है फिर भी बाल (मूर्ख, बहिरात्मा) अज्ञान भाव से उन्हीं पंचेन्द्रिय विषयों में रमण करते हैं।"

इसलिए पंचेन्द्रिय-विषयों को जीत लेने पर अवश्य ही परमात्म तत्त्व का आविर्भाव होता है। सो ही कहा है-

स्वकीय मन रूपी हाथी के वश हो जाने पर निर्मल परम आत्म तत्त्व (स्वरूप) का प्रादुर्भाव होता है और परम आत्मतत्त्वगत परम निस्तरंग (निश्चल) उग्र अग्नि ही इस संसार वा जन्मवन को जलाती है, संसार का नाश करती है। अर्थात् मन को वश में करने से संसार का नाश होता है।

मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर इन्द्रियों का प्रसार रुक जाता है। इन्द्रियों का प्रसार नष्ट हो जाने पर स्वस्वभाव स्फुरायमान होता है और स्वस्वभाव के स्फुरायमान हो जाने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, ऐसा समझना चाहिए॥८५॥

शून्य ध्यान को धारण करने वाले धातु (आत्मा) के सकल कर्मों का नाश रूप मोक्ष होता है, सो कहते हैं-

इस प्रकार शून्यध्यान में स्थित योगी के चिर काल के बँधे हुए सर्व स्वकर्मों का विनाश हो जाता है॥८६॥

हवइ भवति जायते। **कोसौ**। **विणासो** विनाशो विलयः। केषां। **सव्वाणं सकम्माणं** सर्वेषां मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानां स्वकर्मणां ज्ञानावरणादीनां। कस्य कर्मणां विनाशो भवतीत्याह। **झाणिस्स** ध्यानिनो योगिनः। कथम्भूतस्य योगिनः। **इयएरिसम्मि सुण्णे झाणे वट्टमाणस्स** इति प्रागुक्तप्रकारेण एतादृशे शून्ये ध्याने निर्विकल्पसमाधिलक्षणे प्रवर्तमानस्य। एतादृशे ध्याने प्रतिष्ठितस्य योगिनः कर्मक्षयो भवतीति निःसंशयः। तथाहि-योगिनोऽयं योगकल्पतरुर्वांछितं फलं तदा फलति यदा मनोगजेन नोत्पाटितो भवेत्। यदुक्तं-

चित्तमत्तकरिणा नचेद्भतो दुष्टबोधवनवह्निनाऽथवा।
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वांछितं फलति मोक्षमत्फलम्॥

ततोवश्यं योगिना मनोगजाद्योगकल्पतरुर्यत्नेन रक्षणीय इति भावार्थः॥८६॥

निःशेषकर्मविनाशे सति कीदृश फल भवतात्यावेदयंति-

णीसेसकम्मणासे पयडेइ अणंतणाणचउखंधं।
अण्णेवि गुणा य तहा झाणस्स ण दुल्लहं किंपि॥८७॥

निःशेषकर्मनाशे प्रकटयत्यनंतज्ञानचतुःस्कंधं।
अन्येपि गुणाश्च तथा ध्यानस्य न दुर्लभं किंचिदपि॥८७॥

इस प्रकार उपर्युक्त निर्विकल्प समाधिलक्षण शून्य ध्यान में स्थित (प्रतिष्ठित) योगी के, क्षपक के स्वकीय रागद्वेष भावों से उपार्जित मूल उत्तर प्रकृति से भिन्न (वा द्रव्य-भाव रूप) सर्व कर्मों का विनाश हो जाता है; इसमें संशय नहीं है।

तथाहि, योगियों के यह योग रूपी कल्पवृक्ष तब मनोवांछित फल देता है जब मन रूपी हाथी के द्वारा योग रूपी कल्पवृक्ष उखाड़ा नहीं जाता है। सो ही कहा है-

"यदि मनरूपी मदोन्मत्त हाथी के द्वारा अथवा दुष्ट (मिथ्या) ज्ञान रूपी वन अग्नि के द्वारा यह योग रूपी कल्पवृक्ष नष्ट नहीं किया गया है, नहीं जलाया गया है तो निश्चय से यह योग रूपी (संन्यास रूपी) वृक्ष वांछित मोक्ष रूपी महाफल देता है।"

इसलिए योगिजनों को मन रूपी हाथी से यत्नपूर्वक योगरूप कल्पवृक्ष की रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् संयम रूपी कल्पवृक्ष के विनाशक मन रूपी हाथी को वश में करना चाहिए॥८६॥

सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर क्या फल प्राप्त होता है? उसका कथन करते हैं-

"शून्य ध्यान के द्वारा सारे कर्मों का नाश हो जाने पर अनन्त ज्ञानादि चतुःस्कन्ध और अन्य भी गुण प्रकट होते हैं, क्योंकि ध्यान से कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है अर्थात् ध्यान के द्वारा सर्व मनोवांछित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं॥८७॥

पयडेइ प्रकटीभवति। किं तत्। **अणंतणाणचउखंधं** अनंतज्ञानादीनां चतुःस्कंधं अनंतज्ञानचतुःस्कंधं अनंतविज्ञानानंतवीर्यतानंतसौख्यत्वानंतदर्शनलक्षणं। कदा तदेतच्चतुष्टयं प्रकटीभवति। **णीसेसकम्मणासे** निःशेषाणि यानि कर्माणि निःशेषकर्माणि तेषां नाशः निःशेषकर्मनाशस्तस्मिन् निशेषकर्मनाशे सति। न केवलमनंतज्ञानचतुःस्कंधं प्रकटीभवति। **अण्णेवि गुणा य तहा** तथा तेनैव प्रकारेण अन्येपि अपरे गुणाः सूक्ष्मत्वाव्याबाधादयोऽनंतगुणाः प्रकटीभवन्ति तत्तत्कर्मक्षयात्ते ते गुणाः प्रकृष्टाः खलु जायंते। तद्यथा-

दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्,
वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः।
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रेण गोत्रं विना,
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षयम्॥

यैर्दुःखानि समाप्नुवंति विधिवज्जानंति पश्यंति नो
वीर्यं नैव निजं भजंत्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्तै सदा
सिद्धानंतचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम्॥

निर्विकल्प ध्यान के बल से आत्मा के ज्ञानावरणादि आठ कर्म अथवा द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म रूप सारे कर्मों का नाश हो जाने पर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य चतुस्कन्ध रूप गुण प्रकट होते हैं तथा कर्मों का क्षय हो जाने पर केवल अनन्त ज्ञानादि गुण ही प्रकट नहीं होते अपितु अन्य सूक्ष्मत्व, अव्याबाधत्व आदि अनन्त गुण प्रकट होते हैं। जैसे - ज्ञानावरण का नाश होने से अनन्त ज्ञान की प्राप्ति होती है, दर्शनावरण का क्षय होने पर अनन्त दर्शन का आविर्भाव होता है। मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख उत्पन्न होता है। अन्तराय कर्म के विनाश से अनन्त वीर्य उत्पन्न होता है। नाम कर्म का क्षय हो जाने से अमूर्तित्व गुण का प्रादुर्भाव होता है। आयु के नाश के वश से जन्म-मरण नहीं होता है, गोत्र के नाश से ऊँच-नीच के अभाव रूप अगुरुलघु गुण प्रकट होता है और वेदनीय कर्म के नाश से सिद्धों को दुःख नहीं होता अपितु अक्षय सुख होता है।

कर्माधीन होकर जो-जो दुःख हमने भोगे हैं उन सब को जानते-देखते हैं। संसार में रहने वाले संसारी प्राणी स्वकीय वीर्य को नहीं जानते हैं, अपनी शक्ति का अनुभव नहीं कर रहे हैं।

"जिन जीवों ने महान् योग के द्वारा कर्मों का नाश किया है, वे सदा के लिए सिद्धों के अनन्त चतुष्टय रूपी अमृत नदी के स्वामी क्यों नहीं होंगे अवश्य ही होंगे, अर्थात् जिन्होंने योग के द्वारा, निर्विकल्प समाधि के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर दिया है वे निश्चय से एक साथ तीन लोक को जानते-देखते हैं और अनन्त ज्ञानादिक अनन्त चतुष्टय के भोक्ता बनते हैं।"

एवं समस्तकर्मक्षये सति ध्यानमाहात्म्यादेवाप्रसिद्धत्वस्य जीवस्य अनंत-गुणाः प्रकटीभवंति ततः प्राह-**झाणस्स ण दुल्लहं किंपि** ध्यानस्य दुर्लभं न किंचिदिति किंतु ध्यानमाहात्म्यात्सर्वं सुलभमिति। अथवा एवं व्याख्या। अनुक्तमपि ध्यानपदमस्यां गाथायामत्यूह्यं। ध्यानं कर्तृ ध्यानिनो योगिनः अनंतज्ञानचतुःस्कंधं **पयडेइ** प्रकटयेत् अनंतज्ञान-चतुःस्कंधमिति कर्मपदं **अण्णेवि गुणा य तहा** तथा अन्यानपि गुणान् प्रकटयेत् अत एव ध्यानस्य दुर्लभं किंचिन्नास्ति॥८७॥

कर्मकलंकमुक्तः खल्वयमात्मा निरवशेषं लोकालोकं परिच्छिनत्तीत्यावेदयति-

जाणइ पस्सइ सव्वं लोयालोयं च दव्वगुणजुत्तं।
एयसमयस्स मज्झे सिद्धो सुद्धो सहावत्थो॥८८॥

जानाति पश्यति सर्वं लोकालोकं च द्रव्यगुणयुक्तं।
एकसमयस्य मध्ये सिद्धः शुद्धः स्वभावस्थः॥८८॥

जाणइ जानाति परिच्छिनत्ति वेत्ति तथा **पस्सइ** पश्यति विलोकयति। कोसौ। सिद्धः व्यक्तिरूपः परमात्मा। किं जानाति पश्यतीत्याह। **लोयालोयं च** लोक्यंते विलोक्यंते जीवादयः पदार्था यस्मिन् स लोकस्तद्विपरीतोऽलोकः लोकश्च अलोकश्च लोकालोकस्तं सर्वं निरवशेषं। कथंभूतं लोकालोकं। **दव्वगुणजुत्तं** द्रव्यगुणयुक्तं द्रव्यपर्यायसंयुक्तं द्रव्याणि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालाः, द्रव्यगुणाः

इस प्रकार ध्यान के माहात्म्य से समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अप्रसिद्ध जीव के अनन्त गुण प्रकट होते हैं। क्योंकि ध्यान से कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है, ध्यान के माहात्म्य से सारी वस्तुयें सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं।

इस गाथा में ध्यान शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु प्रकरणवश ऊपर से ध्यान शब्द का प्रयोग होता है।

सारांश यह है कि निर्विकल्प ध्यान के बल से सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा में अनन्तगुण प्रकट होते हैं। अतः हे क्षपक ! मन को स्थिर करके आत्मध्यान करने का प्रयत्न करो॥८७॥

कर्मकलंक से मुक्त आत्मा सारे लोक-अलोक को जानता-देखता है, सो कहते हैं-

स्वकीय शुद्ध स्वभाव में स्थित सिद्ध भगवान एक समय में लोकाकाश और अलोकाकाश को तथा लोकाकाश में स्थित सर्व द्रव्यों और उनकी गुण-पर्यायों को एक साथ जानते और देखते हैं॥८८॥

जिसमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और जहाँ केवल शुद्ध आकाश ही है, अन्य द्रव्य नहीं हैं उसे अलोकाकाश कहते हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं।

जीव का गुण चेतना वा ज्ञान-दर्शन है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण हैं वह **पुद्गल** है अर्थात् रूप, रस आदि पुद्गल के गुण हैं।

गति परिणत जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी होना **धर्म द्रव्य** का लक्षण है (गुण है)। ठहरते हुए जीव और पुद्गल के ठहरने में सहकारी कारण **अधर्म द्रव्य** है।

ज्ञानवर्णादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनालक्षणाः, द्रव्यपर्यायाः नृत्वदेवत्वादिद्व्यणुकद्वित्रिगुणादि धर्माधर्मयो-र्लोकाकाशस्य शुद्धपर्याय एवाकाशस्य घटाकाशपटाकाशादिः कालस्य समयादिलक्षणा तैर्द्रव्यगुणपर्यायैर्युक्तमित्यर्थः। कथं जानाति। **एयसमयस्स मज्झे** एकस्य समयस्य मध्ये एकसमयमध्ये सूर्यस्य प्रतापप्रकाशवत्। यथा किल सूर्यस्य प्रतापप्रकाशावेकस्मिन्नेव समये उत्पद्येते तथा वास्य शुद्धात्मनः सर्वस्यापि सावयवद्रव्यस्य ज्ञातृत्वं दर्शनित्वं चैकस्मिन्नेव समये संभवः छद्मस्थानां तु यथाक्रमेण। किं विशिष्टः सिद्धः। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मादिपरित्यक्तः। पुनः किं विशिष्टः। स्वभावस्थः स्वभावे चिदानंदात्मके तिष्ठतीति स्वभावस्थः। जानाति पश्यतीत्युक्त्वा ज्ञानदर्शन-गुणद्वयं सिद्धात्मनः प्रकाशितं। यदुक्तम्-

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यंतिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यचलनं मुक्त्यार्थिनां मानसे।

छहों द्रव्यों को ठहरने के लिए स्थान-अवगाहन देना **आकाश** का गुण है।

प्रत्येक द्रव्य के परिवर्तन में निमित्त **काल** द्रव्य है। वा वर्त्तना जिसका लक्षण है वह काल द्रव्य है। मानव, देव, नारकी, तिर्यंच आदि जीव की अशुद्ध पर्याय है और सिद्ध पर्याय शुद्ध पर्याय। दो अणु, तीन अणु आदि असंख्यात अणुओं का स्कन्ध पुद्गल की पर्यायें हैं।

घटाकार, पटाकार आदि आकार रूप होना आकाश की पर्याय है।

समय, आवली, श्वासोच्छ्वास, मिनट, महीना आदि काल की पर्याय हैं। प्रतिक्षण परिवर्त्तन होना काल द्रव्य की पर्याय है। इस प्रकार छहों द्रव्यों की गुण-पर्यायों को सिद्ध भगवान एक समय में जानते और देखते है।

जिस प्रकार सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक ही समय में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेष आदि भावकर्म और शरीर आदि नोकर्म से रहित व्यक्ति रूप कार्य-समयसार सिद्धात्मा सारे द्रव्यों और उनकी गुण एवं पर्यायों को एक समय में जानते और देखते हैं। यद्यपि छद्मस्थ जीव प्रथम समय में देखते हैं और दूसरे समय में जानते हैं, परन्तु सिद्ध भगवान के दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग दोनों एक साथ होते हैं।

सिद्धभगवान चिदानन्दात्मक अपने स्वभाव में स्थित हैं, इसलिए वे स्वभावस्थ कहलाते हैं। सिद्ध भगवान दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोगमय हैं इसलिए वे ज्ञाता द्रष्टा हैं। कहा भी है-

सिद्ध भगवान सारे पदार्थों को जानते हैं, देखते हैं, स्वात्मोत्पन्न आत्यन्तिक सुख को भोगते हैं, व्यय और उत्पाद युक्त होते हुए भी अचल हैं। मुक्ति के इच्छुक मानवों के मन में निरन्तर एकीभूत होकर निवास

एकीभूतमिदं वसत्यविरतिं संसारभारोज्झितं
शांतं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥

तथा ज्ञानादिगुणकथनेन ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मेति सांख्यमतं बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान् इति यौगमतं च प्रत्युक्तम् ॥८८॥

सिद्धात्मानंतकालं यावदनंतसुखमनुभवतीत्याह-

कालमणंतं जीवो अणुहवइ सहावसंभवं सुक्खं।
इंदियविसयातीदं अणोवमं देहपरिमुक्को ॥८९॥

कालमनंतं जीवोऽनुभवति स्वभावसंभवं सौख्यम्।
इंद्रियविषयातीतं अनुपमं देहपरिमुक्तः ॥८९॥

अणुहवइ अनुभवति। कोसौ। ज्ञानकमलाघनाश्लेषलालसः **सिद्धजीवः**। कां कर्मतामापन्नामनुभवति। **सहावसुक्खसंभूइं** स्वभावसुखसंमूर्तिं स्वभावात् आत्मस्वभावात् यत् संभूतं सुखं अनंतसुखं तस्य संभूतिर्विभूतिर्लक्ष्मीः स्वभावसुखसंभूतिः तां स्वभावसुखसंभूतिं। अथवा स्वभावतो निसर्गतो या सुखसंभूतिः स्वभावसुखसंभूतिस्तां। किं विशिष्टां स्वभावसुखसंभूतिं। **इंदियविसयातीदं** इंद्रियविषयातीतं इंद्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि तेषां विषयाः स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदतीतं इंद्रियविषयातीतं विषयविरहितामित्यर्थः। पुनः कथंभूतां। अनुपमां उपमारहितां। **कथं** यावदनुभवति। **कालमणंतं** अनंतकालपर्यंतमित्यर्थः। कीदृशः सिद्धः।

करते हैं अर्थात् मोक्ष के इच्छुक सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा सिद्ध परमात्मा का निरन्तर ध्यान करते हैं। जो संसार से रहित है, शांत है, जीवघन है (आत्मप्रदेशों से युक्त है), द्वितीय रहित है अर्थात् कर्मों की संगति से रहित एक शुद्धात्मा है, ऐसा मुक्तात्मा का स्वरूप महातेजस्वरूप है।

इस गाथा में सिद्ध भगवान ज्ञानादि गुणों से युक्त हैं, इस कथन से ज्ञानशून्य चेतन मात्र हैं ऐसा कथन करने वाले **सांख्य मत** का खण्डन किया है तथा बुद्धि आदि गुणों से रहित आत्मा है, सिद्धावस्था में ऐसा कथन करने वाले **योग मत** का खण्डन किया है ॥८८॥

सिद्ध भगवान अनन्त काल तक अनन्त सुखों का अनुभव करते हैं, सो कहते हैं-

देहरहित सिद्ध भगवान अनन्त काल तक इन्द्रियजन्य विषयों से रहित, अनुपम, स्वभाव से उत्पन्न सुख का अनुभव करते हैं ॥८९॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं, सिद्ध भगवान पाँचों प्रकार के शरीर से रहित हैं। इसलिए देह परिमुक्त हैं, वे सिद्ध भगवान आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी समुद्र में लीन हैं, सदातृप्त हैं और लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, ज्ञानरूपी लक्ष्मी का घन आलिंगन करने में है लालसा जिनकी ऐसे सिद्ध भगवान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों से रहित, स्वस्वभाव से उत्पन्न अनुपम सुख का अनन्त काल तक अनुभव करते हैं। सो ही कहा है-

देहपरिमुक्को देहा औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि **तैः** परिमुक्तः रहितः देहपरिमुक्तः आत्मोत्थसुखांबुधिगताः सिद्धाः सदैव तृप्ता लोकाग्रनिवासिनस्तिष्ठंति। यदुक्तम्-

येषां कर्मनिदानजन्मविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधय-
स्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छांतये युज्यते।
सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभि-
र्नित्यात्मोत्थसुखामृतांबुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम्॥

इति सिद्धगतिसाधिकामाराधनां विज्ञाय क्षपकस्त्रिगुप्तिगुप्तो भूत्वा आराधयतु सावधानतयेति निदर्शयति-

इय एवं णाऊणं आराहउ पवयणस्स जं सारं।
आराहणचउखंधं खवओ संसारमोक्खट्ठं॥९०॥

इति एवं ज्ञात्वा आराधयतु प्रवचनस्य यत्सारं।
आराधनाचतुःस्कन्धं क्षपकः संसारमोक्षार्थम्॥९०॥

आराहउ आराधयतु। कोसौ **खवओ** क्षपकः। किमाराधयतु। **आराहणचउखंधं** चतुर्णां स्कंधानां समाहारश्चतुःस्कंधं दर्शनचारित्रतपो-लक्षणं आराधनायाश्चतुःस्कंधं आराधनाचतुःस्कंधं। किंकृत्वा आराधनोतु। **इय एवं णाऊणं** इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण आराधनाधीनांतःकरणः प्राणी आराधनाप्रवहणेन विविधतरदुःखभरवारिपूरपूर्णं दुरंतदुर्गतिवडवानलवातुलज्वाला-जालकरालं विविधदुःसाध्यव्याधिम-कराकीर्णमध्यं विकटक्रोधविटपिव्याप्त-विपुलपुलिनं निष्ठुराहंकारनक्रचक्रोच्छलनभीषणं मायामीनालिकुलाकुलं

जिन जीवों के कर्मों के कारण से होने वाली जन्मादि तथा विविध प्रकार की भूख-प्यास-प्रमुख व्याधियाँ हैं, उनकी उन व्याधियों को शांत करने के लिए अन्न, जल आदि औषधियों का प्रयोग किया जाता है परन्तु सिद्धों के कर्म और कर्मकृत रोग नहीं हैं। इसलिए उनको अन्नादि से क्या प्रयोजन है, वे सिद्ध भगवान निरंतर नित्य आत्मस्वभाव से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के सागर में लीन रहते हैं और वे ही ध्रुव सदा तृप्त हैं॥८९॥

इस प्रकार सिद्ध गति की साधिका आराधना का कथन करके क्षपक को तीन गुप्ति में लीन होकर सावधानी से ज्ञानादि की आराधना करनी चाहिए, इसका निर्देशन करते हैं-

इस प्रकार जानकर क्षपक को संसार का विनाश करने के लिए प्रवचन की सारभूत आराधना-चतुःस्कन्ध की आराधना करनी चाहिए॥९०॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना के आधीन अंतःकरण वाले क्षपक प्राणी आराधना के प्रवाह से विविधतर दुःख रूपी जल से परिपूर्ण, दुरंत दुर्गति रूप बड़वानल की उठती हुई ज्वाला के समूह से व्याप्त विविध प्रकार के रोग रूप महामगर मच्छ से व्याप्त हैं मध्य जिसका, भयंकर क्रोध रूपी वृक्षों से व्याप्त है बड़े-बडे विस्तृत पुलिन जिसके, अत्यन्त क्रूर अहंकार रूपी नक्र चक्र के उछलने से भीषण,

समुल्लसल्लोभशैवालसमन्वितं संसारसमुद्रमलब्धमध्यमुत्तीर्य मोक्षपुराविनश्वर-सुखमाराधनाफलभूतमवाप्नोतीति। विज्ञाय कथंभूतं यत् आराधनाचतुःस्कन्धं-**पवयणस्स जं सारं** प्रवचनस्य आगमस्य सिद्धांतस्य द्वादशांगभेदभिन्नस्य **श्रुतस्य** यत् सारं रहस्यभूतं। किमर्थमाराधयतु। **संसारमोक्खट्ठं** पंच-प्रकारसंसारमोक्षार्थं भवविनाशार्थमिति॥९०॥

यैर्मोक्षणोर्थः स्वसात्कृतस्तत्प्रशंसामाह-

धण्णा ते भयवंता अवसाणे सव्वसंगपरिचाए।
काऊण उत्तमट्ठं सुसाहियं णाणवंतेहिं॥९१॥

धन्यास्ते भगवंतः अवसाने सर्वसंगपरित्यागं।
कृत्वा उत्तमार्थं सुसाधितं ज्ञानवद्भिः॥९१॥

णाणवंतेहिं यैः ज्ञानवद्भिः ज्ञानं विद्यते येषां ते ज्ञानवंतः तैः ज्ञानवद्भिः विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मज्ञानसंपन्नैः परमात्मज्ञानिनश्च संसारे त्रिचतुराः संति। यदुक्तं-

---

माया रूपी मछली के कुल (समूह) से आकुलित, समुल्लसत् लोभ रूप शैवाल से युक्त, नहीं प्राप्त है मध्य जिसका (अपार) ऐसे संसार समुद्र को पार कर आराधना फलभूत, मोक्षपुर के अविनाशी सुख को प्राप्त करता है, ऐसा जान कर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकार के संसार का नाश करने के लिए द्वादशांग भेद भिन्न सिद्धान्त श्रुत की सारभूत चार प्रकार की आराधना की हे क्षपक ! आराधना करनी चाहिए। अर्थात् हे क्षपक ! चार प्रकार की आराधना ही श्रुत का सार है, यही संसार समुद्र से पार करने वाली है और यही संसार का नाश कर अविनाशी मोक्षसुख को देने वाली है, अतः हे क्षपक ! मन वचन कायसे चार प्रकार की आराधना की आराधना करो। इसी आराधना में मग्न हो। इसी शीतल जल की वापिका में अवगाहन कर संसार ताप को दूर करने का प्रयत्न करो॥९०॥

जिन महापुरुषों ने मोक्ष के लिए इन आराधनाओं को आत्मसात् किया है उनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य कहते हैं-

जिन ज्ञानियों ने अन्तसमय में सारे परिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध किया है वे ही जगत्-पूज्य महापुरुष धन्य हैं॥९१॥

ज्ञान, जिनमें पाया जाता है, वे ज्ञानवान कहलाते हैं परन्तु ज्ञान के बिना कोई भी जीव नहीं है, यहाँ पर विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव परमात्मज्ञान से सम्पन्न को ज्ञान कहा है और परमात्मज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी संसार में तीन चार ही प्राप्त हो सकते हैं। सो ही कहा है-

विद्यंते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः
प्राप्यंते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः क्वचित्।
आत्मज्ञाः परमात्ममोदसुखिनः प्रोन्मीलदंतर्दृशो,
द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचषा दुर्लभाः॥

इति यैर्ज्ञानवद्भिः। किं कृतं। **सुसाहियं** सुसाधितं स्वात्मसात्कृतं। किं तत्। **उत्तमट्ठं** उत्तमार्थं मोक्षलक्षणपदार्थः। किंकृत्वा। **काऊण** कृत्वा। किं। **सव्वसंगपरिचाए** सर्वसंगपरित्यागं सर्वः स चासौ संगश्च सर्वसंगः बाह्याभ्यंतरपरिग्रहलक्षणस्तस्य परित्यागस्तं सर्वसंगपरित्यागं विधाय। कदा। **अवसाणे** अवसाने आयुःप्रांते अथवा अवसानमित्युपलक्षणं तेन बालकावस्थायां तरुणावस्थायां वृद्धावस्थायामपि सर्वसंगपरित्यागं विधाय उत्तमार्थः साधितः। सर्वसंगपरित्यागश्चानया रीत्या कृतः पुरातनैराधुनिकैश्च कर्तव्य इति तद्रीतिमाह। उक्तं च-

स्नेहं वैरं संघं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्॥

"आत्मज्ञान से विमुख संशयालु संसारी प्राणी कितने नहीं हैं अर्थात् सभी संसारी प्राणी आत्मज्ञान से पराङ्मुख हैं। आत्मज्ञान के जिज्ञासु पुनः क्वचित् (कहीं पर) कदाचित् (किसी काल में) कतिचित् (कुछ) प्राप्त होते हैं। उघड़ गए हैं अन्तरंग नेत्र जिनके ऐसे परमात्म आनन्द से सुखी आत्मज्ञ संसार में दो, तीन होते हैं, बहुत हो तो तीन, चार होते हैं। वे आत्मज्ञानी पाँच, छह तो अत्यन्त दुर्लभ हैं।"

परात्मज्ञानसम्पन्न जिन ज्ञानियों ने आयु के अन्त (मरण समय) में सर्व परिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध किया है, वे ही जगत् में धन्य हैं। यहाँ पर आयु का अवसान यह उपलक्षण मात्र है अतः बालक अवस्था, तरुण अवस्था और वृद्धावस्था में भी सर्वपरिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध करते हैं। पुरातन पुरुषों ने सर्व परिग्रह का त्याग इस रीति (विधि) से किया है, आधुनिकों को भी परिग्रह का त्याग करना चाहिए। उसकी विधि का कथन करते हैं। **समन्तभद्राचार्य** ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में कहा है-

सल्लेखना धारण करने के इच्छुक मानव को सर्व प्रथम हर्ष-विषाद का त्याग करना चाहिए। अर्थात् अनुकूल शीत, उष्ण आदि में हर्ष और प्रतिकूल पदार्थों में विषाद नहीं करना चाहिए क्योंकि हर्ष-विषाद ही समाधि के घातक हैं।

सल्लेखना धारण करने के लिए स्नेह, वैर, संघ, परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन से प्रिय वचनों से कुटुम्बी जनों से और परिजनों आदि से क्षमा कराकर उनको क्षमा करे। छल-कपट रहित सरल शुद्ध भावों से कृत-कारित-अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापों की गुरु समक्ष आलोचना करके मरणपर्यन्त पाँचों पापों का त्याग कर महाव्रत धारण करे।

आलोचनाविधिश्चायं-

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैःकर्ममवलंबे॥

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे॥

अमृतचन्द्राचार्य ने भी **समयसार कलश** में आलोचना विधि इस प्रकार लिखी है-

"अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी सभी कर्मों का कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन काय से त्यागकर (छोड़कर) उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हूँ। (ऐसी प्रतिज्ञा करता है)। (यह **प्रत्याख्यान** है।)

मैंने मोह से वा अज्ञान से जो कर्म किये हैं, उन सारे कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (कर्मों से रहित) चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा में नित्य अपनी आत्मा के द्वारा प्रवृत्ति करता हूँ। अर्थात् परप्रवृत्ति को छोड़कर स्वकीय शुद्धात्मा का अनुभव करता हूँ। (यह प्रतिक्रमण है)।

क्षपक अपने मन में विचार करता है कि मोह की विलासवृद्धि को प्राप्त हुआ मैं उदयमान कर्म की आलोचना करके अपनी आत्मा (निजशक्ति) के द्वारा निष्कर्म चैतन्य स्वरूप निजात्मा में ही निरन्तर प्रवृत्ति करता हूँ। (यह आलोचना विधि है।)

प्रत्याख्यान करने वाला विचार करता है कि भविष्य काल में होने वाले सारे कर्मों का (कर्मागमन में कारणभूत सारे भावों का) प्रत्याख्यान (त्याग) करने से जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा निरन्तर प्रवृत्ति करता हूँ। अर्थात् हे क्षपक ! सारे आगामी काल में होने वाले विभाव भावों का त्याग कर निरन्तर आत्मस्वभाव में प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

पूर्वोक्त प्रकार से तीन काल सम्बन्धी सारे कर्मों को दूर करके शुद्धनयावलम्बी वीतमोह मैं सर्व विकारों से रहित होकर शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव।
संचेतयेहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्॥

इति। तदनु-

शोकं भयमवसादं क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः॥

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन॥

एवमुत्तमा गतिः साधिता ते कीदृशा इत्याह। **धण्णा ते भयवंता** धन्यास्ते भगवंतः ते पुरुषाः क्षपका **धन्याः** कृतपुण्याः तथा भगवंतः जगत्पूज्या इत्यर्थः॥९१॥

क्षपक निरन्तर विचार करता है कि हे भगवन्! कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जावें, मैं चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा का निश्चल रूप से संचेतन-अनुभव करता रहूँ, स्व-स्वभाव में लीन रहूँ।

क्षपक आजन्म महाव्रतों को धारण कर उपर्युक्त भावना के द्वारा अपने भावों को अपने स्वरूप में स्थिर करने का प्रयत्न करे।

स्व-परिणामों की विशुद्धि के लिए क्षपक को और क्या करना चाहिए? **रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्र आचार्य** ने कहा है-

शोक, भय, विषाद, राग, कलुषता और अरति का त्याग करके तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके संसार के दुःख रूपी संताप को दूर करने वाले श्रुतरूपी अमृत के पान से (शास्त्रश्रवण से) स्वकीय मन को प्रसन्न करे।

क्रम-क्रम से आहार (अन्न) का त्याग कर दूध और छाछ का प्रमाण बढ़ावे। फिर दुग्धादि स्निग्ध पदार्थों का त्याग करके रुक्ष कांजी आदि का सेवन करे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके शक्ति के अनुसार उपवास करे। पश्चात् णमोकार मंत्र का जप करते हुए प्रयत्नपूर्वक प्राणों का विसर्जन करे।

इस प्रकार जो भव्यात्मा उत्तम गति (समाधि) की साधना करते हैं, वे ही महापुरुष धन्य हैं, कृत-पुण्य हैं, जगत्पूज्य हैं और भगवान हैं॥९१॥

तीव्रवेदनाभिभूतः क्षपकः खल्वनयोक्त्या प्रोत्साह्यत इति शिक्षां प्रयच्छन्नाह-

धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणुसं भवं सारं।
कयसंजमेण लद्धं सण्णासे उत्तमं मरणं॥९२॥

धन्योसि त्वं सद्यशः लब्धा मानुषं भवं सारम्।
कृतसंयमेन लब्धं संन्यासे उत्तमं मरणं॥९२॥

भो **सुज्जस** शोभनं राकाशशांकधवलं यशो यस्य स सद्यशाः तस्य संबोधनं क्रियते भो सद्यशः भो क्षपक भो पुरुषोत्तम त्वं धन्योसि कृतपुण्योसि कृतकृत्योसि येन त्वया संन्यासे संन्यसनं संन्यासस्तस्मिन् संन्यासे संन्यासमाश्रित्य उत्तमं मरणं उत्तमानां पंचविधमरणानामन्यतमं यत्त्वया लब्धं प्राप्तं। किं कृत्वा पूर्वं। **लहिऊणं माणुसं भवं सारं** मानुष्यं भवं नृभवांतरं सारं समस्तभवांतरेषु सारभूतं लब्ध्वा संप्राप्य यो नृत्वं दुःप्राप्यं प्राप्य गृहिधर्ममाचरति स धन्यः। यः पुनः स्वात्माराधनपूर्वकं तपस्तपति तस्य पुनः किं वाच्यम्। यदुक्तं-

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो,
वैराग्यं च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानं समापीयते,
प्रासादे कलशास्तदा मणिमयैर्हेमैस्तदारोपितः॥

तीव्र वेदना से अभिभूत हुए क्षपक को निश्चय से इस युक्ति से प्रोत्साहित करते हुए, इस प्रकार शिक्षा देते हुए कहते हैं-

"हे क्षपक ! हे सुयश ! मानवभव के सार को प्राप्त कर तुमने कृतसंयम के द्वारा संन्यास में उत्तम मरण प्राप्त किया है, इसलिए तुम धन्य हो॥९२॥

हे क्षपक ! चन्द्रमा के समान निर्मल हे यशस्वी ! तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो, तुम पुरुषोत्तम हो, तुम कृतपुण्य हो, क्योंकि तुमने संन्यास का आश्रय लेकर उत्तम मरण (पंडित मरण) करने का प्रयत्न किया है।

हे क्षपक ! तुमने सारे भवान्तरों में (चौरासी लाख योनियों में) सारभूत, दुष्प्राप्य मानव भव को प्राप्त कर गृहस्थावस्था में निरतिचार व्रतों को पालन किया और तत्पश्चात् स्वात्मा की आराधनापूर्वक तप तप रहे हो, संन्यास धारण किया है, समाधिमरण करने में तत्पर हो अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो। तुम्हारी महिमा का कथन क्या करें! कहा भी है-

"जो भव्य प्राणी पवित्र कुल में जन्म और उत्कृष्ट शरीर प्राप्त कर तथा पूर्वोपार्जित पुण्य से श्रुत को जानकर तथा वैराग्य को प्राप्त कर पवित्र निर्दोष तप तपता है, लोक में वही एक पुण्यात्मा है। यदि वह गर्व को छोड़कर ध्यान में लीन होता है, अन्त में समाधिमरण करता है तो वह महल पर सुवर्णरचित और मणिजड़ित कलशों का आरोपण करता है अर्थात् सुवर्णमय महल पर मणिमय कलश चढ़ाता है।"

कथंभूतेन त्वया। **कयसंजमेण** संयमनं संयमः कृतः संयम इंद्रियमनःसंयमनं येन स कृतसंयमनस्तेन कृतसंयमनेन संयमं प्रतिपाल्य यत्त्वमेतादृशं संन्यासोत्तममरणमाप्तवानसि तत्त्वं धन्यतमोसि ॥९२॥

मनःकायोद्भवं दुःखं क्षपकस्यावश्यं जायत इति विवृणोति-

किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।
खवयस्स हवइ दुक्खं तक्काले कायमणुहूयं ॥९३॥

कृषिते तनुसंघाते चेष्टारहितस्य विगतधाम्नः।
क्षपकस्य भवति दुःखं तत्काले कायमनउद्भूतम् ॥९३॥

हवइ भवति। किं तत्। **दुक्खं** दुःखं। कस्य भवति। **खवयस्स** क्षपकस्य स्वीकृतसंन्यासस्य। कीदृशं दुःखं **कायमणुहूयं** कायः शरीरं मनश्चित्तं कायश्च मनश्च कायमनसी ताभ्यां सकाशादुद्भूतं तत् कायमनउद्भूतं। तत्र कायजं दुःखं शिरःकर्णनेत्रतीव्रतरवेदनाज्वरावेशदाहाद्यनेक-प्रकारं, मनःसंभवं दुःखं च एतद्गृहमिमे दारा एते बांधवा इयं कमला मम पुनःक्वेत्यादि संकल्पविकल्परूपं। कदा भवति दुःखं। **किसिए तणुसंघाए** कृषिते तनुसंघाते तनोः शरीरस्य संघातः परमाणुसंचयरूपो हस्तपादाद्यंगुल्यवयवरूपो वा तनुसंघातस्तस्मिन् तनुसंघाते लंघनवशादथवा तीव्रवेदनावशात् कृशतां क्षीणतां गते सति। कीदृशस्य क्षपकस्य। **विगयधामस्स** विगतबलस्य अत एव **चिट्ठारहियस्स** चेष्टारहितस्य चलनबलनादिका चेष्टा तया रहितस्य चेष्टाविवर्जितस्य। ततः क्षपकेण संविशुद्धपरमात्मभावनाबलेन वाग्मनःकायादिकं कर्म च स्वात्मस्वरूपात् पृथक् दृष्टव्यं तेन च दुःखोपशांतिर्भवति। यदुक्तम्-

---

हे क्षपक ! तुमने इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम धारण कर सल्लेखना मरण करने का उद्यम किया है। संन्यास में उत्तम मरण प्राप्त किया है तुम संन्यास में आरूढ़ हुए हो अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो। तुम्हारे समान दूसरा कोई उत्कृष्ट नहीं है ॥९२॥

क्षपक को मन, वचन, काय से उत्पन्न दुःख अवश्य होता है। उसका विवरण करते हैं-

अवलम्ब रहित, निश्चेष्ट क्षपक के शरीर को कृश करने पर उस समय शरीर और मन से कष्ट उत्पन्न होता है ॥९३॥

शिर, कर्ण, नेत्र, तीव्रतर वेदना, ज्वरावेश, दाह आदि अनेक दुख शारीरिक हैं।

यह मेरा घर है, ये मेरे बांधव हैं, यह मेरी लक्ष्मी है; इस प्रकार के संकल्प-विकल्प मनोद्भव दुःख हैं।

पुद्गल परमाणु संचय रूप तथा हस्त पैर अंगुली आदि अवयव रूप शरीर है, उस शरीर को उपवास आदि के द्वारा कृश करने पर वा तीव्र वेदना के वश शरीर के क्षीण होने पर चेष्टारहित और निरालम्ब (अर्थात् हलन-चलनादिक क्रिया रहित) क्षपक के शारीरिक मानसिक दुःख होता है। इसलिए क्षपक को संविशुद्ध परमात्मभावना के बल से मन-वचन-कायादिक कर्म को स्वात्म स्वरूप से पृथक् देखना चाहिए। अर्थात् रागादि विभाव भाव और मन, वचन, काय से शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भिन्न समझना चाहिए। उससे ही दुःख की उपशांति होती है अर्थात् इस भावना से ही दुःखों का नाश होता है। सो ही कहा है-

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥९३॥

कठिनतरसंस्तरशयनदोषेण यदि दुःखमुपजायते तदा समभावेन सहस्वेति शिक्षां ददन्नाह-

जइ उप्पज्जइ दुक्खं कक्कसमंथारगहणदोसेण।
खीणसरीरस्स तुमं सहतं समभावसंजुत्तो ॥९४॥

यद्युत्पद्यते दुःखं कर्कशसंस्तरग्रहणदोषेण।
क्षीणशरीरस्य त्वं सहस्व समभावसंयुक्तः ॥९४॥

जइ उपज्जइ यदि उत्पद्यते संजायते। किं तत्। **दुक्खं** कस्य। तव। केन। कर्कशसंस्तरग्रहणदोषेण कर्कशसंस्तरस्य ग्रहणं स्वीकरणं कर्कशसंस्तरग्रहणं तदेव दोषस्तेन वा दोषः कर्कशसंस्तरग्रहणदोषः तेन कर्कशसंस्तरग्रहणदोषेण। कथंभूतस्य तव। क्षुत्तृड्जनिततीव्रतरपीडावशात् क्षीणं सामर्थ्यविरहितशरीरं यस्य स क्षीणशरीरस्तस्य क्षीणशरीरस्य दुर्बलीभूतकायस्य। **तुमं सहतं** त्वं तद्दुःखं सहस्व। कीदृशस्त्वं। **समभाव-संजुत्तो** समभावसंयुक्तः समः अहौ हारे मित्रे शत्रौ तृणे स्त्रैणे समानो यो भावः परिणामः समभावस्तेन युक्तः समभावसंयुक्तः यतो मणौ लोष्टे समभावपरिणतो सूरिरात्मानमेव पश्यति। यदुक्तं-

---

निरन्तर निर्मल ज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा स्वतः कर्मों से भिन्न अखिल आत्मा का अवलोकन करने वाले परमार्थवेदी योगी के कर्मजन्य सुख-दुःख की कल्पना ही नहीं होती है॥९३॥

हे क्षपक ! कठिनतर संस्तर पर शयन करने से यदि तुझे दुःख उत्पन्न होता है तो तू समभावों से उसको सहन कर, इस प्रकार शिक्षा देते हुए आचार्य क्षपक को सम्बोधित करते हैं-

"हे क्षपक ! कर्कश कठोर संस्तर के ग्रहण के दोष से यदि क्षीणशरीरी तुझे कुछ कष्ट होता है तो तू उसे समता भावों से सहन कर, आकुलता मत कर॥९४॥

भूख-प्यासजनित तीव्रतर पीड़ा से जिसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है, शक्तिहीन दुर्बल हो गया है, कठोर-कर्कश संस्तर के ग्रहण करने से जिसके शरीर में पीड़ा होती है, जिससे क्षपक आकुल-व्याकुल होता है तब निर्यापकाचार्य उसको सम्बोधित करते हैं- हे क्षपकराज ! यदि इस कठोर संस्तर के कारण तेरे मन में कुछ पीड़ा का अनुभव हो रहा है तो तू सर्प और हार में, शत्रु और मित्र में, सुख और दुःख में, तृण और सुवर्ण में सम भाव से युक्त होकर इन पीड़ाओं को सहन कर। क्योंकि जो सूरि (क्षपक) मणि और, लोष्ठ (पत्थर) में, सुख और दुःख में समभाव से परिणत होता है, वही अपनी आत्मा का अवलोकन कर सकता है, दूसरा नहीं। सो ही कहा है-

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेपि च।
तद्वास्यां हरिचंदनेऽपि च समः संश्लिष्टतोऽप्यंगतो
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः॥

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा,
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथवा।
स्तुतिर्वा निंदा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रंथानां द्वयमपि समं शांतमनसाम्॥

यावत्परीषहान् सहमानः संस्तरे वससि तावदात्मज्ञानपरिणतस्त्वं कर्माणि क्षपयसीति क्षपकमुत्साहयन्नाह-

तं सुगहियसण्णासे जावक्कालं तु वससि संथारे।
तण्हाइदुक्खतत्तो णियकम्मं ताव णिज्जरसि॥९५॥

त्वं सुगृहीतसंन्यासो यावत्कालं तु वससि संस्तरे।
तृष्णादिदुःखतप्तो निजकर्म तावन्निर्जरयसि॥९५॥

"घोर तपश्चरण की आराधना करने पर भी एक स्वकीय शरीर का ममत्व संसार का कारण होता है तो अन्य बाह्य पदार्थों के ममत्व का तो कहना ही क्या ! वह तो संसार का कारण ही है। तलवार और हरिचन्दन में समभाव रखने वाले मुनिराज निरन्तर एकक्षेत्रावगाही भी शरीर से भिन्न एक शुद्धात्मा का अपनी आत्मामें अवलोकन करते हैं, ज्ञान रूपी नेत्रों से शरीर से भिन्न अपनी आत्मा का अवलोकन करते हैं, अनुभव करते हैं। शांतरस में मग्न निर्ग्रन्थ मुनिराजों के हृदय में तृण और रत्न, शत्रु और मित्र, सुख वा दुख, श्मशान और महल, स्तुति और निन्दा, मरण और जीवन दोनों ही समान हैं अर्थात् प्रतिकूलता और अनुकूलता में मुनिराज के समभाव होता है और यह समभाव ही आत्मावलोकन में कारण बनता है। इसलिए हे क्षपक ! तू इस शारीरिक पीड़ा को समभावों से सहन कर॥९४॥

निर्यापकाचार्य क्षपक को उत्साहित करते हुए कहते हैं कि - जब तक तू इन परीषहों को सहन करते हुए समभावों से संस्तर पर रहेगा, तब तक कर्मों की निर्जरा करेगा। ऐसी शिक्षा देते हैं-

हे गृहीतसंन्यास क्षपक ! जब तक भूख-प्यास आदि दुःखों से संतप्त तू संस्तर पर (संन्यास में) रहता है तब तक निज कर्मों की निर्जरा करता है॥९५॥

भो क्षपक **जावक्कालं तु वससि तं** त्वं यावत्कालं यावंतं कालं वससि निवासं करोषि। क्व। **संथारे** संस्तरे। तावत् किं करोषीत्याह। **तावणिज्जरसि** तावन्निर्जरयसि। किं तत्। **णियकम्मं** निजकर्म बहुभवांत-रोपार्जितकर्मसंतानं अवश्यमयमात्मा परात्मध्यानज्वलनज्वालाजालनिर्दग्ध-मनाः क्षणादेव विविधानां कर्मणां निर्जरामारचयति न पुनरात्मज्ञानविहीनः। यदुक्तम्-

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु,
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात्।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोपि हि पदं नेष्टं तपःस्यंदने,
नीयंतं नयति प्रभुः स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः॥

कीदृशः सन् कर्मनिर्जरां करोषि त्वमित्याह। **तण्हाइदुक्खतत्तो** तृष्णाक्षुद्दंशमशकादिभिर्यद्दुःखं दुस्सहतरयातना तृष्णादिदुःखं तेन तप्तः कदर्थितः तृष्णादिदुःखतप्तः। किमिति सर्वपरीषहान् सहमानः क्षपकः संस्तरमास्थितः। यस्मात् सुगृहीतसंन्यासः सु अतिशयेन गृहीतः संन्यासोऽन्नपानादिनिवृत्तिलक्षणो येन स सुगृहीतसंन्यासः गृहीतसंन्यासः स्वात्मभावनापरः तृष्णादिदुःखमनुभवन्नपि कर्मनिर्जरालक्षणं फलमवाप्नोतीत्यसंदेहमिति॥९५॥

परमात्मा के ध्यान रूपी अग्निसमूह से निजमन को नष्ट कर दिया है जिसने ऐसा वह क्षपक जब तक संस्तर पर निवास करता है, भूख-प्यास आदि दुःखों को सहन करता हुआ संन्यास में स्थित रहता है, तब तक भवान्तरों (अनेक भवों) के उपार्जित कर्मों की एक क्षण में आत्मज्ञान से अवश्य ही निर्जरा करता है। परन्तु आत्मज्ञान से विहीन क्षपक कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता। कहा भी है-

"अज्ञानी करोड़ों भवों में तपश्चरण करके अपने कर्मों का नाश करता है, स्थिर मन वाला, जिसने संवर स्वीकार किया है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारी ज्ञानी मुनि एक क्षण में अनेक भवों में उपार्जित कर्मों का नाश कर देता है।"

स्फुटतर ज्ञान रूपी अद्वितीय सारथी से रहित, तप रूपी रथ में तीक्ष्ण क्लेश रूपी घोड़े से आश्रित मानव अपने इष्ट स्थान पर तपरूपी रथ को ले जाने में समर्थ नहीं है।

क्षुधा, तृषा, दंशमशक आदि परीषहों के द्वारा दुःसह दुस्तर यातनाओं, दुःखों से संतप्त होता हुआ भी संन्यास में स्थित, अन्नपानादि से निर्वृत्त क्षपक स्वात्म-भावना में तत्पर होकर जब तक संन्यासकाल में समय व्यतीत करता है तब तक उसके असंख्यात-गुणी कर्मों की निर्जरा होती है, अथवा वह कर्मों की निर्जरा के फल को प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है॥९५॥

यथा यथा तृष्णादिबाधा जायते क्षपकस्य तथा तां समभावनया सहमानस्य कर्मनिर्जरैव फलं भवतीत्याचष्टे-

जहं जहं पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स।
तहं तहं गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं॥९६॥

यथा यथा पीडा जायते क्षुदादिपरीषहैर्देहस्य।
तथा तथा गलंति नूनं चिरभवबद्धानि कर्माणि॥९६॥

जहं जहं पीडा जायइ यथा यथा येन येन प्रकारेण पीडा तीव्रतरवेदना जायते। कस्य। देहस्य जीवाविष्टस्य शरीरस्य। कैः कृत्वा व्यथा जायते। **भुक्खाइपरीसहेहिं** क्षुत् आदिर्येषां शीतोष्णदंशमशकादीनां ते क्षुदादयः क्षुदादयश्च ते परीषहास्तैः क्षुदादिपरीषहैः तथा तथा कर्माणि विलीयंते इत्याह। **तहं तहं गलंति णूणं** तथा तथा गलंति तेन तेन प्रकारेण विलयं प्रपद्यंते नूनं। कानि। **कम्माइं** कर्माणि। कथंभूतानि कर्माणि। **चिरभवबद्धानि** अनेकभवांतरोपार्जितानि। यद्यपि सिद्धांते तपसा **निर्जरेत्युक्तं** तथापि भेदविज्ञानमंतरेण न कर्मनिर्जरा। ततः क्षपकेन तदेवाश्रयणीयं। यदुक्तं-

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत्॥

अग्निसंसर्गाज्जलमिवाहं दुःखैस्तप्तोस्मीति क्षपकश्चिन्तयेदित्याह-

---

जैसे-जैसे क्षपक को भूख, प्यास आदि की पीड़ा होती है, वैसे-वैसे उन पीड़ाओं को समभावना सहन करने वाले क्षपक के कर्मों की निर्जरा होती है, उसी का कथन करते हैं-

"हे क्षपकराज ! जैसे-जैसे भूख-प्यास आदि परीषहों के द्वारा शरीर को पीड़ा उत्पन्न होती है, वैसे-वैसे चिरकाल (अनेक भवों) में बँधे हुए कर्म निश्चय से गलते हैं, निर्जरित होते हैं, नष्ट होते हैं॥९६॥

भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों के द्वारा जीवयुक्त शरीर में जैसे-जैसे पीड़ा रोग, व्याधि उत्पन्न होते हैं, वैसे-वैसे अनेक भवों में चिरकाल से बँधे हुए कर्म निस्सन्देह गल जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं।

यद्यपि सिद्धान्तशास्त्रों में तप के द्वारा निर्जरा होती है, तप से कर्म नष्ट होते हैं, ऐसा कहा गया है फिर भी कर्मनिर्जरा का मूल कारण भेदविज्ञान है। भेद-विज्ञान के बिना निर्जरा नहीं होती है। इसलिए क्षपक को भेदविज्ञान की भावना करनी चाहिए। कहा भी है-

पवित्र समाधि रूपी वायु से प्रज्वलित भेदविज्ञान रूपी अग्नि के हृदय में स्थित हो जाने पर योगियों के उन्नत (अति तीव्र) भी कर्म रूपी शुष्क तृणराशि शीघ्र ही भस्म हो जाती है॥९६॥

अग्नि के संसर्ग से संतप्त जल के समान "मैं दुःखों से संतप्त हूँ", इस प्रकार चिन्ता करने वाले क्षपक को आचार्य कहते हैं।

तत्तोहं तणुजोए दुक्खेहिं अणोवमेहिं तिव्वेहिं।
णरसुरणारयतिरिए जहा जलं अग्गिजोएण ॥९७॥

तप्तोहं तनुयोगे दुःखैरनुपमैस्तीव्रैः।
नरसुरनारकतिरश्चि यथा जलमग्नियोगेन ॥९७॥

तत्तोहं तप्तोऽहं यद्यप्यहं शुद्धनिश्चयनयापेक्षया अनंतज्ञानामृतवापीमध्यमध्यासीनः सदैवानंतसुखस्वभावः तथापि व्यवहारेण अहं तप्तोस्मि कदर्थितोस्मि। कैः। **दुक्खेहिं** दुःखैः। कीदृशैः। अनुपमैः उपमारहितैः तथा तीव्रैः दुस्सहतरैः। कदा। तनुयोगं वपुः संयोगं शरीरसंयोगमासाद्य दुःखपरंपरां परिगतोस्मीत्यर्थः। कस्मिन्। **णरसुरणारयतिरिए** नरश्च सुरश्च नारकश्च तिर्यङ् च नरसुरनारकतिर्यङ् 'द्वंद्वैकत्वमत्र' तस्मिन् नरसुरनारकतिर्यञ्चि। तत्र मनुष्यगतौ इष्टवियोगानिष्टसंयोगविपदागमाधिव्याधिसंभवैर्दुःखैरुपद्रुतः। देवगतौ इंद्रादिविभूतिदर्शनसंभूतैर्मानसैर्दुःखैः। नरकगतौ-

असुरोदीरियदुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्णकयं च पंचविहं॥

इत्युक्तलक्षणैः पंचप्रकारदुखैः तिर्यग्गतौ अतिभारारोपणनासाछेदनभेदनविदारणक्षुत्तृष्णाजनि-

---

जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल संतप्त होता है, उसी प्रकार मैं शरीर के संयोग से मानव, देव, नारक और तिर्यंच योनि में तीव्र अनुपम दुःखों से संतप्त हुआ हूँ। अर्थात् चारों गतियों में मैंने अनेक दुःखों को सहन किया है, समाधिमरण काल में यह भूख प्यास का दुःख तो कुछ भी नहीं है ॥९७॥

यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त ज्ञान रूपी अमृत की वापिका के मध्य स्थित है, निरन्तर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख स्वभाव वाला है; तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर के संयोग को प्राप्त कर मानव, देव, नारक और तिर्यंच योनिरूप चारों गतियों में उपमा रहित तीव्र दुस्सहतर दुःखों से संतप्त हुआ है। **मनुष्यगति** में इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, विपदाओं का आगम, आधि-व्याधि से उत्पन्न अनेक दुःखों से संतप्त हुआ है, उपद्रवित हुआ है।

देव गति में इन्द्रादि की विभूति के दर्शन से उत्पन्न मानसिक दुःखों से संतप्त हुआ है।

नरक गति में असुरोदीरित दुःख, शारीरिक, मानसिक दुःख, अनेक प्रकार के पृथ्वी के स्पर्शन से उत्पन्न दुःख और परस्पर नारकी कृत दुःख इन पाँच प्रकार के नारकीय दुःखों को भोगा है।

तिर्यञ्च गति में अतिभार का आरोपण, नासिका आदि अंगों का छेदन, भेदन, विदारण, भूख-प्यास आदि अनेक दुःखों से मेरी आत्मा संतप्त हुई है, अनेक दुःखों को सहन किया है। इसी अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा प्रकट करते हैं जैसे अग्नि के संयोग से जल संतप्त होता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य स्वरूपी मैं भी

तैरनेकविधैर्दुःखैस्तप्तो अयमात्मा। अमुमेवार्थं दृष्टांतेन व्यक्तीकरोति। **जहा जलं अग्गिजोएण** यथा जलं पानीयं शीतस्वभावमपि ज्वलनसंयोगेन तप्तो भवति तथाहमपीति विमृश्य। तथा-

जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक् च दुःखं,
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम्॥

इति स्तुत्वा च देवं शरणं यामा इति यावत्॥९७॥

इति चिदानंदभावनापरिणतः स्वस्वभावास्तित्वं ध्रुवाणो ज्ञानामृते तत्सौख्यवान् भवतीत्याह-

ण गणेइ दुक्खसल्लं इयभावणभाविओ फुडं खवओ।
पडिवज्जइ ससहावं हवइ सुही णाणसुक्खेण॥९८॥

न गणयति दुःखशल्यं इतिभावनाभावितः स्फुटं क्षपकः।
प्रतिपद्यते स्वस्वभावं भवति सुखी ज्ञानसौख्येन॥९८॥

ण गणेइ न गणयति। कोऽसौ। **खवओ** क्षपकः। किं न गणयति। **दुक्खसल्लं** दुःखशल्यं। कथं। **फुडं** स्फुटं प्रकटं। कीदृशः क्षपकः। **इयभावणभाविओ** इतिभावनाभावितः यदहमनादिकाले चतुर्गतिक्लेशगर्तवर्तस्थपुटे पंचप्रकारे संसारे भ्रामं भ्रामं यानि दुस्सहानि दुःखान्यनुभूतवा-नस्मि तेभ्योऽमूनि

कर्मों के संयोग से संतप्त हूँ। ऐसा विचार कर कर्मानुभव से मन को हटाकर स्वानुभव में लगाना चाहिए। स्वानुभव के अभाव में इस जीव ने क्या-क्या दुःख भोगे हैं, उनको केवली भगवान ही जानते हैं। **एकीभावस्तोत्र** में **वादिराज** मुनिराज ने कहा है-

"हे भगवन्! इस अपार संसार में भ्रमण करते हुए, भव-भव में मैंने जो और जैसे दुःख भोगे हैं उनको आप साक्षात् जानते हैं, वे आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हैं। यदि उनका मुझे स्मरण हो जाए तो शस्त्र के प्रहार के समान मेरे टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। हे भगवन्! तुम सर्वेश (सबके स्वामी) हो, तुम दयालु हो, मैं भक्ति से तुम्हारी शरण में आया हूँ। हे देव! इस विषय में आप जो करोगे वही मुझे प्रमाण है- स्वीकार है" हे क्षपक! इस प्रकार स्तुति करके वीतराग प्रभु की शरण में जाओ-जाओ। उनके गुणों के स्मरण में लीन हो जाओ।

इस प्रकार चिदानन्द स्वभाव में परिणत स्व-स्वभाव के अस्तित्व को ध्रुव स्वीकार करने वाला क्षपक अनन्त सुख का भागी बनता है। सो कहते हैं-

"इस प्रकार की भावना से भावित जो क्षपक दुःख की शल्य को नहीं गिनता है, वह निश्चय से स्वस्वभाव को प्राप्त होता है और ज्ञानसुख से सुखी होता है॥९८॥

अनादि काल से चतुर्गति के क्लेश रूपी गड्ढों से ऊबड़-खाबड़ पाँच प्रकार के परिवर्तन रूप इस संसार में भ्रमण कर-कर के मैंने जो दुःख सहन किये हैं- दुस्सह दुःखों का अनुभव किया है, उसके समक्ष यह भूख-

क्षुत्तृट्प्रभवानि न किंचिदिव प्रतिभात्येवंरूपा भावना इतिभावना तया भावितः पुनः पुनः संस्कृतः इतिभावनाभावितः, अथवा मम जरामरणादिरहितस्य विशुद्धस्य निश्चयेन दुःखं नास्तीत्येवंरूपा भावना तया भावितः इतिभावनाभावितः क्षपकः। किं करोतीत्याह। **पडिवज्जइ** प्रतिपद्यते स्वीकरोति। कं। **ससहावं** स्वस्वभावं आत्मस्वभावम्। यदुक्तम्-

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहन् पूर्णैकसं विद्युतं
येनोन्मूलितबंध एव भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति॥

आत्मस्वभावमास्थितः क्षपकः कीदृशो भवतीत्याह। **हवइ सुही णाणसुक्खेण** भवति। कीदृशो भवति। सुखी अनिर्वचनीयसुखसंपन्नः। केन कृत्वा। ज्ञानसौख्येन भेदज्ञानजनितविविधतराह्लादेन॥९८॥

दुर्धरदुःखानि तृणाय मन्यमानः स्वात्मानमेवाराधयेति शिक्षां ददन्नाह-

---

प्यास, शीत, उष्ण सम्बन्धी दुःख कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की भावना, पुनः-पुनः चिन्तन के संस्कार से भावित क्षपक अथवा 'जन्म-मरण से रहित विशुद्धात्मा मेरे निश्चय नय से कुछ भी दुःख नहीं है', ऐसी भावना से परिणत क्षपक शारीरिक दुःखों को कुछ भी नहीं गिनता है। शरीर की ओर लक्ष्य नहीं देता है, निज शुद्धात्मामृत में लीन रहता है, वह क्षपक अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होता है। कहा भी है **समयसार कलश में अमृतचन्द्राचार्य ने-**

"इस प्रकार जो पुरुष परद्रव्य का और अपने भावों के निमित्त-नैमित्तिकपने का विचार करके तथा समस्त पर-द्रव्य का स्वकीय पराक्रम से त्यागकर और पर-द्रव्य जिसका मूल है ऐसे विविध प्रकार के भावों की परिपाटी को दूरसे एक साथ उखाड़ने का इच्छुक अतिशय से बहने वाले प्रवाह रूप धारावाही पूर्ण एक संवेदन युक्त अपनी आत्मा को प्राप्त होता है; जिसने कर्मबंध को मूल से उखाड दिया है ऐसा यह भगवान आत्मा अपनी आत्मा में स्फुरायमान होता है।" अर्थात् जो भव्यात्मा परद्रव्य और स्वकीय विभाव भाव का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जानकर परद्रव्य का त्याग करता है तब रागादि विभाव भावों की संतति कट जाती है और स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति होती है।

आत्म-स्वभाव में स्थित क्षपक भेद-विज्ञान-जनित विविधतर आह्लाद से अनिर्वचनीय सुख से सम्पन्न होकर ज्ञानसुख से सुखी होता है। अर्थात् बाह्य शारीरिक दुःखों का अनुभव न करके स्वकीय स्वभाव में लीन रहता है वह क्षपक केवलज्ञानमय सुखका भोक्ता बनता है॥९८॥

हे क्षपक! दुर्धर दुःखों को तृण के समान समझकर अपनी शुद्धात्मा की आराधना करो, इस प्रकार आचार्यदेव शिक्षा देते हैं-

भित्तूण रायदोसे छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे।
अगणंतो तणुदुक्खं झायस्स णिजप्पयं खवया॥९९॥

भित्वा रागद्वेषौ छित्वा च विषयसंभवानि सुखानि।
अगणयंस्तनुदु:खं ध्यायस्व निजात्मानं क्षपक॥९९॥

खवया भो क्षपक **झायस्स** ध्यायस्व आराधय। कं। **णिजप्पयं** निजात्मानं चैतन्यस्वभावं यन्नाम्नैवायमात्मा सुखी भवति। यदुक्तम्-

नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षय:।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गता: कुर्वते हि जगतां पतिं नरम्॥

किं कृत्वा। **भित्तूण रायदोसे** भित्वा रागद्वेषौ रागद्वेषविरहित एव स्वात्मानमनुभवति। यत: उक्तम्-

रायद्दोसादिहया इहुलिच्छड़ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छड़ णउं पिच्छड़ तस्स विवरीओ॥

पुन: किं विधाय। **छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे** विषयेभ्य: संभव उत्पत्तिर्येषां तानि विषयसंभवसुखानि छित्वा मूलत: समुन्मूल्य। यदुक्तम्-

---

हे क्षपक ! राग- द्वेष का नाश कर, पंचेन्द्रिय विषयजनित सुखों का त्याग कर और शारीरिक दु:खों की तरफ लक्ष्य न देकर तू निजात्मा का ध्यान कर॥९९॥

हे क्षपक ! जिसके नाम का उच्चारण करने से आत्मा सुखी होता है, उस चैतन्य स्वभाव निज आत्मा की निरन्तर आराधना कर। कहा भी है-

परमात्मा के नाम मात्र की कथा से भव्य प्राणियों के अनेक जन्मों में उपार्जित किये हुए पाप क्षय हो जाते हैं और परमात्मा के ध्यानगत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मानव को जगत् का पति (स्वामी) बना देते हैं।

राग-द्वेष को भेदकर, रागद्वेष से रहित ही आत्मा स्वकीय आत्मा का अनुभव करता है। कहा भी है-

जिनका हृदय रूपी जल राग-द्वेष रूपी वायु से चंचल नहीं है, कम्पित नहीं है; वे ही मानव निजतत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) का अवलोकन कर सकते हैं। जिनका हृदय रागद्वेष से चंचल है वे निजतत्त्व का अवलोकन नहीं कर सकते।

विषयों के कारण जिसकी उत्पत्ति होती है वह विषयसंभव है। उन विषयों से उत्पन्न सुखों को मूल से उखाड़ने वाले, उनका त्याग करने वाले ही आत्मा का अनुभव कर सकते हैं इसलिए इनका परित्याग करना चाहिए। कहा भी है-

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं॥

पुनः किं कुर्वन् क्षपकः। **अगणंतो तणुदुक्खं** तनौ शरीरे यानि **दुःखानि** ज्वरावेशादीनि तानि अगणयन्। अनया भावनया निराकुर्वन्। तां भावनामाह-

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं युवा चैतानि पुद्गले॥

ततो रागादीन् विभावान् मुक्त्वा अनंतज्ञानस्वभावे स्वात्मनि निरतः क्षपकः सुखी भवतीति भावार्थः॥९९॥

यावत्तपोऽग्निना न तप्तं चेतनं कार्तस्वरं तावत्कर्मकालिमा न मुच्यत इत्याह-

जाव ण तवग्गिदत्तं सदेहमूसाइं णाणपवणेण।
ताव ण चत्तकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ॥१००॥

यावन्न तपोग्नितप्तं स्वदेहमूषायां ज्ञानपवनेन।
तावन्न त्यक्तकलंकं जीवसुवर्णं हि निर्व्यक्तीभवति॥१००॥

"इन्द्रियजन्य विषय-व्यापार के रुक जाने पर और मन के संकल्प थक जाने पर, मिट जाने पर, योगी आत्मध्यान से ब्रह्म स्वरूप को प्रगट करता है।"

जो योगी शारीरिक दुःखों का अनुभव नहीं करता है वही आत्मा का अनुभव करता है। इसलिए हे क्षपक! शारीरिक दुःखों का अनुभव मत करो। पूज्यपाद स्वामी के द्वारा इष्टोपदेश में व्यक्त इस भावना से शारीरिक दुःखों को जीतने का प्रयत्न करो। वह भावना कहते हैं-

"जब मेरी मृत्यु ही नहीं है, तो भय कैसे हो सकता है अर्थात् मैं नित्य निरंजन हूँ, निश्चय से अजर-अमर हूँ। जब मेरे व्याधि नहीं है, मैं वास्तव में व्याधिरहित हूँ तो मेरे व्यथा (पीड़ा) कैसे हो सकती है। न मैं बालक हूँ, न मैं वृद्ध हूँ और न मैं युवा हूँ; ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं।

हे आत्मन्! इसलिए रागादि विभाव भावों को छोड़कर अनन्त ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा में लीन हो जावो क्योंकि आत्मा में स्थिर होने वाला ही क्षपक सुखी होता है॥९९॥

जब तक यह आत्मा रूपी सुवर्ण पाषाण तपरूपी अग्नि के द्वारा नहीं तपाया जाता है तब तक कर्मकालिमा से रहित नहीं होता। यह सूचित करते हैं-

जब तक ज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि के द्वारा देह रूपी मूषामें स्थित जीव रूपी सुवर्ण तपाया नहीं जाता है तब तक वह कर्म-कालिमा से रहित शुद्ध रूप से प्रकट नहीं होता॥१००॥

ताव ण णिव्वडइ तावत्कालं तावंतं कालं न निर्व्यक्तीभवति न कर्मकलंकात् पृथग्भूतं भवति इत्यर्थः। किं तत्। **जीवसुवण्णं** दैदीप्यमानगुणत्वात् जीवसुवर्णं चिदानंदकार्तस्वरं। कथं। **खु** स्फुटं **जाव ण तवग्गितत्तं** यावत्कालं न तपोग्नितप्तं बाह्याभ्यंतररूपं तप एव दुस्सहत्वादग्निस्तपोग्निस्तेन तप्तं मुहुर्मुहुरावर्तितं। कस्यामधिकरणभूतायां क्षिप्तं जीवसुवर्णं। **सदेहमूसाए** स्वदेहमूषायां स्वस्यात्मनो देहः स्वदेहः स्वदेह एव मूषा स्वदेहमूषा तस्यां स्वदेहमूषायां। केन करणभूतेन। **णाणपवणेण** ज्ञानपवनेन ज्ञानं भेदज्ञानं तदेव पवनो वायुः तेन ज्ञानपवनेन करणभूतेन। कथंभूतं जीवसुवर्णं **चत्तकलंकं** त्यक्तं कलंकं कर्मरूपं येन तत् त्यक्त-कलंकं ज्ञानपवनेन भेदज्ञानपवनेन वर्धमानतेजसा तपोजातवेदसा तप्तं देहमूषाया स्थितं जीवसुवर्णं कर्मकालिमानमपहाय विशुद्धो भवतीत्यर्थः। यदुक्तम्-

तपोभिस्ताडिता एव जीवाः शिवसुखस्पृशः,
मुशलैः खलु सिद्ध्यंति तंडुलास्ताडिता भृशम्।
तपः सर्वाक्षसारंगवशीकरणवागुरा,
कषायतापमृद्वीका कर्मजीर्णहरीतकी॥१००॥

दुःखं देहस्य अहं च देहात्मको न भवामीति भावनया दुःखं सहस्वेति निर्दिशति-

णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं।
समभावणाइ जुत्तो विसहसु दुक्खं अहो खवय॥१०१॥

नाहं देहो न मनो न तेन मे अस्ति अत्र दुःखानि।
समभावनया युक्तः विसहस्व दुःखमहो क्षपक॥१०१॥

इस गाथा में आचार्य ने रूपक अलंकार में कथन किया है, सुवर्ण का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार मूषा (साँचे) में सुवर्ण पाषाण को डालकर वायु से अग्नि को प्रज्वलित कर यदि नहीं तपाया जाता तो शुद्ध सुवर्ण प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार जब तक स्वदेह रूपी मूषा में स्थित आत्मा रूपी सुवर्ण पाषाण को ज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि से तपाया नहीं जाता है तो यह जीव रूपी सुवर्ण कर्मकलंक से रहित शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि भेदज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित सम्यक् तपरूपी अग्नि में तप करके ही आत्मा शुद्ध होता है। कहा भी है-

"जैसे मुशल के द्वारा ताड़ित होकर तन्दुल शुद्ध होता है, अक्षत बनता है; उसी प्रकार तपसे ताड़ित ही जीव शिवसुख का स्पर्श करने वाला और शुद्ध हो जाता है। यह सम्यक् तप सर्व इन्द्रिय रूपी हरिणी को वश में करने के लिए जाल है। कषाय रूपी ताप को दूर करने के लिए मृद्वीका (द्राक्षा-दाख) है और कर्म को जीर्ण करने के लिए हरीतकी (हरड़) है॥१००॥

दुःख शरीराश्रित है और मैं शरीरात्मक नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस प्रकार की भावना के बल से हे क्षपक! तू दुःखों को सहन कर, ऐसा आचार्य निर्देश करते हैं-

"शरीर मेरा नहीं है, मन भी मेरा नहीं है इसलिए शारीरिक और मानसिक दुःख भी मेरे नहीं हैं।" हे क्षपक! इस प्रकार समता भाव से युक्त होकर दुःखों को सहन कर॥१०१॥

विसहसु विशेषेण सहस्व। किं। **दुक्खं** दुःखं आधिव्याधिसमुद्भवं। किं विशिष्टः सन् सहस्व। **समभावणाइ जुत्तो** युक्तः संयुक्तः समभावनया। तामेव समभावनामाह। **णाहं देहो अहं** शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया विशुद्धचैतन्यात्मकः देहः काय औदारिकादिरूपो न भवामि। तथाहं शुद्धनिश्चयनयेन निर्विकल्पस्वभावरूपो मनः संकल्परूपं चित्तं न भवामि यतो मनसः कायस्याप्यगोचरः । यदुक्तम्-

न विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरः।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वचसो जडात्मनः।।

तथाऽहमात्मा ईदृग्विधः-

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः।।

तेनैव प्रकारेण इत्थं एतस्मिन् काये व्यवहारनयापेक्षया वसतोपि मम निर्मलनिष्कलंकस्वभावस्य दुःखानि जन्मजरामरणरोगरूपाणि न संति इति समभावनापरिणतः क्षपको व्याधिप्रतीकारचिंतनरूपेण आर्तध्यानेन न बाध्यत इति भावार्थः।।१०१।।

मानसिक पीड़ा को आधि कहते हैं और शारीरिक पीड़ा को व्याधि कहते हैं। रागद्वेष को अपना मानने से आधि होती है और शरीर को अपना मानने से व्याधि होती है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा हूँ और शरीर पौद्गलिक जड़ है अतः मैं शरीर-आत्मक नहीं हूँ। निश्चय नय से मैं निर्विकल्प स्वभावरूप हूँ, राग-द्वेष के कारण होने वाले मानसिक संकल्प-विकल्प मेरा स्वरूप नहीं हैं, ये विभाव भाव हैं, आत्मस्वरूप के घातक हैं। मैं तो मन, वचन, काय के अगोचर हूँ। कहा भी है-

"विकल्परहित चिदानन्द स्वरूप जो आत्मवस्तु है, वह आत्मवस्तु कर्म-जन्य विकल्प रूप मन के गोचर नहीं है तो जड़ात्मक वचन की तो कथा ही क्या करना ! वचनगोचर तो आत्मा हो ही नहीं सकती।"

"मैं आत्मा ऐसी हूँ"- **आचार्य पूज्यपाद** ने कहा है-

स्वसंवेदन से व्यक्त होने वाली है, स्वसंवेदन गोचर है, तनु मात्र (शरीर प्रमाण), अविनाशी, अत्यन्त सौख्यवान और लोक-अलोक को देखने वाली ऐसी आत्मा है। यह मन, वचन के अगोचर है।

ऐसा विचार करके समभाव से परिणत होकर आधि-व्याधि-जन्य दुःखों को तू सहन कर।

'यद्यपि इस समय व्यवहार नय की अपेक्षा मैं इस शरीर में रह रहा हूँ, तथापि निर्मल निष्कलंक स्वभाव वाले मेरे जन्म-मरणादि रूप रोग, दुःख मेरे नहीं हैं।' इस प्रकार समभावना से परिणत साधु क्षपक व्याधि के प्रतिकार की चिन्तारूप आर्तध्यान के द्वारा बाधित नहीं होता, पीड़ा-चिन्तन नामक आर्तध्यान से युक्त नहीं होता ।।१०१।।

शरीरे रागाद्युद्भवो न पुनर्मम अनंतसुखसंपत्स्वभावस्य इति भावनापरः क्षपकोस्तीत्यादिशति-

ण य अत्थि कोवि वाहीण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स।
वाहो मरणं काए तम्हा दुक्खं ण मे अत्थि॥१०२॥

न चास्ति कापि व्याधिर्न च मरणं अस्ति मे विशुद्धस्य।
व्याधिर्मरणं काये तस्मात् दुःखं न मे अस्ति॥१०२॥

ण य अत्थि कोवि वाही निरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकस्य मम कापि व्याधिर्नास्ति तथा मम नित्यानंदैकस्वभावस्य **ण य मरणं** प्राणत्यागरूपं मरणं मृत्युरपि नास्ति। कथंभूतस्य मम। विशुद्धस्य रागद्वेषमोहाद्युपाधिरहितस्य अथवा वातपित्तश्लेष्मादिदोषरहितस्य। यदि व्याधिमरणमपि परमात्मनि नास्ति तर्हि क्वास्ति। **वाही मरणं** व्याधिर्मरणं च काये **तम्हा दुःखं ण मे अत्थि** तस्मात्कारणात् दुःखादेरभावात् मम अविनश्वरपरमानंदमेदुरात्मनः दुःखं नास्ति। तदुक्तं-

रुग्जरादिविकृतिर्न मेंजसा सा तनोरहमितः सदा पृथक्।
मेलनेपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः॥१०२॥

यद्यपि शरीर में रागादि भावों का उत्पाद है परन्तु अनन्त सुख सम्पन्न मुझ में किंचित् भी रागादि भाव नहीं हैं, इस प्रकार की भावना में तत्पर होने वाला ही क्षपक होता है, ऐसा कहते हैं-

विशुद्ध आत्मा वाले मेरे कोई भी व्याधि नहीं है और मरण भी नहीं है। व्याधि और मरण तो शरीर सम्बन्धी है और मैं शरीर वाला हूँ नहीं, इसलिए मुझे किसी प्रकार का दुःख भी नहीं है॥१०२॥

नित्य निरंजन शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय के आराधक मेरे किसी प्रकार की आधि-व्याधि नहीं है।

विशुद्ध राग-द्वेष मोह रूप विभाव भाव की उपाधि से रहित, वात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषों से रहित, नित्य आनन्द एक स्वभाव वाले मेरे प्राणत्याग रूप मरण भी नहीं है। अर्थात् जिन शुद्ध ज्ञान, दर्शन चेतना रूप भावप्राणों से मैं जीता हूँ उन प्राणों का नाश होता नहीं है इसलिए मेरा मरण भी नहीं है।

शंका - यदि व्याधि आदि आत्मा में नहीं है तो फिर किसमें है? **उत्तर** - यद्यपि शरीर के साथ संयोग रखने वाले आत्मा के शरीर का वियोग होने पर व्यवहार में मरण कहा जाता है परन्तु निश्चय से आत्मा का नाश नहीं होने से आत्मा का मरण नहीं है, न आत्मा में व्याधि है; शरीर सम्बन्धी ममत्व रूप दुःख के कारणों का अभाव होने से अविनाशी परमानन्द से व्याप्त (परिपूर्ण) मेरी आत्मा में कोई दुःख नहीं है। मैं तो स्वकीय परमानन्द में निमग्न हूँ। सो ही कहा है-

"मैं शरीर से सदा काल पृथक् (भिन्न) हूँ। इसलिए वास्तव में रोग, बुढापा आदि विकृति मेरे नहीं है। शरीर का मेरे साथ मिलाप होने पर भी मुझमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि विकारी बादलों के द्वारा आकाश में विकार नहीं होता॥१०२॥

यदि व्याध्यादिकं कायस्य तर्हि आत्मा कीदृश इत्याह-

सुक्खमओ अहमेको सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥१०३॥

सुखमयोऽहमेकः शुद्धात्मा ज्ञानदर्शनिसमग्रः।
अन्ये ये परभावास्ते सर्वे कर्मणा जनिताः ॥१०३॥

सुक्खमओ इत्यादि। अनवरतस्यंदिसुंदरानंदमुद्रितामंदसुखेन निर्वृत्तः सुखमयः। अहं शरीराधिष्ठितोऽपि आत्मा शुद्धनयापेक्षया परमात्मा। यदुक्तम्-

यः परात्मा स एवाहं योहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

तथा **एक्को** असहायः रागद्वेषादिद्वितीयरहितः **सुद्धप्पा** शुद्धात्मा शुद्धश्चासौ आत्मा च शुद्धात्मा **णाणदंसणसमग्गो** ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने ताभ्यां समग्रः दर्शनज्ञानसमग्रः दृशिज्ञप्तिस्वभावः नियतिवृत्ति-रूपः। एवंभूतात् स्वभावात् येऽन्ये **ते** परभावाः इत्याह **अण्णे जे परभावा** टंकोत्कीर्णचित्स्वभावादात्मनः सकाशात् येऽन्ये रागद्वेषमोहादयः आधिव्याधिमरणादयः **ते सव्वे** ते सर्वे परभावाः पुद्गलभावाः। किं विशिष्टाः। **कम्मणो जणिया** कर्मणः सकाशादुत्पन्नाः। अथवा। कर्मणा करणभूतेन जनिता उत्पादिताः। ततोऽहमात्मा केवलं सुखस्वभावसंपन्नो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावोस्मीति ध्यानयोगमारूढस्य क्षपकस्य कर्मनिर्जरैव। यदुक्तं-

---

यदि व्याधि आदिक शरीर के हैं तो आत्मा कैसा है, ऐसा पूछने पर कहते हैं-

मैं एक सुखमय ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण शुद्धात्मा हूँ। शेष सर्व भाव कर्मजनित हैं अतः मुझ से भिन्न हैं, परभाव हैं॥१०३॥

निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द से मुद्रित अमंद सुखसे निर्वृत्त सुखमय हूँ और शरीर में अधिष्ठित होते हुए भी मैं शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा स्वरूप आत्मा हूँ। कहा भी है-

"जो परात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए निश्चय नय से मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य हूँ अर्थात् मैं ही आराध्य हूँ और मैं ही आराधक हूँ; अन्य कोई मेरा आराध्य नहीं है, ऐसी स्थिति है।"

मैं एक, असहाय, रागद्वेष से रहित, दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण दर्शन-ज्ञान स्वभाव वाला हूँ। मेरे इन ज्ञान, दर्शन स्वभाव से अन्य (भिन्न) जो भाव हैं वे सब पर हैं। क्योंकि टंकोत्कीर्ण चित्स्वभाव वाली आत्मा से अन्य जो राग-द्वेष-मोहादि भाव हैं और आधि व्याधि मरण आदि भाव हैं, वे पौद्गलिक कर्मजन्य हैं, कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं इसलिए मेरे नहीं हैं। मैं शुद्धात्मा सुखस्वभाव सम्पन्न, केवल शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूँ। ऐसा विचार कर धर्म ध्यान वा शुक्ल ध्यान में आरूढ़ क्षपक के निर्जरा ही होती है। **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** में कहा है-

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायते ध्यानयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥

पुनरहमात्मा ईदृग्विध इति भावनापरः क्षपको भवतादित्यादिशति-

णिच्चो सुक्खसहावो जरमरणविवज्जिओ सयारूवी।
णाणी जम्मणरहिओ इक्कोहं केवलो सुद्धो॥१०४॥

नित्यः सुखस्वभावः जरामरणविवर्जितः सदारूपी।
ज्ञानी जन्मरहितः एकोहं केवलः शुद्धः ॥१०४॥

अयमात्मा यद्यपि व्यवहारेण अनित्यस्तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया नित्यः अविनश्वरः। यद्यपि व्यवहारेण अनाद्यशुभकर्मवशात् कदाचिद्दुःखी शुभकर्मवशात्कदाचित्सुखी तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया सुखसद्भावः परमानंदमेदुरानंतसुखस्वरूपः, यद्यपि व्यवहारेण पंचप्रकारशरीराश्रितत्वात् जरामरणाक्रांतः तथापि निश्चयनयेन जरामरणविवर्जितः। यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण स्पर्शरसगंधवर्णवत्पुद्गलाश्रितत्वात् मूर्तस्वरूपः गौरकृष्णादिरूपोपेतः तथापि शुद्धनयापेक्षया अरूपी रूपवर्जितः। यद्यपि व्यवहारेण

''परीषहादि से होने वाले दुःखों का अनुभव नहीं करने वाले योगी के ध्यान के योग से शीघ्र ही आस्रव का निरोध करने वाली (संवरपूर्वक) कर्मों की निर्जरा होती है। अर्थात् जो क्षपक शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव न करके ध्यान के योग से स्वकीय शुद्धात्मा का अनुभव करता है उसके संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा होती है'' ॥१०३॥

'मेरी आत्मा ऐसी है, इस प्रकार की भावना करने वाला ही क्षपक होता है'; ऐसा कथन करते हैं-

''मैं नित्य हूँ, अनन्त सुख स्वरूप हूँ, सुख स्वभाव वाला हूँ, जरा (बुढ़ापा) और मरण से रहित हूँ। सदा अरूपी हूँ, ज्ञानी हूँ, जन्म से रहित हूँ। एक हूँ, केवल (केवलज्ञान स्वरूप) हूँ और शुद्ध हूँ।'' ऐसी भावना करने वाला क्षपक होता है॥१०४॥

यह आत्मा यद्यपि व्यवहार नय से अनित्य है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा नित्य है, अविनश्वर है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से अनादिकालीन अशुभ कर्म के उदय से कदाचित् दुःखी होता है और शुभ कर्म के उदय से कदाचित् सुखी होता है; तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सुख स्वरूप है, परमानन्द से भरित अवस्था रूप अनन्त सुख स्वरूप है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से पाँच प्रकार के शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण) के आश्रित वा युक्त होने से जरा और मरण से आक्रान्त है तथापि निश्चय नय की अपेक्षा जरा एवं मरण से रहित है।

मतिश्रुतज्ञानाद्युपेतत्वात् ज्ञानी तथापि निश्चयनयापेक्षया केवलज्ञानस्वभावत्वात् ज्ञानी। यद्यपि व्यवहारेण चतुरशीतिलक्षयोनिषु गृहीत-जन्मत्वाज्जन्मी तथापि शुद्धनिश्चयनयादजन्मा। यद्यपि व्यवहारेण सुर-नरादिभेदादनेकस्तथापि निश्चयेन टंकोत्कीर्णचित्स्वभावत्वादेकः। यद्यपि व्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मसंयोगादकेवलः तथापि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया केवलः। यद्यपि व्यवहारेण रागाद्युपाधिसंयोगादशुद्धः तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया शुद्धः॥ यदुक्तम्-

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो,
नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकांततः।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं,
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकः क्षणे॥

इति भावनापरिणतस्त्वमात्मानमेव तनोः सकाशान्निस्सारयेति शिक्षयति-

इयभावणाइं जुत्तो अवगणिय देहदुक्खसंघायं।
जीवो देहाउ तुमं कड्ढसु खग्गुव्व कोसाओ॥१०५॥

यद्यपि यह आत्मा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले पुद्गल कर्म के द्वारा बँधा हुआ होने से मूर्तिक है, गौरा, काला आदि रूप से युक्त है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अरूपी रूप-रसादि से रहित होने से अमूर्तिक है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से मति, श्रुत, ज्ञान स्वभाव वाला होने से ज्ञानी है परन्तु निश्चय नय से केवलज्ञानस्वभाव वाला होने से ज्ञानी है। यद्यपि व्यवहार नय से चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने वाला होने से जन्मी है, जन्म लेने वाला है परन्तु शुद्ध निश्चय नय से यह आत्मा जन्मरहित होने से अजन्मा है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से सुर-नरादि पर्यायों की अपेक्षा अनेक रूप है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा टंकोत्कीर्ण एक चित्स्वभाव वाला होने से एक स्वरूप है। यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के संयोग से अकेवल है (दूसरों के आश्रित है) तथापि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा केवल (असहाय) है। यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से रागादि उपाधि के संयोग से अशुद्ध है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्ध है। कहा भी है-

एकान्त से यह आत्मा न शून्य है, न जड़ है, न पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूत जनित है, न कर्त्ता भाव को प्राप्त है, न एक है, न क्षणिक है, न सारे लोकाकाश में व्याप्त है, न नित्य है, परन्तु कथंचित् यह आत्मा शरीरप्रमाण है, चैतन्यस्वरूप एक निलय है। कर्त्ता भी है, स्वयं भोक्ता भी है। एक है, अद्वितीय है, प्रत्येक क्षण में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। अर्थात् प्रत्येक समय आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है ॥१०४॥

इस प्रकार की भावना वाला ही हे क्षपक ! तू स्वकीय शरीर से आत्मा को पृथक् कर सकता है। उसकी शिक्षा देते हैं-

"इस प्रकार की भावना से युक्त हे क्षपक ! शरीर सम्बन्धी दुःखों के समूह का अनुभव नहीं करके, जीव को शरीर से पृथक् कर, जैसे म्यान से तलवार को पृथक् करते हैं॥१०५॥

इति भावनया युक्तः अवगणय्य देहदुःखसंघातम्।
जीवं देहात्तं निष्काशय खड्गमिव कोशात् ॥१०५॥

हे क्षपक तुमं त्वं **कड्ढसु** निस्सारय। कं। जीवो जीवं। अत्र कर्मणि प्रथमा न युक्तेत्यार्षत्वाददोषः। कीदृशस्त्वं इतिभावनायुक्तः, अहं देहात्मको व्याध्याधिनिष्पीतसारो न भवामि किंतु परमानंदसांद्रः शुद्धश्चिदेवास्मि इत्येवंरूपभावनया संयुक्तः स्वात्मानं शरीरान्निष्काशय। किं कृत्वा पूर्वं। **अवगणिय देहदुक्खसंघायं** अवगण्य। कं। देहदुःखसंघातं देहे शरीरे यानि ज्वरावेशातिसारोद्भवानि दुःखानि तेषां संघातः समूहः देहदुःखसंघातः तं देहदुःखसंघातं। कमिव विग्रहाच्चेतनं पृथक् कुरु। **खग्गुव्व कोसाओ** खड्गमिव कोशात् असिमिव कोशात् खड्गपिधानकात् प्रत्याकारात्। यदुक्तम्-

शरीरतः कर्तुमनंतशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।
जिनेंद्रकोशादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥१०५॥

पुनः शिक्षां प्रयच्छन्नाह-

हणिऊण अट्टरुद्दे अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण।
भावियसहाउ जीवो कड्ढसु देहाउ मलमुत्तो ॥१०६॥

हत्त्वार्तरौद्रौ आत्मानं परमात्मनि स्थापयित्वा।
भावितस्वभाव जीवं निष्काशय देहात् मलमुक्तम् ॥१०६॥

हे क्षपक ! "आधि-व्याधियों के आस्पद् शरीर रूप मैं नहीं हूँ, परन्तु परमानन्द से भरित शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ।" इस प्रकार की भावना से स्वकीय आनन्द में मग्न होकर शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्वर, अतिसार, भूख-प्यास, शीत, उष्ण आदि दुःखों का अनुभव मत करो। स्वकीय ज्ञानोपयोग को शरीर में मत लगाओ। आत्मानुभव के बल से स्वकीय आत्मा को शरीर से निकालो। शरीर से पृथक् अनुभव कर शरीर से पृथक् करने की चेष्टा करो। जिस प्रकार म्यान और तलवार पृथक्-पृथक् हैं उसी प्रकार आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा विचार कर शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव करो।

अमितगति आचार्य ने कहा है-

"हे जिनेन्द्रदेव ! आपके प्रसाद से म्यान से तलवार के समान, रागादि दोष से रहित, अनन्त शक्ति शाली स्वकीय आत्मा को शरीर से पृथक् करने की शक्ति मुझे प्राप्त हो। अर्थात् हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैं शरीर से आत्मा को पृथक् कर सकूँ, मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो" ॥१०५॥

पुनः शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं-

हे भावित स्वभाव वाले क्षपक ! आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर और अपनी आत्मा को परमात्मा में स्थापित करके अपनी निर्मल आत्मा को शरीर से पृथक् करो यानी शरीर से पृथक् अनुभव करो ॥१०६॥

भावितः स्वभावितः पुनः पुनर्भावनया स्वायत्तीकृतः सहजशुद्ध-स्वभावः आत्मभावो येन स भावितस्वभावः तस्य संबोधनं भो भावितस्वभाव क्षपक **कड्ढसु** निस्सारय परलोकं प्रापय। कं। जीवं स्वात्मानं। **कस्मात् देहाउ** देहात् शरीरात् विग्रहात्। किंकृत्वा पूर्वं। **हणेऊण** हत्वा मूलतः समुन्मूल्य। कौ। **अट्टरुद्दे** आर्तश्च रौद्रश्च आर्तरौद्रौ। पुनः किं कृत्वा। **अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण** स्वात्मानं परमात्मनि स्थापयित्वा स्वात्मनः परमात्मनि स्थितीकरणं सोऽहमिति संस्कार एव। यदुक्तम्-

सोहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम्।।

यस्मान्निर्धूतार्तरौद्रदुर्ध्यानः परमात्मज्ञानसंपन्नः अत एव क्षपकः कलंकमुक्तः बाह्याभ्यंतरपरिग्रहादिमलोज्झितः एतादृग्गुणोपेतः क्षपको निश्चितं सुगतिमात्मानं तच्चतुर्विधाराधनासामर्थ्यान्नयतीति भावार्थः॥१०६॥

काललब्धिवशादाराधनाधीना भव्यास्तस्मिन्नेव भवांतरे सिद्ध्यंतीत्याह-

कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।
केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्मि भवे॥१०७॥

कालादि लब्ध्वा छित्वा च अष्टकर्मशृंखलाम्।
केवलज्ञानप्रधाना भव्या सिध्यंति तस्मिन् भवे॥१०७॥

जिसने बार-बार स्वकीय शुद्धात्मा की भावना से अपने आपको स्थिर किया है, स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न किया है उसे भावित-स्वभावित कहते हैं। सम्बोधन में हे भावितस्वभाव क्षपक! आर्त्त, रौद्र ध्यान को मूल से उखाड़कर फेंक दो और अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में स्थिर करो। अपनी आत्मा को आत्मा में स्थिर करने का उपाय 'सोहं' जो परमात्मा है, वही मैं हूँ; यह संस्कार ही है। पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है- 'मैं परमात्मा-स्वरूप हूँ' उसी में पुनः पुनः भावना है, ऐसी भावनासे संस्कार दृढ़ होता है और उसी दृढ़ संस्कार से आत्मा आत्मस्थिति को प्राप्त करता है। अर्थात् मैं परमात्मा-स्वरूप हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दृढ़ संस्कार होता है, वही अपने स्वरूप में स्थिति का कारण है। इसलिए मैं अर्हन्त स्वरूप हूँ ऐसी निरन्तर भावना करनी चाहिए।

जिसने आर्त्त रौद्र ध्यान का नाश कर दिया है, जो परमात्मज्ञान सम्पन्न है, ऐसा क्षपक कलंक से रहित बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह लक्षण मल से रहित, आदि गुणों से युक्त होकर चार प्रकार की आराधना के सामर्थ्य से अपनी आत्मा को सुगति में ले जाता है। ऐसा भावार्थ समझना चाहिए॥१०६॥

चार प्रकार की आराधना के आराधक भव्य क्षपक काललब्धि के बल से उसी भव में वा एक-दो भव में सिद्ध हो जाते हैं, सो कहते हैं-

चार प्रकार की आराधना के आराधक क्षपक काललब्धि को प्राप्त कर, आठ कर्मों की शृंखला को छेदकर केवलज्ञान प्राप्तकर उसी भव में मोक्ष में चले जाते हैं॥१०७॥

सिज्झंति सिध्यंति। के। **भविया** भव्याः आसन्नभव्या। कदा। तस्मिन् भवे तस्मिन्नेव भवांतरे वर्तमानशरीराधिष्ठाना भव्यात्मनः सिद्धिं साधयंतीत्यर्थः। किं कृत्वा। **कालाई लहिऊणं** कालादिकं लब्ध्वा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणां सामग्रीं प्राप्य॥ यदुक्तम्-

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोप्यात्मता मता॥

पुनः किं कृत्वा। **छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं** छित्वा। कां। अष्ट-कर्मशृंखलां अष्टकर्मण्येवातिदृढत्वात् शृंखला अष्टकर्मशृंखला तां अष्टकर्मशृंखलां संतः सिद्धयंति **केवलणाणपहाणा** केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानं तेन प्रधानाः संयुक्ताः एवंभूताः संतः केचित्तस्मिन्नेव भवांतरे निश्चयाराधनामहिमकमलालिंगिता मुक्तिकांतासुखं निर्विशंति॥१०७॥

आराधनाराधका उद्वृत्यपुण्यप्रकृतयः सर्वार्थसिद्धिगामिनो भवंतीत्याह-

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइं जं सारं।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति॥१०८॥

आराध्य केचित् चतुर्विधाराधनायां यं सारं।
उद्वृत्तशेषपुण्याः सर्वार्थनिवासिनो भवन्ति॥१०८॥

मोक्षप्राप्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव ये पाँच कालादिक कहलाते हैं।

वज्रवृषभनाराच संहनन को द्रव्य कहते हैं। कर्मभूमि क्षेत्र कहलाते हैं। चतुर्थकाल काल है। मानुष भव भव है और निर्विकल्प समाधि भाव है। इन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकार की सामग्री की प्राप्ति को कालादि सामग्री कहते हैं।

आसन्नभव्यात्मा कालादि सामग्री को प्राप्त कर चार प्रकार की आराधना के बल से इसी भव में वर्तमान शरीर से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव रूप सामग्री की प्राप्ति मोक्ष में कारण है। **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** में कहा है-

"जिस प्रकार योग्य (निमित्त) और उपादान के कारण पत्थर (सुवर्ण पाषाण) सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव), स्वादि (स्वकीय भाव) संपत्ति को प्राप्त करके आत्मा आत्मता को प्राप्त हो जाता है।

इन पाँच प्रकार की सामग्री को प्राप्त कर यह जीव आठ प्रकार की कर्मशृंखला को तोड़ देता है और केवल-ज्ञान प्रधान है जिसमें ऐसे गुणों को प्राप्त कर उसी भव में अथवा दो-तीन भव में मोक्ष में चला जाता है, सिद्ध हो जाता है। निश्चय आराधना रूप गौरवपूर्ण कमला (लक्ष्मी) से आलिंगित मुक्तिकांता के सुख को प्राप्त होते हैं॥१०७॥

आराधना के आराधक महान् पुण्य प्रकृति बाँधकर सर्वार्थसिद्धिगामी होते हैं। सो कहते हैं-

कोई भव्य चार प्रकार की आराधना के सार का आराधन करके शेष पुण्य के फल स्वरूप सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होते हैं॥१०८॥

हुंति भवंति। **केई** केचित् अनुद्धतपुण्यप्रकृतयः। कीदृशा भवंति। **सव्वट्ठाणिवासिणो** सर्वार्थसिद्धौ निवसंतीत्येवंशीलाः सर्वार्थसिद्धिनिवासिनः कालादिसामग्रीमपेक्ष्यमाणाः सर्वार्थसिद्धिमाश्रित्य तिष्ठंतीत्यर्थः। सर्वार्थसिद्धिगमनकारणमाह। किं विशिष्टाः केचित्। **उव्वरियसेसपुण्णा** उद्वृत्ता अनच्छन्ना शेषाः अविशिष्टाः पुण्यापुण्यप्रकृतयो येषां येषु वा उद्वृत्तशेषपुण्याः। किं कृत्वा सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवंति। **आराहिऊण** सम्यगाराध्य। किमाराध्य। **चउव्विहाराहणाइं जं सारं** चतुर्विधाराधनायां यं सारं चतुर्विधाराधनासु मध्ये यः सारः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा तं चतुर्विधाराधनायां सारं स्वस्वरूपलक्षणमाराध्य पंचलब्धिसामग्री-अभावात् सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवंति केचिदित्यर्थः॥१०८॥

ये जघन्या आराधकास्तेप्याराधनासामर्थ्यात् कियत्स्वपि भवेष्वतीतेषु मोक्षमासादयंतीति व्यनक्ति-

जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेवि य पावंति णिव्वाणं॥१०९॥

येषां भवंति जघन्या चतुर्विधाराधना हि क्षपकानाम्।
सप्ताष्टभवान् गत्वा तेपि च प्राप्नुवंति निर्वाणम्॥१०९॥

पावंति प्राप्नुवंति लभंते। के। **तेवि य** तेपि च। किं प्राप्नुवंति। **णिव्वाणं** निर्वाणं शाश्वतानंदस्थानं। किं कृत्वा प्राप्नुवंति। **सत्तट्ठभवे गंतुं** सप्तभवान् अष्टसंख्याकान् वा भवान् भवांतराणि गत्वा अतिक्रम्य गत्वेति क्त्वाप्रत्ययांतः। सप्ताष्टभवांतरेष्वतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमासादयंतीत्यर्थः। ते के इत्याह। **जेसिं हुंति जहण्णा**

कोई भव्यात्मा क्षपक चार प्रकार की आराधना के सार-शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा की आराधना करके-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकार की विकलता होने से पूर्ण रूप से पुण्य-पाप रूप कर्म प्रकृतियों का नाश करने में असमर्थ होने से तथा पुण्य प्रकृति का अनुभाग विशेष होनेसे सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कालादि सामग्री के अभाव में सर्वार्थसिद्धि में काल व्यतीत करते हैं, दूसरे भव में मोक्ष जाते हैं॥१०८॥

जो भव्य जीव उत्कृष्ट रूप से आराधना की आराधना करते हैं, वे उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं, कर्मबन्ध के जाल को काटकर उसी भव से मुक्ति-रमापति बन जाते हैं और जो मध्यम रूप से आराधना करते हैं वे सर्वार्थसिद्धि में जाकर दूसरे भवमें मोक्ष जाते हैं परन्तु जो साधक जघन्य रूप से आराधना करते हैं वे आराधना के सामर्थ्य से कितने भव व्यतीत करके मोक्ष में जाते हैं, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

जिन भव्यात्मा क्षपकों की चार प्रकार की आराधना जघन्य होती है वे सात-आठ भव में निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं॥१०९॥

जिन क्षपकों की आराधना जघन्य होती है वे सात वा आठ भव के व्यतीत होने पर शाश्वत आनन्द के स्थान अक्षय मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेते हैं।

चउव्विहाराहणाहु हु स्फुटं येषां क्षपकानां चतुर्विधा आराधना **जघन्या भवंति**। तथाहि-ये खलु **मनश्चांचल्यात्सहजशुद्धचिदानंदात्मनि** स्वात्मनि स्थितिमल्पतरामासादयंति व्यवहारपरमार्थरूपेषु दर्शनज्ञानचारित्रतप:स्वपि **मनोवचनकायसामर्थ्यरहितत्वात्सम्यगाराधनां** नाचरंति तेपि जघन्या आराधकास्त्रिचतुरेषु भवांतरेषु अतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमुपलभंते अतएवाराधनैव मोक्षं करोतीति भावार्थ: ॥१०९॥

व्यवहारनिश्चयाराधनोपयोगभाज: शुभकर्मोत्पादितस्वैरैश्वर्यादिफलमनुभूय कमनीयमुक्तिकामुका भवंतीत्याह-

उत्तमदेवमणुस्से सुक्खलाइं अणोवमाइं भुत्तूण।
आराहणउवजुत्ता भविया सिज्झंति झाणट्ठा ॥११०॥

उत्तमदेवमानुषेषु सुखान्यनुपमानि भुक्त्वा।
आराधनोपयुक्ता भव्या: सिध्यंति ध्यानस्था: ॥११०॥

सिज्झंति सिध्यंति। के। **भविया** भव्या:। किं कृत्वा। **भुत्तूण** भुक्त्वा अनुभूय। कानि। सुखानि। कथंभूतानि सुखानि। **अणोवमाइं** अनुपमानि उपमारहितानि। यदुक्तम्-

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव॥

जो क्षपक मानसिक चंचलता के कारण सहज शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अपनी आत्मा में स्थिर रहने में समर्थ नहीं हैं, बहुत कम काल तक स्थिर रह पाते हैं, व्यवहार रत्नत्रय और परमार्थ रत्नत्रय या दर्शन ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधना में मन, वचन और काय का सामर्थ्य नहीं होने से सम्यक् प्रकार से आराधना की आराधना नहीं कर सकते, उनके जघन्य आराधना होती है। उस जघन्य आराधना के आराधक पुरुष तीन-चार भव में अक्षय सुख के आस्पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिए आराधना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा समझना चाहिए॥१०९॥

अब व्यवहार और निश्चय आराधना में उपयोग लगाने वाले क्षपक शुभ कर्मों के कारण उत्पन्न (प्राप्त) स्वर्ग के ऐश्वर्य आदि फल का अनुभव करके कमनीय (सुन्दर) मुक्ति रूपी स्त्री के वल्लभ (पति) होते हैं, सो कहते हैं-

आराधना में उपयुक्त भव्य पुरुष उत्तम देव और मनुष्य सम्बन्धी अनुपम सुखों को भोगकर ध्यानस्थ होकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं॥११०॥

आराधक स्वर्ग में अनुपम सुखों का अनुभव करता है स्वर्ग के सुख उपमा रहित हैं इसलिए अनुपम हैं। **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** में कहा है-

"देवों को स्वर्ग में जो इन्द्रियजन्य सुख है वह दीर्घकाल तक रहने वाला है और रोगों की बाधा रहित है। स्वर्ग के देवों का सुख स्वर्ग के देवों के सुख समान है, उसकी उपमा का संसार में दूसरा सुख नहीं है इसलिए वह अनुपम है।"

क्व। उत्तमदेवमणुस्से उत्तमदेवमानुषे उत्तमदेवत्वं इंद्रादिपदप्राप्तिलक्षणं उत्तममानुषत्वं चक्रवर्तिपदवी उत्तमदेवश्च उत्तममानुषश्च उत्तमदेवमानुषस्तस्मिन् उत्तमदेवमानुषे चक्रित्वत्रिदशेंद्रतादिपदवीमनुभूय तदनु सिद्धिसुखभाजो भवंतीत्यर्थः। के सिद्ध्यंति। **आराहणउवजुत्ता** आराधनोपयुक्ताः तथा **झाणत्था** ध्यानस्था ध्याने तिष्ठंतीति ध्यानस्थाः धर्मशुक्लादिध्यानभाजः। तथाहि। बाह्याभ्यंतरपरिग्रहपरित्यागमाधाय गृहीतसंन्यासः निर्मलतरसमयसारसरणिपरिणतांतःकरणः निश्चयव्यवहाराराधनोपयोगयोगी वर्धमानपुण्यप्रकृत्युदयजनित-स्वरैश्वर्यादिकमनुभूय भव्यात्मा सिध्यतीत्यसंदेहमिति॥११०॥

अतितपश्चरणादिकं कुर्वाणोपि स्वात्मध्यानबहिर्भूतो मोक्षभाग् न भवतीत्युपदिशति-

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं।
जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खो जिणो भणइ।१११॥

अति करोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि।
यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भणति॥१११॥

अइ कुणउ करोतु अनुचरतु। कोसौ। प्राणी। किं तत्। **तवं** तपः पक्षे उपवासादिकं। कथं। अतीव उग्रोग्रं तथा **पालेउ** प्रतिपालयतु। कं। **संजमं** इंद्रियादिसंयमं। तथा **पढउ** पठतु अधीतां। कानि। **सयलसत्थाइं** सकलानि च तानि शास्त्राणि सकलशास्त्राणि व्याकरण-छंदोलंकारतर्कसिद्धांतादीनि परं **जाम**

जो भव्यात्मा क्षपक, चार प्रकार की आराधना में लीन होते हैं, धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में स्थित होते हैं वे क्षपक चक्रिपदत्व आदि मानव भव के और इन्द्रत्व आदि देवों के उत्तम-अनुपम सुखों को भोगकर मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। तथाहि, बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर जिसने संन्यास ग्रहण किया है, जिसका हृदय निर्मलतर समयसार रूपी नदी में (नदी के जल में) परिणत है, लीन है, निश्चय और व्यवहार आराधना में उपयुक्त है योग (मन-वचन-काय) जिसका ऐसा योगी, वर्धमान पुण्य प्रकृति के अनुभाग के फलस्वरूप स्वर्ग के वा मानव के ऐश्वर्य का अनुभव करके, उनको भोग करके मुक्तिपद को प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है॥११०॥

अतितीव्र तपश्चरण करता हुआ भी जो क्षपक स्वात्मध्यान से बहिर्भूत है वह मोक्ष का भागी (मोक्षगामी) नहीं होता है, ऐसा उपदेश देते हैं-

जो प्राणी घोर तपश्चरण करते हैं, उत्कृष्ट संयम का पालन करते हैं और सकल शास्त्रों को भी पढ़ते हैं परन्तु जब तक स्वकीय आत्मा का ध्यान नहीं करते हैं तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है॥१११॥

जो क्षपक मास, दो मास आदि उपवास करके घोर तपश्चरण करता हो आतापन आदि योग धारण कर उग्र तप तपता हो, प्राणी संयम, इन्द्रिय संयम का पालन करता हो और तर्क, छन्द, व्याकरण, अलंकार, सिद्धान्त आदि सारे ग्रन्थों का पठन-पाठन करता हो परन्तु जब तक अपनी आत्मा का ध्यान नहीं

ण झायइ अप्पा यावत्कालं चैतन्यात्मानं न ध्यायति भेदज्ञानेन कायादिभ्यः पृथगवबुध्य स्वसंवेदनेन यावन्न संवेदयति तावत्तस्य प्राणिनः क्षपकस्य मोक्षो नास्ति। को नाम एवमाचष्टे। **जिणो भणइ** निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारी केवली जिनः भणति कथयति। उक्तं च-

पदमिदं ननु कर्म दुरासदं सहजबोधकला सुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत्॥
यो न वेत्ति परं देहे देवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥

एवंविधं विदधाना भव्यात्मानोऽवश्यं मुक्तिभाजो भवंतीति निगदति-

चइऊण सव्वसंगं लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं।
अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण॥११२॥

त्यक्त्वा सर्वसंगं लिंगं धृत्वा जिनवरेंद्राणाम्।
आत्मानं ध्यात्वा भव्याः सिध्यंति नियमेन॥११२॥

सिज्झंति सिध्यंति सिद्धिं साधयंति। के। **भविया** भव्यात्मानः। कथं सिध्यंति। **णियमेण** निश्चयेन। किंकृत्वा। **चइऊण सव्वसंगं** संगः परिग्रहो **बाह्याभ्यंतररूपः**। तत्र बाह्यो दशविधः। यदुक्तम्-

---

करता है, भेदविज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् (भिन्न) जानकर संवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा का संवेदन नहीं करता है, तब तक उस क्षपक को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा सारे जगत् को साक्षात् जानने-देखने वाले भगवान ने कहा है। कहा भी है-

निश्चय से कर्मों से दुरासद यह निजपद (आत्मपद) सहज बोधकला से सुलभ है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा यह आत्मस्वभाव सहज प्राप्त हो सकता है अतः यह सारा जगत् स्वकीय बोधकला (स्वसंवेदन ज्ञान रूपी कला) के बल से इस स्वकीय पद (स्वरूप) को जानने का प्रयत्न करे; अन्यथा मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। **पूज्यपाद स्वामी** ने भी कहा है-

जो प्राणी स्वकीय शरीर में अव्यय (अविनाशी) आत्मा रूपी परम देव को नहीं जानता है, अपने शरीर में अपनी आत्मा का अवलोकन नहीं करता है वह घोर तपश्चरण करके भी निर्वाण पद को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥१११॥

ऐसी अवस्था को धारण करने वाला क्षपक ही मोक्षभागी होता है, सो कहते हैं-

सर्व परिग्रह का त्याग कर, जिनेन्द्र के लिंग को धारण कर और स्वकीय आत्मा का ध्यान करके ही नियम से (निश्चय से) भव्यात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है॥११२॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
आसनं शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश।।

अभ्यंतरश्च परिग्रहश्चतुर्दशभेदभिन्नः। यदुक्तम्-

मिथ्यात्ववेदरागाहासप्रमुखास्तथा च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतरा ग्रंथाः।।

इत्येवं लक्षणं सर्वपरिग्रहं **चइऊणं** त्यक्त्वा विमुच्य। न केवलं संगत्यक्त्वा। तथा **लिंगं धरिऊण** निर्ग्रन्थरूपेणं जिनेंद्राणां लिंगं ममतादिरहितं धृत्वा सम्यक् प्रकारेण स्वात्मनि जिनदीक्षामारोप्येत्यर्थः। **यद्यपि** लिंगं जात्यादिविकलो निश्चयनयापेक्षया मोक्षहेतुर्न भवति। यदुक्तम्-

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यंते भवात्तस्माद्ये ते लिंगकृताग्रहाः।।

तथापि व्यवहारेण जिनलिंगं मोक्षाय भवति। तथा **अप्पाणं झाऊणं** आत्मानं च ध्यात्वा। यदुक्तम्-

---

अंतरंग और बहिरंग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। बहिरंग परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, आसन, शयन, कुप्य और भाण्ड के भेद से दस प्रकार का है। जिसमें खेती की जाती है उसको **क्षेत्र** कहते हैं। घर को **वास्तु** कहते हैं। सोना-चाँदी, हीरा-पन्ना आदि को **धन** कहते हैं। गेहूँ, चावल, मूंग आदि को **धान्य** कहते हैं। दासी-दास **द्विपद** कहलाते हैं। गाय, भैंस आदि **चतुष्पद** कहलाते हैं। बैठने के चौकी पाटा आदि **आसन**, जिस पर सोया जाता है वह **शयन** कहलाता है, वस्त्रादि **कुप्य** कहलाते हैं और बर्तन आदि **भाण्ड** कहलाते हैं। ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

अभ्यन्तर परिग्रह भी चौदह प्रकार का है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीन वेद, मिथ्यात्व और चार कषाय ये १४ अंतरंग परिग्रह हैं।

इन चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग करके और जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करके, स्वकीय आत्मा में जिनदीक्षा का आरोपण करके स्वात्मा का ध्यान करता है। लिंग धारण करने मात्र से मुक्ति नहीं होती, **पूज्यपाद स्वामी** ने भी **समाधिशतक** में कहा है-

"लिंग देह के आश्रित है और देह आत्मा का भव (संसार) कहा गया है। इसलिए जो लिंग का आग्रह करने वाले हैं, वे भी संसार से नहीं छूटते हैं।" अतः यद्यपि लिंगादि विकल्प निश्चय नय से मुक्ति के कारण नहीं हैं, तथापि व्यवहार नय से जिनलिंग धारण किये बिना मुक्ति नहीं होती, ऐसा अकाट्य नियम है। ऐसा जानकर व्यवहार में जिनेन्द्र मुद्रा रूप निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर स्वात्मा का ध्यान करना चाहिए। **पूज्यपाद स्वामी** ने कहा है-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसा।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥

एवं कुर्वाणा आराधनाराधकाः सिध्यंतीत्यर्थः॥११२॥

अथ ये व्यवहारनिश्चयाराधनाया उपदेशका आराधकाश्च तान्नमस्करोमीत्याह-

आराहणाइ सारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं।
आराहियं च जेहिं ते सव्वेहं पवंदामि॥११३॥

आराधनायां सारमुपदिष्टं यैर्मुनिवरेन्द्रैः।
आराधितं च यैस्तान् सर्वानहं प्रवंदे॥११३॥

जेहिं उवइट्ठं यैर्ज्ञातसम्यगाराधनारहस्यैः उपदिष्टं आदिष्टं कथितं। कीदृशैर्यैः। **मुणिवरिंदेहिं** प्रत्यक्षज्ञानिनो मुनयस्तेषां वरा गणधरास्तेषामिंद्राः स्वामिनस्तीर्थंकरास्ते मुनिवरेंद्रास्तैः मुनिवरेन्द्रैः तीर्थकृद्भिः। किं उपदिष्टं यैः। आराधनायां सारं सर्वस्या आराधनायाः सारः टंकोत्कीर्णचित्स्वरूपपरमात्माराधनालक्षणः स उपदिष्टो यैर्मुनिवरेंद्रैस्तान् प्रवंदे **नमस्करोमि**। न केवलं तान् आराधनोपदेशकान् वंदे। **आराहियं च जेहिं** यैर्मुनिवरेंद्रैराराधितं द्रव्यभावाराधनासारं तान् सर्वानपि त्रिधा नमस्करोमीत्यर्थः॥११३॥

"अपनी इन्द्रियों के समूह का निरोध कर के आत्मा एकाग्र चित्त से अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में स्थित अपनी आत्मा का ध्यान करे।"

इस प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग करके और निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में स्थित अपनी आत्मा का जो ध्यान करता है, निर्विकल्प समाधि में लीन होकर स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा का वेदन करता है वही भव्यात्मा वास्तव में आराधना का आराधक होकर मुक्तिपद को प्राप्त करता है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम्हें स्वात्मा का ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए॥११२॥

अब, जो निश्चय और व्यवहार आराधना के उपदेशक और आराधक हैं उनको नमस्कार करता हूँ; ऐसा आचार्य कहते हैं-

जिन मुनिवरों ने आराधना के सार का उपदेश दिया है और जिन्होंने आराधना के सार की आराधना उन सर्व मुनिवरों की मैं वन्दना करता हूँ॥११३॥

जिन प्रत्यक्ष ज्ञानी गणधरों में श्रेष्ठ तीर्थंकर केवली भगवान ने आराधना के टंकोत्कीर्ण चित् (चैतन्य) स्वरूप परमात्मा की आराधनारूप आराधना के सार का कथन किया है और जिन्होंने जिनेन्द्र द्वारा कथित आराधना के सार की आराधना की है, उन आराधना के सार के उपदेशक और आराधक मुनिवरों को मैं मन-वचन-काय से नमस्कार करता हूँ॥११३॥

स्वाहंकारपरिहारं विदधानः आचार्यः प्राह-

ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि।
णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं॥११४॥

न च मे अस्ति कवित्वं न जाने छंदोलक्षणं किंचित्।
निजभावनानिमित्तं रचितमाराधनासारम्॥११४॥

ण य मे अत्थि कवित्तं मे मम कवित्वं व्याकरणविशुद्धं शब्दार्थालंकारसमन्वितं नास्ति। तथा **ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि** छंदः पिंगलाद्याचार्यप्रणीतं छंदःशास्त्रं छंदश्चूडामण्यादिकं न जाने इत्यर्थः। तथा लक्षणं व्याकरणं जैनेंद्रादिकं अथवा कवित्वस्य गुणलक्षणं न जानामि किंचित् स्तोकमपि। यदि न किंचिज्जानासि तर्हि किमर्थमारचितवानसि इत्युक्ते प्राह। **णियभावणाणिमित्तं** निजभावनानिमित्तं केवलमात्मभावनानिमित्तं आराधनासारो मया व्यरचि कृतः निजभावनां निमित्तीकृत्य मयायमाराधनासाराख्यो ग्रंथो व्यरचि न पुनर्यशोनिमित्तं। यदुक्तम्-

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।
कृतिः किंतु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम्॥

यद्यत्र प्रवचनविरुद्धं तदा द्रव्यभावश्रुतकेवलिनो दूषणमपाकृत्य विशुद्धममुं ग्रंथं कुर्वन्त्विति ब्रवीति-

---

'**आराधनासार**' के रचयिता **देवसेनआचार्य** स्वकीय अहंकार का परित्याग करते हुए कहते हैं-

न मुझ में कवित्व है, न मैं किंचित् छन्द-लक्षण जानता हूँ, केवल निजभावना निमित्त मैंने आराधनासार की रचना की है॥११४॥

देवसेन आचार्य कहते हैं कि न मैं कवि हूँ, न व्याकरण से विशुद्ध शब्दार्थ-अलंकार जानता हूँ तथा पिंगल आदि आचार्यप्रणीत छन्दशास्त्र को और चूड़ामणि आदि छन्द को भी नहीं जानता हूँ। तथा किंचित् मात्र भी जैनेन्द्रादि व्याकरण वा कवित्व के गुण-लक्षणों को नहीं जानता हूँ।

शंका - जब आप कुछ भी नहीं जानते हो तो फिर **आराधनासार** की रचना कैसे की?

उत्तर - इसकी रचना का निमित्त निजी भावना ही है। केवल आत्मविशुद्धि के निमित्त ही मैंने इस **आराधनासार** की रचना की है। इस निमित्त से मेरी आत्मविशुद्धि हो, मुझे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो, यही मेरी भावना है। यही कामना है, इसलिए इस **आराधनासार** ग्रन्थ की मैंने रचना की है; ख्याति, पूजा-लाभ के वशीभूत होकर नहीं की है। कहा भी है-

"न कवित्व के अभिमान से मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है और न कीर्ति के प्रसार की इच्छा से। किन्तु केवल स्वबोध के लिए मैंने इस कृति (ग्रन्थ) की रचना की है" ॥११४॥

अब यहाँ पर **देवसेन आचार्य** कहते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ में कोई शास्त्रविरुद्ध बात कही हो तो द्रव्यभाव श्रुतकेवली मेरे इस ग्रन्थ की विशुद्धि करें; वे ऐसी प्रार्थना करते हैं-

अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम्॥११५॥

अज्ञाततत्त्वेनेदं भणितं यत्किंचिद्देवसेनेन।
शोधयंतु तं मुनीन्द्रा अस्ति हि यदि प्रवचनविरुद्धम्॥११५॥

शोधयंतु तं मुनींद्राः भावद्रव्यश्रुतकेवलिनः अंतःस्वसंवेदनज्ञानसंयुक्ताः बहिर्द्वादशांगश्रुतरहस्यकोविदाः। किं तत्। तं। तत् किं। **भणियं जं किंपि** यत्किंचित् भणितं निगदितं **इमं इदं** प्रत्यक्षीभूतमाराधनासाराख्यं शास्त्रं। केन भणितं। देवसेनेन देवसेनाख्येनाचार्येण। कथंभूतेन। **अमुणियतच्चेण** अज्ञातं तत्त्वं येन स अज्ञाततत्त्वस्तेन अज्ञाततत्त्वेन। गर्वपरिहारार्थमिदं विशेषणं न पुनरज्ञाततत्त्व आचार्यः, ततः प्राचीनसूरयो नितरां गुणिनोपि विगताहंकाराः श्रूयंते। यदुक्तम्-

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतौ निर्वृतेः।
येषां प्राक्तनजन्मनीह तेपि निरहंकारा [illegible]
श्चित्रं संप्रति लेशतोपि न गुणस्तेषां तथाप्युद्धताः॥

यदि अज्ञात-तत्त्व वाले देवसेन ने, इसमें कुछ भी आगमविरुद्ध कथन किया हो तो मुनीन्द्र (ज्ञानीजन) मेरे इस ग्रन्थ की शोधना करें॥११५॥

अज्ञानी **देवसेन आचार्य** ने प्रत्यक्षीभूत इस **आराधनासार** ग्रन्थ की रचना की है, इसमें किंचित् भी आगमविरुद्ध कथन हो तो अंतरंग में स्वसंवेदन ज्ञान से युक्त और बाह्य में द्वादशांग श्रुत के रहस्य को जानने में पण्डित, भाव-द्रव्य श्रुतकेवली मुनिराज इस ग्रन्थ की शोधना करें क्योंकि श्रुतकेवली ही इस कार्य को कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने जो अपने आप को अज्ञाततत्त्व कहा है यह विशेषण केवल स्वकीय गर्व का परिहार करने के लिए है क्योंकि **देवसेन** अज्ञाततत्त्व नहीं थे, वे छन्द-अलंकार सब जानते थे। प्राचीन आचार्य अत्यन्त गुणी होते हुए भी विगत-अहंकार होते थे, ऐसा ग्रन्थों में सुना जाता है। **आत्मानुशासन** में **गुणभद्र आचार्य** ने लिखा है कि-

पूर्व काल में वचनों में सत्यता, बुद्धि में श्रुत, हृदय में दया, पराक्रमी भुजा में शूरता, अर्थिनिचय (अर्थ के इच्छुक) को अनून (अति अधिक) लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन जैसे गुण होने पर भी वे इस लोक में निरहंकार थे, अहंकार ने उनका स्पर्श नहीं किया था। ऐसा श्रुतिगोचर है, ग्रन्थों में ऐसा कथन है। परन्तु वर्तमान में जिनके लेशमात्र भी गुण नहीं हैं फिर भी वे अति अहंकारी हैं, गर्व से उन्मत्त हो रहे हैं।"

परं तदा शोधयंतु अस्थि हु **जइ पवयणविरुद्धं** हु स्फुटं यदि चेत् प्रवचनविरुद्धं जिनागमविरुद्धं किंचिन्मया प्रत्यपादि तदा शोधयंतु। ये भावश्रुतविरहिताः केवलं द्रव्यश्रुतावलंबिनस्तेषां पुनरिहाराधनासारशोधने नाधिकारः। ये परमब्रह्माराधनातत्परास्त एवात्राधिकारिण इत्यर्थः॥११५॥

इति **श्रीदेवसेनाचार्यविरचित आराधनासारः** समाप्तः॥

॥ टीकाकारस्य प्रशस्तिः॥

अश्वसेनमुनीशोऽभूत् पारदृश्वा श्रुतांबुधेः।
पूर्णचंद्रायितं येन स्याद्वादविपुलांबरे॥१॥

श्रीमाथुरान्वयमहोदधिपूर्णचंद्रो, निर्धूतमोहतिमिरप्रसरो मुनींद्रः।
तत्पट्टमंडनमभूत् सदनंतकीर्ति, र्ध्यानाग्निदग्धकुसुमेषुरनंतकीर्तिः॥२॥

काष्ठासंघे भुवनविदिते क्षेमकीर्तिस्तपस्वी, लीलाध्यानप्रसृमरमहामोहदावानलांभः।
आसीद्दासीकृतरतिपतिर्भूपतिश्रेणिवेणी, प्रत्यग्रस्रवत्सहचरपदद्वंदपद्मस्ततोपि॥३॥

देवसेन आचार्य कहते हैं - इस आराधना ग्रन्थ में यदि कोई प्रवचनविरुद्ध कथन किया हो तो भाव श्रुतकेवली इसका संशोधन करें, द्रव्य श्रुतावलम्बी नहीं। क्योंकि जो भावश्रुतरहित केवल द्रव्यश्रुत का अवलम्बन लेने वाले हैं उनको इस **आराधनासार** की शोधना करने का अधिकार नहीं है। जो परम ब्रह्म की आराधना में तत्पर है वही इस **आराधनासार** की शोधना का अधिकारी है। अर्थात् जो स्वयं आराधना के सार का अनुभव कर रहा है, जिसने मानसिक परिणति में उसे उतारा है, उसका रसास्वादन किया है वही '**आराधनासार**' की शुद्धि कर सकते हैं॥११५॥

॥ इतिश्री देवसेनाचार्यविरचित - आराधनासारः॥

❊ टीकाकार की प्रशस्ति ❊

श्रुतसागर के पारगामी अश्वसेन नामक मुनिराज हुए थे। वे स्याद्वादरूपी विपुल आकाश में पूर्णचन्द्रमा के समान आचरण करते थे अर्थात् स्याद्वाद का प्रकाश करने के लिए चन्द्रमा के समान थे॥१॥

श्री माथुर संघ रूपी समुद्र के पूर्ण चन्द्रमा, मोहरूपी अन्धकार के प्रसार के नाशक, समीचीन अनन्त कीर्ति के धारक, ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जलाया है काम को जिन्होंने ऐसे तथा अश्वसेन आचार्य के पट्ट पर स्थित अनन्तकीर्ति नाम के आचार्य हुए थे॥२॥

लोकविश्रुत काष्ठा संघ में क्षेमकीर्ति नाम के तपस्वी हुए थे। ध्यान मात्र से उत्पन्न होने वाले महामोहरूपी दावानल के लिए जो जलसमूह थे, जिन्होंने काम को अपना दास बना लिया था, जिनके चरण-कमलों में बड़े-बड़े राजा लोग आकर नमस्कार करते थे, उनके विशाल, प्राप्त उदय (विख्यात) पट्ट

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदये दुर्जयं,
रागद्वेषमहांधकारपटलं संवित्करैर्दारयन्।
श्रीमान् राजति हेमकीर्तितरणिः स्फीतां विकाशश्रियं,
भव्यांभोजचये दिगंबरपथालंकारभूतो दधत्॥४॥

विदितसमयसारजोतिषः क्षेमकीर्ति- र्हिमकरसमकीर्तिः पुण्यमूर्तिर्विनेयः।
जिनपतिशुचिवाणीस्फारपीयूषवापी- स्नपनशमिततापो रत्नकीर्तिश्चकास्ति॥५॥
आदेशमासाद्य गुरोः परात्मप्रबोधनाय श्रुतपाठचंचु।
आराधनाया मुनिरत्नकीर्तिष्टीकामिमां स्पष्टतमां व्यधत्त॥६॥

इति प्रशस्तिः।

इति पंडिताचार्यश्रीरत्नकीर्तिदेवविरचिताराधनासारटीका समाप्ता।

रूपी पर्वतपर हेमकीर्त्ति नामक सूर्य का उदय हुआ था, जिनकी वृद्धिप्राप्त विकासश्री शोभित थी, जिन्होंने भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिए दिगम्बर मार्ग को स्वीकार कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी, जिन्होंने स्वकीय ज्ञानरूपी किरणों के द्वारा रागद्वेष रूपी महा अन्धकार पटल को विदारण किया था॥४॥

जानलिया है समयसार की ज्योति (ज्ञान) को जिन्होंने, चन्द्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल है कीर्त्ति जिनकी, पवित्र है शरीर जिनका, जिनेन्द्र भगवान के मुख से निर्गत वाणी रूपी विशाल अमृत की वापिका में स्नान करके शमन किया है मानसिक और शारीरिक ताप को (सन्तापको) जिन्होंने, ऐसे रत्नकीर्त्ति नाम के दिगम्बर मुनि हुए थे॥५॥

श्रुतपाठ में चतुर मुनि रत्नकीर्त्ति ने गुरु का आदेश प्राप्त कर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए और **आराधनासार** की स्पष्टता के लिए इस टीका की रचना की है॥६॥

इति पंडिताचार्य **श्री रत्नकीर्त्ति मुनिराज** के द्वारा विरचित **आराधनासार टीका** पूर्ण हुई।

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय १०८ **श्री आचार्य शांतिसागर महाराज** के प्रथम शिष्य **आचार्य श्री वीरसागर महाराज** की शिष्या **इन्दुमती आर्यिका** की प्रेरणा से वीरसागर महाराज के कर-कमलों से दीक्षित **सुपार्श्वमती आर्यिका** ने इसकी हिन्दी टीका कलकत्ता नगर के चातुर्मास में लिखी और वीर संवत् २५२१, वि. २०५२ में सावन मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन पूर्ण की।

❖ ❖ ❖

卐 गाथानुक्रमणिका 卐

गाथा	संख्या	पृष्ठ
अइ कुणउ तवं पालेउ	१११	२०६
अइतिव्ववेयणाए	४३	९३
अत्थि कसाया बलिया	३६	८०
अप्पसहावे णिरओ	१९	६०
अमरकओ उवसग्गो	५१	१३०
अमुणियतच्चेण इमं	११५	२११
अरिहो संगच्चाओ	२२	६४
आराहणमाराहं	११	५१
आराहणाइसारो	२	२३
आराहणाइ सारं	११३	२०९
आराहिऊण केई	१०८	२०३
आहारसण्णणिद्दा	२६	६७
इय भावणाइं जुत्तो	१०५	२००
इयएरिसम्मि सुण्णे	८६	१७३
इय एवं णाउणं	९०	१७९
इंदियगयं ण सुक्खं	५७	१४०
इंदियमयं सरीरं	३४	७८
इंदियमल्लाण जओ	२३	६४
इंदियमल्लेहिं जिया	५६	१३८
इंदियविसयवियारा	५५	१३७
इंदियवाहेहिं हया	५३	१३४
इंदियसेणा पसरइ	५८	१४१
उत्तमदेवमणुस्से	११०	२०५
उवसमवंतो जीवो	६५	१४८
उव्वसिए मणगेहे	८५	१७२
उव्वासहि णियचित्तं	७५	१५७
एवं गुणो हु अप्पा	८२	१६८
एएहिं अवरेहिं य	५२	१३२
कम्मकज्जणिमित्तं	१३	५३
कालमणंतं जीवो	८९	१७८
कोलाई लहिऊण	१०७	२०२
किसिए तणुसंघाए	९३	१८५
खिन्नाइ बाहिराणं	३०	७४
खीणे मणसंचारे	७३	१५५
गुरुदत्तपंडवेहिं	५०	११७
चइऊण सव्वसंगं	११२	२०७
छंडिय गिहत्थवारो	२४	६६
जत्थ ण झाणं झेयं	७८	१६२
जइ इच्छहि कम्मखयं	७४	१५६
जइ उप्पज्जइ दुक्खं	९४	१८६
जइ हुंति कहवि जइणो	४७	९८
जरवग्घिणी ण चंपइ	२५	६७
जइं जइं पीडा जायइ	२६	१८९
जहं जहं विसएसु रई	६६	१४९
जा उज्जमो ण घियत्तइ	२८	६८
जाणइ पस्सइ सव्वं	८८	१७६

गाथा	संख्या	पृष्ठ
जाम ण गंथं छंडइ	३२	७६
जाम ण सिद्धिलायंति	२७	६७
जाम वियप्पो कोई	८३	१६९
जाम ण हणइ कसाए	३७	८२
जाव ण तवग्गि तत्तं	१००	१९४
जीवो भमइ भमिस्सइ	१४	५४
जेसिं हुंति जहण्णा	१०९	२०४
जो खलु सुद्धो भावो	७९	१६४
जो णवि बुज्झइ अप्पा	२१	६३
जो रयणत्तयमइओ	२०	६१
ण गणेइ दुक्खसल्लं	९८	१९१
णट्ठे मणवावारे	६९	१५१
णय मे अत्थि कवित्तं	११४	२१०
ण य अत्थि कोवि वाही	१०२	१९७
णाणमयभावणाए	४८	९९
णाहं देहो ण मणो	१०१	१९५
णिच्चो सुक्ख सहावो	१०४	१९९
णिल्लूरह मणवच्छो	६८	१५०
णिहयकसाओ भव्वो	१७	५८
णीसेसकम्मणासे	८७	१७४
तणुमणवयणे सुण्णो	७६	१५९
तणुवयण रोहणेहिं	७२	१५४
तत्तियमओ हु अप्पा	८१	१६६
तत्तोहं तणुजोए	९७	१९०
तम्हा णाणीहिं सया	३८	८२
तम्हा दंसण णाणं	१०	४९
तं सुगहियसण्णासे	९५	१८७
तेरह विहस्स चरणं	६	४०
तेसिं मरणे मुक्खो	६१	१४३
दंसणणाणचारित्ता	८०	१६५
दुक्खाइं अणेयाइं	४२	९१
देहो वाहिरगंथो	३३	७७
धण्णा ते भयवंता	९१	१८०
धण्णोसि तुमं सुज्जस	९२	१८४
पज्जयणयेण भणिया	१२	५२
परिसहदवग्गितत्तो	४६	९७
परिसहपरचक्कभिओ	४५	९५
परिसहभडाण भीया	४४	९४
परिसहसुहडेहिं जिया	४१	९०
परिहरिय रायदोसे	७१	१५३
पिच्छह णरयं पत्तो	६३	१४७
बारहविहतवयरणे	७	४४
भावाणं सद्दहणं	४	२६
भित्तूण रायदोसे	९९	१९३
भेयगया जा उत्ता	१६	५७
मणकरहो धावंतो	६२	१४५
मणणरवइणो मरणे	६०	१४३
मणणरवइ सुहुभुंजइ	५९	१४२

गाथा	संख्या	पृष्ठ
मणमित्ते वावारे	७०	१५२
लवणव्व सलिलजोए	८४	१७०
ववहारेण य सारो	३	२४
विमलयरगुणसमिद्धं	१	७
विसयालंबणरहिओ	६७	१५०
सद्दहइ सस्सहावं	९	४८
सल्लेहणा सरीरे	३५	७९
सल्लेहिया कसाया	३९	८३
सव्वं चायं काऊ	५४	१३५
संगच्चाएण फुडं	३१	७५
संसारकारणाइं	१५	५६

गाथा	संख्या	पृष्ठ
संसारसुहविरत्तो	१८	५९
सिक्खह मणवसिंधरणं	६४	१४८
सिवभूइणा विसहिओ	४९	१००
सीयाई वावीसं	४०	८४
सुक्खमओ अहमेक्को	१०३	१९८
सुणइज्झाण पइट्ठो	७७	१६१
सुत्तत्थभावणा वा	५	३८
सुद्धणये चउखंधं	८	४७
सो सण्णासे उत्तो	२९	७३
हणिऊण अट्टरुद्दे	१०६	२०१

卐 आराधनासार की संस्कृत टीका में उद्धृत तथा प्रशस्ति सम्बन्धी गाथाओं और श्लोकों की अनुक्रमणिका 卐

श्लोक	पृष्ठ
अ.	
अक्षरस्यापि चैकस्य	१०९
अखण्डितमनाकुलं	१६३
अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति	१८८
अद्वैतापि हि चेतना अगति चेत्	१६६
अनेकान्तात्मार्थप्रसव	१४६
अपरीक्षितं न कर्तव्यं	११४
अभ्यस्यन् स ततो योगं	१०२
अलमलमतिजल्पैः	९६
अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि	१३९
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं	१५४
अविशेषतया सर्वं	१०२
अश्वसेन मुनिशोऽभूत्	२१२
असुरोदीरितदुक्खं	१९०
अस्ति यद्यपि सर्वत्र	१६
अस्पृष्टमबद्धमनन्य	१६०
आ.	
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	१६४
आत्मनि निश्चयबोध	१६५
आत्मस्वभावं परभावभिन्न	१७०
आत्मानं आत्मसंभूतं	५०
आदेशमासाद्य गुरोः परात्म	२१३
आराध्यश्चित्स्वरूपो	५१
आलोच्य सर्वमनः	१८१
आस्तां बहिरुपधि च यम्	१५९

श्लोक	पृष्ठ
आहारं परिहाप्य क्रमशः	१८३
इ.	
इति वैराग्यरङ्गेण	१०२
इत्यालोच्य विवेच्य	१९२
उ.	
उदयन्ति न नयश्री-	१७१
उपास्यात्मानमेवात्मा	१७२
ए.	
एकस्यापि ममत्वमात्म	१८७
एको मे शाश्वतश्चात्मा	७७
एवं दावानलेनोच्चै-	१०२
क.	
कथमपि समुपात्तत्रित्व	१६५
कर्मणो यथा स्वरूपं	१५९
कर्मभिन्नमनिशं	१८६
कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतो	१८९
कारणद्वयसाध्यं न	५४
कालास्त्रयोऽप्यतीताद्या	५५
काले विणए उवहाणे	३९
काष्ठासंघे भुवनविदिते	२१२
किं तेन जातु जातेन	११३
कृतकारितानुमननै-	१८२

श्लोक	पृष्ठ
क्षणप्रध्वंसिनो दुष्ट	१०१
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं	२०८
ख.	
खरपानहापनार्थमपि	१८३
ग.	
गुणानगृह्णान् सुजनो न निर्वृतिं	१०९
गुरूणां चरणद्वन्द्वं	४
गुरोः प्रसादाद्धि सदा सुखेन	१०७
च.	
चम्पापुर्यामभूद्भूपो	१०१
चरणयुगं आहुयुगं	७१
चित्तमत्तकरिणा नचेद्धतो	१७४
चिन्ताव्याकुलताभयारति	१२२
ज.	
जङ्घाया मध्यभागेषु	७७
जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं	१६९
जानासि त्वं मम भवभवे	१९१
जायन्ते विरसा रसा विघटते	१६१
जासु ण वण्णु ण गंधु रसु	२१
जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रं	४
जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं	४६
ज्ञानदर्शनचारित्र	२५
ण.	
णवि तं कुणइ अमित्तो	४९
त.	
तत्पद्मोदयभूधरेऽतिमहति	२१३
तदात्वोद्भूतधात्र्याभिः	१०१
तदा ज्वलन्मिथोवंश	१०२
तदेकं परमं ज्ञानं	१६४
तपः सर्वाक्ष सारंग	१९५
तपोभिस्ताडिता एव	१९५
तमेव परमात्मानं	५०
तं चि तवो कायव्वो	४६
तस्थौ तरोस्तले यस्य	१०२
तृणं वा रत्नं वा	१८७
तेनापि पुण्येन कृतं कृतं यत्	६२
थ.	
थक्के मणसंकप्पे	१९४
द.	
दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यं	१४३
दुग्धोधौ परमौ तदावृति	१७५
द्वेधासंयमवर्जितं	४३
दुखं वर्धत एव	११७
ध.	
धिग् धिग् भवमिमं	१०१

श्लोक	पृष्ठ
न.	
न कवित्वाभिमानेन	२१०
न तदरिरिभराज:	१३९
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु	१७३
नमस्यं च तदेवैकं	१६४
न मे मृत्यु: कुतो भीति:	१९४
न विकल्परहितं चिदात्मकं	१९६
नाममात्रकथया परात्मनो	१९३
निकाचितानि कर्माणि	४६
नूनमत्र परमात्मनि स्थितं	१७१
नो शून्यो न जडो न भूत-	२००
प.	
पठतु सकलशास्त्रं	१३६
पदमिदं ननु कर्म दुरासदं	२०७
परद्रव्येषु सर्वेषु	५०
परीषहाद्यविज्ञाना-	१९९
पृष्ठे यत्र कृतीभूत	७०
प्रत्याख्याय भविष्यत्	१८२
प्रायो मूर्खस्य कोपाय	१०४
भ.	
भवणालय चालीसा	९
भवति ह्यपि	१०४
भावयन् स परं ब्रह्म?	१०३
भावशुद्धिमबिभ्राणा	४२
भेदविज्ञानत: सिद्धा	६३

श्लोक	पृष्ठ
म.	
मनसश्चेन्द्रियाणां च	४३
महाव्रतानि पञ्चैव	४२
मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ	६२
मा जीवन्य: परावज्ञा	१०५
मिच्छत्तवेयराया	७४
मिथ्यात्ववेदरागा	२०८
मीना मृत्युं प्रयाता	१३८
मृत्युर्गोचरमागते निजजने	११६
मोहविलासविजृम्भित	१८२
मोहाद्यदहमकार्षं	१८२
य.	
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	१६३
य: परात्मा स एवाहं	१९८
यद्दूरं यद्दुराराध्यं	१११
यदि विषयपिशाची	१५८
यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं	७३
येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना	३७
येषां कर्मनिदानजन्मविविध	१७९
वैर्दु:खानि समाप्नुवन्ति	१७५
योग्योपादानयोगेन	२०३
यो न वेत्ति परं देहे	२०७
र.	
रागद्वेषादिकल्लोलै-	१५४
रागाद्वा द्वेषाद्वा	२५
राज्यं च संपदो भोगा:	१११

श्लोक	पृष्ठ
रागद्वेषादिहया	१९३
रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽञ्जसा	१९७
रोहणं सूक्तिरत्नानां	१०८
ल.	
लिंगं देहाश्रितं दृष्टं	२०८
लोक एष बहुभावभावित:	११५
लब्ध्वा जन्म कुले	१८४
व.	
ववहारेणुवदिस्सइ	१६७
वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं	७०
विगलन्तु कर्मविषतरु	१८३
विदितसमयसार	२१३
विद्यन्ते कति नात्मबोधविमुखा:	१८१
विद्वज्जनानां खलु मण्डलीषु	१०५
विरज्य कामभोगेषु	११३
विशुद्धे स्वस्वभावे यच्छू	५०
विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते	१७७
विषयविरति: संगत्याग:	११६
वृद्धौ च मातापितरौ	११४
श.	
शरीरत: कर्तुमनन्तशक्तिं	२०१
शास्त्राम्भो मणिवद्भव्यो	१०८
शुचि: प्रसन्नो गुरुदेवभक्त:	१६२
शोकं भयमवसादं	१८३
श्रीमाथुरान्वयमहोदधि	२१२
ष.	
षोढाभ्यन्तरषड्विधोत्तर	४७
स.	
सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया	२११
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	१८२
सम्यक्सुखबोधदृशां	१६७
सम्यग्दृष्ट्य एव साहसमिदं	१०२
सयणासणघरचित्तं	७४
सर्वभावविलये विभाति यत्	१५७
संयम्य करणग्राम	२०९
संहृतेषु स्वमनोगजेषु यद्	१७३
सिद्धानाराधनासार	१
सिद्धान्ते जिनभाषिते	३९
सुखमायाति दु:खमक्षजं	१४०
सोऽहमित्यात्तसंस्कार	२०२
सौधोत्सङ्गे श्मशाने	९९
स्तब्धस्य नश्यति यशो	१०६
स्थावराणां त्रसानां च	४३
स्नेहं वैरं संघं	१८१
स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था	१३६
स्याज्जङ्घयोरधोभागे	७०
स्वसंवेदनसुव्यक्त	१९६
स्वाधीनेऽपि कलत्रे	१२२
ह.	
हृषीकजमनातंकं	२०५

❋ ❋ ❋